

श्रीमद्-अमितगति-विरचित योगसार-प्राभृत

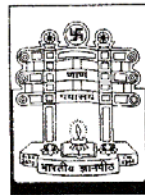


सम्पादक एवं भाष्यकार
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक ३३

श्रीमद्-अमितगति-विरचित योगसार-प्राभृत

सम्पादक एवं भाष्यकार
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'



भारतीय ज्ञानपीठ

तीसरा संस्करण : 2003 □ मूल्य : 100 रुपये

Thanks & Our Request

This shastra has been donated in by Anonymous donors in California and Illonis, USA who have paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

- 1) Great care has been taken to ensure this electronic version of [Yogsaar Prabrut \(Hindi\) - translated by Yugal Kishoreji](#) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.
- 2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	10 June 2011	First electronic version

ISBN 81-263-0831-1

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रधान सम्पादक (प्रथम संस्करण)

डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ए.एन. उपाध्ये

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : बी. के. ऑफसेट, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

त्वदीयं वस्तु भो योगिन्, तुभ्यमेव समर्पितम्

हे निःसंग-योगिराज आचार्यवर श्री अमितगति! आपका यह महान् उपकारी ग्रन्थरत्न 'योगसार-प्राभृत' आज से कोई छह वर्ष पहले उस समय मेरे विशेष परिचय में आया जब कि मैं आचार्यश्री रामसेन के तत्त्वानुशासन (ध्यानशास्त्र) पर भाष्य लिख रहा था। इसके गुणों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया, जिससे बार-बार पढ़ने की प्रेरणा मिली। इसके साथ हिन्दी का जो पूर्वानुवाद प्राप्त हुआ वह अनेक दृष्टियों से मुझे ग्रन्थ-गौरव के अनुरूप नहीं जँचा और इसलिए हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि इस पर भी तत्त्वानुशासन की तरह भाष्य लिखा जाना चाहिए, जो कि भाषा की सरलता एवं अर्थगम्भीरता आदि की दृष्टि से तत्त्वानुशासन के समकक्ष हो और विषय की दृष्टि से दोनों एक दूसरे के पूरक हों। तदनुसार ही यह भाष्य रचा गया है। इसमें चूँकि आपके ही विचारों का प्रतिबिम्ब एवं कीर्तन है अतः यह वास्तव में आपकी ही वस्तु है और इसलिए आपको ही सादर समर्पित है।

वि.सं. १९६८

विनीत,
जुगलकिशोर

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात् संजायते यतः ।
स योगो योगिभिर्गीतो योग-निर्धूत-पातकैः ॥

—अमितगति योगिराज

प्रधान सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण, १९६८, अँग्रेजी का भावानुवाद)

पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा हिन्दी अनुवाद और व्याख्या सहित सम्पादित तथा मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला क्र. ३३ के रूप में प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम *योगसार-प्राभृत* है। इसमें तीन शब्द हैं। *योग* के संस्कृत में उसके सन्दर्भानुसार अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ पर *योग* का अर्थ उस शुद्ध मानसिक अवस्था से है जो राग, द्वेष व समस्त विकल्पों से रहित है तथा जो जैनधर्मोक्त तत्त्वों पर एकाग्र है (*नियमसार* १३७-९)। इसके अन्तर्गत धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान, इन दो ध्यानों का समावेश हो जाता है। यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ के एक श्लोक (९, १०) में भली-भाँति व्यक्त की गयी है। दूसरे शब्द *सार* का अर्थ है किसी बात का वह मौलिक तत्त्व जिसमें बाह्य विचारों का अभाव है। अन्तिम शब्द *प्राभृत* (प्राकृत में *पाहुड*) के भी अनेक अर्थ होते हैं। इनमें से बहुप्रचलित अर्थ है प्रकरण, अर्थात् ऐसी संक्षिप्त और सुव्यवस्थित रचना जिसमें किसी एक विषय का व्याख्यान किया गया हो। दूसरा अर्थ है एक ऐसा समुचित साहित्यिक उपहार, जो परमात्मा की उपासना करनेवाले ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत किया गया हो; अथवा ऐसा कोई अन्य सार-गर्भित व्याख्यान जो तीर्थंकर अथवा आचार्यों द्वारा दिया गया हो। इस प्रकार यह शब्द उस रचना को प्राचीनता एवं पवित्रता से व्याप्त कर देता है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के शीर्षक का समग्र रूप से अर्थ हुआ एक ऐसा पवित्र ग्रन्थ जो योग व ध्यान के मूल स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए लिखा गया हो। प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषय इस बात को स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि ग्रन्थ का यह नाम कितना सार्थक है। जैन साहित्य में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनके नामों के अन्त में 'सार' या 'प्राभृत' शब्द पाये जाते हैं। किन्तु प्रस्तुत रचना के नाम में ये दोनों ही शब्द रखे गये हैं, जिससे ग्रन्थ के महत्त्व एवं वैशिष्ट्य का पता चलता है।

आचार्य अमितगति तथा उनकी रचनाओं ने जैन समाज से बाहर के भी प्राच्यविद्याविदों का ध्यान सुदीर्घ काल से आकर्षित किया है। उनकी रचनाओं की जो प्राचीन प्रतियाँ इस देश तथा यूरोप में उपलब्ध हैं उनकी सूचना अनेक बार वेबर, पीटरसन, भण्डारकर, ल्यूमन, आफ्रेट जैसे भारतीय व यूरोपीय विद्वानों द्वारा सम्पादित ग्रन्थ-सूचियों में सन् १८८६ से लेकर १९०३ तक प्रकाशित की जा चुकी है। इधर डॉ. बेलनकर का *जिनरत्नकोष* भण्डारकर शोध संस्थान, पूना, से प्रकाशित हुआ है। उसके भी पश्चात् राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की अनेक सूचियाँ प्रकाशित हुई हैं और उनमें भी अमितगति की कुछ रचनाओं के नाम निर्देश पाये जाते हैं।

अमितगति द्वारा विरचित मानी जानेवाली रचनाओं में से अधिकांश मुद्रित हो चुकी हैं और उनमें-से कुछ का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। *सुभाषितरत्नसन्दोह* का काव्यमाला क्र. ८२ (बम्बई, १९०३) में प्रकाशन हुआ था। और उसकी प्रस्तावना में भवदत्त शास्त्री का, ग्रन्थकार एवं उनके रचनाकाल के सम्बन्ध में, एक लेख भी था। इसका अध्ययन कर जे. हर्टेल नामक जर्मन विद्वान् ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में यह बात प्रकट की कि इस ग्रन्थ का (जो संवत् १०५० में रचा गया था) संवत् १२१६ में हेमचन्द्र द्वारा रचित *योगसार* पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसके पश्चात् जर्मन विद्वान् स्मिट् और हर्टेल द्वारा आलोचनात्मक रीति से सम्पादित एवं जर्मन भाषा में अनुवाद सहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी कराया गया। इस संस्करण की प्रस्तावना में ग्रन्थकार अमितगति, ग्रन्थ के शब्द-चयन एवं व्याकरण सम्बन्धी विशेषता तथा उपयोग में लाये गये प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण पाया जाता है (लीपज़िग, १९०५-१९०७)। ल्यूमन ने इस संस्करण के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। इस समस्त सामग्री के आधार पर इस ग्रन्थ का संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, में प्रकाशनार्थ तैयार हो रहा है। इसका एक संस्करण श्रीलालजी के हिन्दी अनुवाद सहित हरिभाई देवकरण ग्रन्थमाला, क्रमांक ३ (कलकत्ता, १९१७-१९३९), में प्रकाशित हुआ है।

अमितगति कृत *धर्मपरीक्षा* का विश्लेषणात्मक अध्ययन एन. मिरोनो द्वारा किया गया है (लीपज़िग,

१६०३)। इसका मूलपाठ श्री पन्नालाल बाकलीवाल के हिन्दी अनुवाद सहित भारतीय सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था (कलकत्ता, प्र.सं. १६०८, द्वि. सं. १६२२) द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसके पश्चात् कुछ अन्य संस्करण भी किसी-न-किसी अनुवाद सहित इधर-उधर से प्रकाशित हुए हैं। *धर्मपरीक्षा* साहित्य के विकास का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए डॉ. उपाध्ये द्वारा सम्पादित *धूर्ताख्यान* की प्रस्तावना द्रष्टव्य है (सिंधी जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १६४४)। इसमें इस ग्रन्थ के विषय सम्बन्धी अनेक सम्बद्ध स्रोतों का उल्लेख किया गया है। जहाँ तक ज्ञात हो सका है इस विषय का मूलाधार *निशीथचूर्णि* में पाया जाता है (डॉ. उपाध्ये का आचार्य *विजयवल्लभसूरि स्मृतिग्रन्थ* के पृष्ठ १४३ आदि में प्रकाशित लेख, बम्बई, १६५६)। यहाँ जो एक कथात्मक उदाहरण आया है उसी में हरिभद्र ने धार्मिक बीजों का आरोपण कर उसे एक प्रभावशाली व्यंग्य के रूप में संवर्धित किया है। तत्पश्चात् इस व्यंग्यात्मक रचना ने जयराम (प्राकृत), हरिषेण (अपभ्रंश) तथा अमितगति (संस्कृत) जैसे ग्रन्थकारों के हाथों एक विधेयात्मक धार्मिक प्रचार का रूप धारण कर लिया। अमितगति कृत रचना को ही कुछ-कुछ परिवर्तित रूप में पद्मसागरगणी ने और वृत्तविलास ने तथा अन्य ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी संस्कृत व कन्नड़ आदि भाषाओं की रचनाओं में स्वीकार किया है।

अमितगति कृत *पंचसंग्रह* का पण्डित दरबारीलाल द्वारा सम्पादित संस्करण माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला (क्र. २५, बम्बई, १६२७) में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ का एक अन्य संस्करण बंशीधर शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद सहित धाराशिव (उस्मानाबाद, महाराष्ट्र, १६३१) से प्रकाशित हुआ है। इसी नाम के अन्य ग्रन्थों का विवरण पण्डित हीरालाल शास्त्री द्वारा सम्पादित *पंचसंग्रह* की प्रस्तावना में देखा जा सकता है (मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, क्र. १०, वाराणसी, १६६०)।

उपासकाचार, जिसका सुप्रचलित नाम *अमितगति-श्रावकाचार* भी है, का संस्कृत पाठ भागचन्द्र कृत वचनिका सहित मुनिश्री अनन्तकीर्ति दि. जैन ग्रन्थमाला (क्र. २, बम्बई, १६२२) में प्रकाशित हुआ था। इसी का एक अन्य संस्करण हाल ही ब्रह्म. शीतलप्रसाद स्मारक ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है (क्र. १०, सूरत)।

अमितगति कृत *आराधना शिवार्यकृत भगवती आराधना* अर्थात् *मूलाराधना* में शोलापुर से (सन् १६३५ में) प्रकाशित हुई है।

अमितगति कृत *द्वात्रिंशिका*, जिसका प्रचलित नाम *सामायिक-पाठ* भी है, मा. चं. दि. जै. ग्रन्थमाला (क्र. १३, बम्बई, १६२८, पृष्ठ १३२-३७) में प्रकाशित है। यह बड़ी लोकप्रिय रचना है जो किसी-न-किसी अनुवाद सहित अनेक बार प्रकाशित हुई है। *तत्त्वभावना*, जिसका नाम *सामायिक पाठ* भी है, मा. चं. दि. जै. ग्रन्थमाला (क्र. २१, बम्बई, १६२२, पृ. १७०-६१) में प्रकाशित है। यह ग्रन्थ अपने में कितना पूर्ण था इसका निर्णय तभी हो सकता है जब इस रचना की कुछ और प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्रकाश में आएँ।

अमितगति कृत *योगसारप्राभृत* गजाधरलाल जी कृत हिन्दी अनुवाद सहित पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा प्रकाशित हुआ था (कलकत्ता, १६१८) और अब इसी का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार की व्याख्या सहित प्रस्तुत रूप में प्रकाशित हो रहा है।

जिन विद्वानों ने इससे पूर्व अमितगति की रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है उन्होंने ग्रन्थकार के जीवन-चरित्र तथा उनकी रचनाओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इस विषय पर जिन स्रोतों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनके अतिरिक्त कुछ और इस प्रकार हैं: पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित *विद्वद् रत्नमाला*, (पृ. ११५-४०, बम्बई, १६१२) तथा उन्हीं का *जैन साहित्य और इतिहास* (बम्बई, प्र. सं. १६४२, द्वि. सं. १६५६, पृ. २७४ आदि), विंटेर्निल का *भारतीय साहित्य का इतिहास*, भाग २ (कलकत्ता, १६३३, पृ. ५६१-६७), आ. ने. उपाध्ये द्वारा सम्पादित *परमात्मप्रकाश* (प्रस्तावना पृ. ७१, द्वि. सं., अगास, १६६०)।

सुभाषितरत्नसन्दोह (सं. १०४०, ई. ६६४), *धर्मपरीक्षा* (सं. १०७०, ई. १०१४), *पंचसंग्रह* (सं. १०७३, ई. १०१७), *श्रावकाचार* तथा *आराधना* में ग्रन्थकार विषयक बहुत-सी जानकारी उपलब्ध है। उनकी अन्य कृतियों में अमितगति का नाम-निर्देश मात्र पाया जाता है। अपने समकालीन राजाओं में से अमितगति ने *सुभाषितरत्नसन्दोह* में मुंज (६७४-६५ ई.) तथा सिन्धुपति (सिन्धुराज के दो तिथ्यंकित शिलालेखों से प्रमाणित, १०१६, १०२१ ई.) का उल्लेख किया है। ये दोनों मालवा पर राज्य करनेवाले परमार वंश के सुविख्यात राजा हैं। अमितगति जिस माथुर संघ के आचार्य थे उसकी उपर्युक्त आधारों पर निम्न प्रकार वंशावली तैयार की

जा सकती है : वीरसेन, देवसेन, अमितगति (प्र.), नेमिसेन, माधवसेन और अमितगति (द्वि.)। *धर्मपरीक्षा* में उल्लिखित वंशावली वीरसेन से प्रारम्भ होती है, *सुभाषितरत्नसन्दोह* और *आराधना* में देवसेन से तथा *पंचसंग्रह* में माधवसेन से। यह वंशावली अमरकीर्ति रचित *छक्कम्मोवएस* (*षट्कर्मोपदेश*) नामक अपभ्रंश रचना (सं. १२४७, ११६० ई.) में पाँच पीढ़ी आगे बढ़ी हुई पायी जाती है, जो इस प्रकार है : अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और अमरकीर्ति (हीरालाल जैन, 'अमरकीर्ति गणि और उनका षट्कर्मोपदेश', *जैन सिद्धान्त भास्कर*, भाग-२, किरण ३, पृ. ८१ आदि, आरा, १६३५ तथा ना. प्रेमी जैन *साहित्य और इतिहास*, द्वि. सं. पृ. २७८, बम्बई, १९५६)।

अन्य ग्रन्थों में *द्वात्रिंशिका*, *तत्त्व-भावना* एवं *योगसार-प्राभृत* में अमितगति का केवल नाम-मात्र उल्लिखित है। स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये रचनाएँ अमितगति प्र. द्वारा रचित हैं अथवा अमित- गति द्वि. द्वारा। जहाँ तक *यो.सा.प्रा.* का सम्बन्ध है इसमें अमितगति द्वि. की रचनाओं में दी गयी वंशावली नहीं पायी जाती। दूसरे *यो.सा.प्रा.* के कर्ता ने अपने लिए 'निःसंगात्मा' का विशेषण लगाया है और अन्ततः अमितगति द्वि. ने अपने पूर्ववर्ती अमितगति प्र. को 'त्यक्तनिःशेषसंग' (सु.र.सं. ३२, ३७ या ६१५) पद से विभूषित किया है।

इन संकेतों के प्रकाश में यह अनुमान करना उपयुक्त है कि *यो.सा.प्रा.* के कर्ता अमितगति प्र. ही हैं जिनके अन्य महान् गुणों की प्रचुरता से अमितगति द्वि. ने स्तुति की है। (सु.र.सं. ६१६, ध.प. (प्रशस्ति ३ तथा प्रशस्ति १५)।

अमितगति प्र. ने *यो.सा.प्रा.* की समाप्ति के काल का निर्देश नहीं किया है। अमितगति द्वि. ने अपने सु.र.सं. को संवत् १०५० में जब राजा मुंज सिंहासनारूढ थे, ध.प. को सं. १०७० में, तथा पं.सं. को सं. १०७३ में पूर्ण किया था। क्योंकि अमितगति प्र. उनसे दो पीढ़ी पूर्व हुए थे अतः उन्हें वि.सं. की ११वीं शती के प्रारम्भ में अर्थात् १०वीं शती ई. के मध्य में रखा जा सकता है।

पं. जुगलकिशोर जी ने *यो.सा.प्रा.* का संस्करण निम्नलिखित सामग्री के आधार से प्रस्तुत किया है: (१) मुद्रित प्रति (प्रका. पन्नालाल बाकलीवाल, कलकत्ता १९१८)। (२) महावीर भवन जयपुर के आमेर भंडार के क्रमांक ८३६ व ८३७ की हस्तलिखित प्रतियाँ; इनमें-से अन्तिम प्रति अपूर्ण है और उसमें सं. १५८६ का उल्लेख है। दोनों प्रतियों के हाशियों पर कुछ टिप्पण हैं। (३) ब्यावर की एक हस्तलिखित प्रति। विद्वान् सम्पादक ने इन हस्तलिखित प्रतियों का आवश्यक विवरण दिया है तथा उनमें उल्लिखित कुछ विशेष बातों का विवेचन किया है। इनमें एक विषय यह भी है कि क्या प्रस्तुत ग्रन्थ पर *तत्त्वदीपिका* नाम की कोई टीका भी थी, इत्यादि।

यो.सा.प्रा. नौ अधिकारों में विभाजित है, जिनके विषय इस प्रकार हैं : १. जीव (५६ पद्य), २. अजीव (५० पद्य), ३. आस्रव (४० पद्य), ४. बन्ध (४१ पद्य), ५. संवर (६२ पद्य), ६. निर्जरा (५० पद्य), ७. मोक्ष (५४ पद्य), ८. चारित्र (१०० पद्य) एवं ९. चूलिका (८४ पद्य)।

यो.सा.प्रा. की रचना पद्यों में हुई है जिनकी कुल संख्या ५४० है। इनमें-से ५२४ पद्य अनुष्टुप् या श्लोक छन्द में हैं और स्पष्टतः यही इस रचना का प्रमुख छन्द है। शेष १६ पद्यों के छन्द निम्न प्रकार हैं : मालिनी (१.५६), उपजाति (२.५०), शार्दूलविक्रीडित (३.४०, ६.८२), हरिणी (४.४१), स्वागता (५.६२), मन्दाक्रान्ता (६. ४६-५०; ६.८३), पृथ्वी (७.५४), वंशस्थ (८.६६), शालिनी (६.८०), स्रग्धरा (८.१००, ६.८१) तथा रथोद्धता (२.४६, ६.८४)। प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपेक्षाकृत कुछ लम्बे वृत्त का प्रयोग करना महाकाव्यों की सामान्य स्वीकृत सरणि रही है और प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता ने भी अपने अधिकारों में उसी का अनुसरण किया है।

अधिकारों के शीर्षकों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्म के मूल तत्त्वों का आत्मानुभव के एक उच्चतर स्तर से व्याख्यान किया गया है। प्रथम अधिकार में जीव-तत्त्व के पूर्ण विशद व्याख्यान के साथ ही दर्शन और ज्ञान के स्वरूप तथा ज्ञान के प्रकारों एवं ज्ञान के ज्ञेय के साथ सम्बन्ध का विवेचन हुआ है। योगी का ध्येय विविक्तात्मा का अनुभव करना है। द्वितीय अधिकार में पाँच अजीव द्रव्यों, उनकी सत्ता तथा उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य और उनके आनुषंगिक गुणों व पर्यायों का व्याख्यान है। इनमें प्रत्येक विषय का पूर्णतः स्पष्टीकरण किया गया है तथा अधिकार के अन्त में कर्म-पुद्गल, उसके स्वरूप एवं उसके आत्मा के साथ सम्बन्ध का विवेचन है। तृतीय अधिकार में आस्रव के कारणों और विविध परिणामों को आलोचनात्मक

रीति से समझाया गया है। चतुर्थ अधिकार में बन्ध एवं उसके नाना प्रकारों का वर्णन है तथा यह भी समझाया गया है कि कर्मों के पुण्य और पाप रूप बन्धनों से किस प्रकार बचा जा सकता है। पाँचवें अधिकार में संवर तत्त्व के भाव और द्रव्य दोनों रूपों का व्याख्यान है। विषय का वर्णन अत्यन्त उपदेशात्मक है और वह बतलाता है कि सामायिक आदि व्रत आत्मानुभव की साधना में किस प्रकार महाहितकारी सिद्ध होते हैं। छठे अधिकार में द्रव्य-भाव दोनों प्रकार की निर्जरा पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ उत्कृष्ट शैली में समुचित उदाहरणों तथा व्यावहारिक सूचनाओं द्वारा समझाया गया है कि योगी के लिए कर्मों की निर्जरा किस प्रकार सम्भव है। सातवें अधिकार में मोक्ष का स्वरूप बतलाया गया है, यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार ज्ञानी पुरुष आध्यात्मिक ध्यान द्वारा मुक्ति का अनुभवन कर सकता है। आठवें अधिकार में चारित्र्य अर्थात् जैन मुनि की बाह्य और आभ्यन्तर जीवन-चर्या का वर्णन है। यह विषय हेय और उपादेय का स्पष्टीकरण करते हुए पूर्ण विस्तार से समझाया गया है। नवें अधिकार में स्वानुभव के विविध रूपों का अत्यन्त प्रेरणात्मक रीति से विवेचन है। सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में ग्रन्थ का प्रामाणिक सार हिन्दी में प्रस्तुत किया है।

कुछ ऐसे अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनका शीर्षक *यो.सा.प्रा.* से मिलता-जुलता है (देखिए *जि.र.को.*, पृ. ३२४ आदि)। उदाहरणार्थ (१) योगिचन्द्र कृत *योगसार* (अपभ्रंश; मा. दि. जै. ग्रं., क्र. २१, बम्बई, १९२२) तथा *परमात्मप्रकाश* के पूर्वोक्त संस्करण का परिशिष्ट। (२) *योगसारसंग्रह* (संस्कृत; गुरुदास कृत; मा.दि.जै.ग्र., ४६, वाराणसी, १९६७)। (३) *योगप्रदीप*, अज्ञातकर्तृक (जै.सा.वि.मं., बम्बई, १९६०)। किन्तु ये सब अपेक्षाकृत छोटी रचनाएँ हैं। इनमें न तो *यो.सा.प्रा.* के समान विस्तार (५४० पद्य) पाया जाता है और न उतनी उत्कृष्ट रीति से वर्णित विषयों की समृद्धता और विविधता।

यो.सा.प्रा. का स्वरूप, प्रतिपादन शैली तथा विषय कुन्दकुन्द की रचनाओं, विशेषतः *समयसार*, *प्रवचनसार*, *पंचास्तिकाय* और *नियमसार* से घनिष्ठ साम्य रखते हैं। पण्डित जुगलकिशोरजी ने *यो.सा.प्रा.* के विषयों के स्पष्टीकरण हेतु जो उद्धरण दिये हैं, उनसे इस बात की पूर्णतः पुष्टि होती है। अमितगति उस परम्परागत श्रुतज्ञान और विचारों से पूर्णतः सुपरिचित हैं जिनका प्रतिपादन कुन्दकुन्द, पूज्यपाद आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा किया गया है। उनका संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार है और उनकी ध्यान सम्बन्धी परिस्फूर्तियाँ प्रेरणादायक हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि आध्यात्मिक अभिरुचि रखनेवाले श्रद्धालु पाठकों के लिए यह रचना विशेष आकर्षक है।

यो.सा.प्रा. का यह संस्करण न केवल उसके अत्यन्त धार्मिक विषय के कारण महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इस कारण भी है कि इस ग्रन्थ का हिन्दी में प्रामाणिक व्याख्यान पं. जुगलकिशोर जी जैसे अनुभवी और उत्कृष्ट विचारशील विद्वान् द्वारा किया गया है। जैन धर्म विषयक अध्ययन के क्षेत्र में पं. जुगलकिशोर जी का परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपने जीवन के नव्वे वर्ष पार कर चुके हैं तथा जैन साहित्य, जैन धर्म व जैन सामाजिक समस्याओं विषयक उनकी देन बहुत समृद्ध एवं अर्ध शताब्दी से भी बड़े कालखण्ड में व्याप्त है। उन्होंने *यो.सा.प्रा.* की व्याख्या सहित अपनी हाल ही की रचनाओं में जैन धर्म के गम्भीर एवं प्रौढ़ ज्ञान का मर्म हम लोगों को प्रदान किया है। अमितगति ने *यो.सा.प्रा.* में विषयों का जैसा प्रतिपादन किया है उसी की जोड़ का यथोचित एवं सरल हिन्दी व्याख्यान पं. जुगलकिशोर जी द्वारा किया गया है। उन्होंने इस ग्रन्थ को मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ को सौंपा अतः प्रधान-सम्पादक उनके विशेष आभारी हैं।

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला ने देश और विदेश के प्राच्य विद्वानों की प्रशंसा अर्जित की है तथा भारतीय-विद्या सम्बन्धी प्रकाशनों में एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। ज्ञानपीठ के संस्थापक-संरक्षक श्री साहू शान्ति प्रसादजी तथा उनकी विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती रमादेवीजी के प्रति उनके भारतीय ज्ञान के क्षेत्र में उदारता एवं प्रगतिशील नीति के लिए ग्रन्थमाला के सम्पादक अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इन ग्रन्थों के प्रकाशन में लगातार प्रयत्नशील श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एवं इनके मुद्रण-प्रकाशन में मुद्रण-स्थान पर ही रहकर सर्वाधिक प्रयासशील डॉ. गोकुलचन्द्र जैन भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

हीरालाल जैन
आ.ने. उपाध्ये

संकेताक्षर-सूची

अ.	=	अध्याय, अधिकार
आ.	=	आमेर-प्रति (महावीर भवन, जयपुर स्थित)
आ.द्वि.	=	आमेर-द्वितीय प्रति (महावीर भवन, जयपुर स्थित)
गा.	=	गाथा
गो.क.	=	गोम्मटसार-कर्मकाण्ड
गो.जी.	=	गोम्मटसार-जीवकाण्ड
चा.अ.	=	चारित्र अधिकार
त.सूत्र	=	तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र)
तत्त्वानु.	=	तत्त्वानुशासन
द्रव्यसं.	=	द्रव्यसंग्रह
पंचा., पंचास्ति.	=	पंचास्तिकाय
पु.सि.	}	= पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
पुरु.सिद्ध्यु.		
प्रवचन.	=	प्रवचनसार
मु.	=	मुद्रित प्रति
यो.प्रा.	}	= योगसार-प्राभृत
योग.प्रा.		
योगसार प्रा.		
ब्या, व्या	=	ब्यावर-स्थित ऐलक पन्नालाल सरस्वती-भवन की प्रति
समी.धर्म.	=	समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्डश्रावकाचार)
सर्वार्थसि.	=	सर्वार्थसिद्धि
सू.	=	सूत्र

प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका नाम 'योगसारप्राभृत' है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न अन्तिम पद्यसे जाना जाता है—

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः ।

स्व-स्वरूपमुपलभ्य सोऽञ्जितं सद्य याति भव-दोष-वञ्जितम् ।

यह नाम योग, सार और प्राभृत इन तीन शब्दोंसे मिलकर बना है। 'योग' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। आगम-ग्रन्थोंमें 'काय-वाङ्-मनः-कर्म योगः' इस तत्त्वार्थसूत्र (६-१) के अनुसार काय, वचन तथा मनकी क्रियाका नाम 'योग' है, जिससे कर्मोंका आस्रव होता है और इसीलिए जिसको अगले 'स आस्रवः' सूत्रके अनुसार 'आस्रव' भी कहा जाता है। योगका दूसरा सामान्य अर्थ 'जोड़ना'—एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध करना—है। गणितशास्त्रमें योगका प्रायः यही अर्थ परिगृहीत है अर्थात् एक राशिको दूसरी राशि या राशियोंके साथ जोड़कर एक राशि बनाना। वैद्यकशास्त्रमें भी योग औषधियोंको जोड़कर एक मिश्रण तैयार करनेके अर्थमें प्रयुक्त है, जिसे यूनानीमें 'मुरक्कब' कहते हैं, और जिसके व्यवहारकी दृष्टिसे वैद्यक तथा हिकमत दोनों में ही अनेक नाम होते हैं। तीसरा अर्थ 'ध्यान' है; जैसा कि 'योगो ध्यानं समाधिः' आदि एकार्थवाचक वाक्योंसे जाना जाता है। एकाग्रचिन्ता निरोधका नाम ध्यान है।^१ चिन्ताका विषय प्रशस्त-अप्रशस्त होनेसे ध्यान भी दो प्रकारका हो जाता है—एक प्रशस्तध्यान, दूसरा अप्रशस्त ध्यान। अप्रशस्तध्यान आर्त-रौद्रके भेदसे दो प्रकारका है और धर्म-शुक्लभेदसे प्रशस्तध्यान भी दो प्रकारका है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने नियमसारमें योगका जो अभिव्यंजक अर्थ तीन गाथाओंमें दिया है वह उसके चौथे विशिष्ट अर्थकी अभिव्यंजना करता है जो इस प्रकार है—

रायादी परिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साह ।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स कह हवे जोगो ॥१३७॥

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साह ।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स कह हवे जोगो ॥१३८॥

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ॥१३९॥

इनमें-से पहली तथा दूसरी गाथामें उस साधकको योगभक्तिसे युक्त बतलाया है जो क्रमशः रागादिके परिहारमें तथा सर्व विकल्पोंके अभावमें अपने आत्माको जोड़ता—लगाता

१. युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।—तत्त्वार्थवा० ६-१-१२ ।

योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः ।

अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः ।—आर्ष २१-१२ ।

२. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।—तत्त्वार्थसूत्र ।

योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनं...स्याद् ध्यानम् ।— तत्त्वानु०-६१ ।

है। साथ ही तद्विन्न व्यक्तिमें योग नहीं बनता ऐसी सूचना दोनों गाथाओंमें की गयी है। तीसरी गाथामें यह बतलाया गया है कि जो विपरीताभिनिवेश (अन्यथा श्रद्धारूप दुराग्रह) को छोड़कर जैनकथित (जैनागम-प्रतिपादित) तत्त्वोंमें आत्माको जोड़ता-लगाता है वह योगभक्तिरूप निज परिणामको लिये हुए योगरूप होता है—उसीके योगसाधन बनता है। इस कथनके द्वारा आचार्य महोदयने योगका निर्युक्तिपरक सामान्य अर्थ जोड़ना लेकर उसके विशेषार्थरूप किसको किसके साथ जोड़ना इसको स्पष्ट करते हुए स्वात्माको तीन विषयों के साथ जोड़नेको योगरूपमें निर्दिष्ट किया है—एक तो राग-द्वेषादिके परिहार (त्याग) रूपमें, दूसरे सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पोंके अभावरूपमें और तीसरे विपरीताभिनिवेशसे रहित होकर जिनेन्द्र-कथित तत्त्वोंके परिचिन्तनमें। इसमें दोनों प्रशस्तध्यानों (धर्मध्यान और शुक्लध्यान) का समावेश हो जाता है और दोनों अप्रशस्त ध्यान छूट जाते हैं। साथ ही सकलसञ्चारित्रका अनुष्ठान भी विधेय ठहरता है; क्योंकि 'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः' इस वाक्यके अनुसार राग-द्वेषादिकी निवृत्तिके लिए ही सञ्चारित्रका अनुष्ठान किया जाता है।

अब देखना यह है कि ग्रन्थकार महोदयने स्वयं 'योग' शब्दको मुख्यतः किस अर्थमें गृहीत किया है। इस विषयमें उनका एक पद्य बहुत स्पष्ट है और वह इस प्रकार है—

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।

स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः ॥९-१०॥

इसमें बतलाया है कि 'जिस योगसे—एकाग्रचिन्ता-निरोधरूप ध्यानसे अथवा मनको स्वके तथा इन्द्रियोंके अन्य व्यापारोंसे हटाकर शुद्धात्मतत्त्वके चिन्तनमें जोड़ने-लगानेसे—विविक्तात्माका जो परिज्ञान होता है,—स्वात्माको उसके स्वाभाविक शुद्धस्वरूपमें जाना-पहचाना जाता है—उसे उन योगियोंने (वास्तवमें) 'योग' कहा है जिन्होंने योग-द्वारा पातकोंको—मोह तथा ज्ञानावरणादिरूप घातिकर्ममलको—स्वात्मासे धो डाला है—सदाके लिए पृथक् कर दिया है।' योगके स्वरूप-निर्देशमें जिन योगियोंका यहाँ उल्लेख किया गया है वे मात्र कथनी करनेवाले साधारण योगी नहीं किन्तु अधिकारप्राप्त विशिष्ट योगी हैं ऐसा उनके 'निर्धूतपातकैः' विशेषणसे जाना जाता है, और इस विशेषणसे यह भी ज्ञात होता है कि जिस योगके स्वरूपका यहाँ निर्देश किया गया है उससे विविक्तात्माका केवल परिज्ञान ही नहीं होता बल्कि उसकी सम्प्राप्ति भी होती है, जिसे 'स्वात्मोपलब्धि' अथवा 'स्व-स्वभावोपलब्धि' भी कहते हैं और जिसके उद्देश्यको लेकर ही इस ग्रन्थका प्रारम्भ तथा निर्माण हुआ है (?)। इसमें कुन्दकुन्द-प्रतिपादित योगका तृतीय अर्थ खास तौरसे परिगृहीत है और उसको लेकर सात तत्त्वोंके सात अधिकार अलग-अलग रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं।

जिस योगका उक्त स्वरूप है उसीके सार-कथनको लिये हुए यह ग्रन्थ है। 'सार' शब्द विपरीतार्थके परिहारार्थ प्रयुक्त होता है; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके नियमसार-गत निम्न-वाक्यसे जाना जाता है—

विवरीय-परिहरत्थं भणितं खलु सारमिदि वयणं ॥ ३ ॥

और इससे यह यथार्थताका वाचक है। योगसारका अर्थ हुआ योगका विपरीततासे रहित यथार्थरूप। 'सार' शब्द श्रेष्ठ, स्थिरांश, सत तथा नवनीत (मकखन) का भी वाचक

है। और उस दृष्टिसे योगसारका अर्थ हुआ योग-विषयक-कथनका नवनीत, सत अथवा श्रेष्ठ अंश। योगसारके साथ 'प्राभृत' शब्दका प्रयोग, जो कि प्राकृतके 'पाहुड' शब्दका पर्याय-वाची है, उसे एक तोहफेके रूपमें निर्दिष्ट करता है—यह बतलाता है कि यह किसीको उपहारमें दी जानेवाली एक सारभूत वस्तु है। जयसेनाचार्यने समयसार प्राभृत (पाहुड) की टीकामें इसी बातको निम्न प्रकारसे प्रदर्शित किया है—

“यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्शनार्थं किञ्चित् सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत् 'प्राभृतं' भण्यते तथा परमात्माराधक-पुरुषस्य निर्दोष-परमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम् ।”

अर्थात्—जिस प्रकार कोई देवदत्त नामक पुरुष राजाके दर्शन करनेके लिए कोई सारभूत वस्तु राजाको भेंट करता है उसे 'प्राभृत' (तोहफा) कहते हैं, उसी प्रकार परमात्माराधक पुरुष (ग्रन्थकार) का निर्दोष परमात्मराजका दर्शन करनेके लिए यह शास्त्र भी प्राभृतके रूपमें है।

श्रीवीरसेनाचार्यने 'जयधवला'में प्राभृतका जो रूप दिया है वह इस प्रकार है—

“प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्थापितम् इति प्राभृतम् । प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम् ।”

इसमें बतलाया है कि 'जो प्रकृष्ट पुरुष—तीर्थकर परमदेवके द्वारा प्रस्थापित हुआ वह प्राभृत है, अथवा जो विद्याधनके धनी प्रकृष्ट उत्तमाचार्योंके द्वारा धारित व्याख्यात तथा आनीत (परम्परासे आगत) हुआ है वह भी 'प्राभृत' है। इससे 'प्राभृत' शब्द प्रतिपाद्य-विषयकी प्राचीनता और समीचीनताको लिये हुए जान पड़ता है।

इस तरह यह ग्रन्थनाम और ग्रन्थनामके महत्त्वका संक्षिप्त परिचय है। प्रस्तुत ग्रन्थ पद-पदपर अपने नामके महत्त्वको हृदयंगम किये हुए है। जैन-समाजमें कितने ही ग्रन्थ सारान्त नामको लिये हुए हैं; जैसे प्रवचनसार, गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, तत्त्वार्थसार आदि और कुछ पाहुड अथवा प्राभृतान्त भी हैं, जैसे कुन्दकुन्दाचार्यके दंसणपाहुड (दर्शनप्राभृत) आदि। परन्तु यह ग्रन्थ 'सार' और 'प्राभृत' दोनों विशेषणोंको एक साथ आत्मसात् किये हुए है और यह इसकी एक विशेषता है।

ग्रन्थकार अमितगति और उनका समय

इस ग्रन्थके कर्ता-निर्माताका नाम 'अमितगति' है; जैसा कि ग्रन्थके अन्तिम पद्यसे पूर्वस्थित ८३वें पद्यमें प्रयुक्त हुए निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

निःसंगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृतम् ।

इसमें बतलाया है कि 'इस योगसार-प्राभृतको निःसंगात्मा अमितगतिये परब्रह्मकी प्राप्तिके लिए रचा है।' इससे पूर्वके एक पद्य नं० ८१ में भी, 'विज्ञायेत्थं विचिन्त्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमन्तःस्थमग्र्यम्' आदि वाक्योंमें प्रयुक्त 'सदमितगतिभिः' पदके द्वारा ग्रन्थकारने अपने 'अमितगति' नामकी सूचना की है।

दिगम्बर जैन समाजमें 'अमितगति' नामके दो आचार्य हो गये हैं—एक माधवसेन सूरिके शिष्य तथा नेमिषेणाचार्यके प्रशिष्य और दूसरे नेमिषेणाचार्यके गुरु तथा देवसेनसूरिके शिष्य। ये दोनों ही अमितगति माथुर संघसे सम्बन्ध रखते हैं, जिसका अमितगति

द्वितीयकी ग्रन्थ-प्रशस्तियोंमें स्पष्ट उल्लेख है और जो काष्ठासंघका एक भेद रहा है। इनमें-से एकको प्रथम और दूसरेको द्वितीय अमितगति समझना चाहिए। इन दोनोंमें-से कौन-से अमितगतिकी यह कृति है यही यहाँ विचारणीय है। द्वितीय अमितगतिके बनाये हुए सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, आराधना, उपासकाचार और पंचसंग्रह नामके अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें ग्रन्थकारने अपनी गुरुपरम्पराका स्पष्ट उल्लेख किया है, और इसलिए वे निश्चित रूपसे अमितगति द्वितीयकी कृति हैं। योगसार-प्राभृतमें गुरुपरम्पराका वैसा कोई उल्लेख नहीं है और इसलिए वह द्वितीय अमितगतिकी कृति मालूम नहीं होती; लेखनशैलीकी विभिन्नता और अर्थकी गम्भीरता भी उसके वैसा माननेमें बाधक प्रतीत होती है इसीसे स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि कुछ विद्वानोंने उसके अमितगति द्वितीयकी कृति होनेमें सन्देह व्यक्त किया है^१ और अमितगति प्रथमकी कृति होनेकी संभावना व्यक्त की है; परन्तु प्रमाणाभावमें निश्चित रूपसे किसीने भी कुछ नहीं कहा है। यह कृति निश्चित रूपसे अमितगति प्रथमकी कृति है, जिसका प्रमाण अमितगतिके साथ 'निःसंगात्मा' विशेषणका प्रयोग है, जिसे ग्रन्थकारने स्वयं अपने लिए प्रयुक्त किया है; जैसा कि ऊपर उद्धृत ९वें अधिकारके पद्य नं० ८३ के वाक्यसे जाना जाता है। यह विशेषण अमितगति द्वितीयके लिए कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ; बल्कि स्वयं अमितगति द्वितीयने इस विशेषणको 'त्यक्त-निःशेषसंगः' रूपमें अमितगति प्रथमके लिए प्रयुक्त किया है; जैसा कि सुभाषितरत्नसन्दोहकी प्रशस्तिके निम्न पद्यसे जाना जाता है और जिससे उक्त निश्चय एवं निर्णयकी भरपूर पुष्टि होती है—

आशीविध्वस्त-कन्तोविपुलशमभृतः श्रीमतः कान्तकीर्तेः

सुरेयातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः ।

विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभूतामग्रणीरस्तकोपः

श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसंगः ॥९१५॥

इस पद्यमें अमितगति प्रथमके गुरु देवसेनका नामोल्लेख करते हुए उन्हें 'विध्वस्त कामदेव, विपुलशमभृत, कान्त (दीप्त) कीर्ति और श्रुतसमुद्रका पारगामी आचार्य लिखा है तथा उनके शिष्य अमितगति योगीको अशेष शास्त्रोंका ज्ञाता, महाव्रतों-समितियोंके धारकोंमें अग्रणी, क्रोधरहित, मुनिमान्य और सारे (बाह्याभ्यन्तर) परिग्रहोंका त्यागी सूचित किया है।' पिछला विशेषण सर्वोपरि मुख्य जान पड़ता है, इसीसे अमितगतिने उसे 'निःसंगात्मा' के रूपमें अपने लिए प्रयुक्त किया है। वे इतने अधिक निःसंग हो गये थे कि गुरु-शिष्य तथा संघका भी मोह छोड़ बैठे थे और इसलिए उन्होंने उनका कोई उल्लेख अपने ग्रन्थमें नहीं किया। अमितगति द्वितीयने सुभाषितरत्नसन्दोहके अगले पद्यमें भी उनका कितना ही

१. काष्ठासंघ चार गच्छोंमें विभक्त था जिनके नाम हैं— (१) श्रीनन्दितट, (२) माथुर, (३) बागड, (४) लाडबागड; जैसा कि भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिकी बनायी हुई 'पट्टावली' के निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः । तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥
श्रीनन्दितसंज्ञश्च माथुरो बागडोऽभिधः । लाडबागड इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥

२. श्री पं० नाथूरामजीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' में पृ० २८० पर लिखा है— "इसके कर्ता शायद इन अमितगतिके दादा गुरुके गुरु अमितगति हैं।" यहाँ प्रयुक्त 'शायद' शब्द सन्देहका ही वाचक है।

३. अलङ्क्यमहिमालयो विमलसत्त्ववान् रत्नधीर्वरस्थिरंगभीरतो गुणमणिः पयोवारिधिः ।
समस्तजनतासतां श्रियमनीश्वरीं देहिनां सदा मृतजलच्युतो विबुधसेवितो दत्तवान् ॥९१६॥

गुणगान किया है—उन्हें अलंध्यमहिमालय, विमलसत्त्ववान्, रत्नधी, गुणमणि पयोनिधि और समस्त जनताके सन्तजनोंको अनश्वरी श्रीका प्रदाता लिखा है, जो उनके इसी ग्रन्थकी ओर संकेत जान पड़ता है। साथ ही अपनी 'धर्मपरीक्षा' में उन्हें 'भासिताखिलपदार्थसमूहः', 'निर्मलः' और 'आराधना'में 'शम-यम-निलयः', 'प्रदलितमदनः', 'पदनतसूरिः' (चरणोंमें नत हैं आचार्य जिनके) जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण किया है और जो सब उनके व्यक्तित्वके महत्त्वको ख्यापित करते हैं। वास्तवमें वे ज्ञान और चारित्रकी एक असाधारण मूर्ति थे, उनका जीवन अमली जीवन था, उनकी कथनी और करनीमें कोई अन्तर नहीं था और इसलिए वे अनेक आचार्योंसे भी पूजित-नमस्कृत महामान्य थे। उन्होंने अशेष शास्त्रोंका अध्ययन-मनन कर जो कुछ अनुभव प्राप्त किया और अपनेको जिस साँचेमें ढाला उसका यह ग्रन्थ ज्वलन्त उदाहरण है, जिसका कुछ परिचय आगे दिया जायेगा।

अब देखना है कि ये अमितगति प्रथम किस समय हुए हैं। अमितगति द्वितीयने सुभाषितरत्नसन्दोहको विक्रम संवत् १०५० में पौषशुक्ला पंचमीके दिन बनाकर समाप्त किया है।^१ उसके बाद धर्मपरीक्षाको संवत् १०७० में और पंचसंग्रहको संवत् १०७३ में पूरा किया है। इससे वे विक्रम की द्वितीय-तृतीय शताब्दीके विद्वान् जान पड़ते हैं। अतः उनसे दो पीढ़ी पूर्व होनेवाले उनके दादा गुरु नेमिषेणाचार्यके भी गुरु अमितगति प्रथमका समय यदि ४०-५० वर्ष पूर्व मान लिया जाये तो वह कुछ भी अधिक नहीं है—बहुत कुछ स्वाभाविक है। ऐसी स्थितिमें यह ग्रन्थ, जो अमितगति प्रथमकी प्रायः पिछली अवस्थामें निर्मित हुआ है, जब कि वे निःसंगात्मा हो चुके थे, विक्रमी ११वीं शती के प्रारम्भकी अथवा ज्यादासे ज्यादा उसके प्रथम चरणकी—१००१ से १०२५ तककी—रचना जान पड़ती है। इसके बाद उसका समय नहीं हो सकता।

ग्रन्थकी प्रतियोंका परिचय

इस ग्रन्थकी जो प्रति मुझे सबसे पहले प्राप्त हुई वह एक मुद्रित प्रति है, जिसे आजसे कोई ५० वर्ष पहले सन् १९१८ में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्थाके महामन्त्री पं० पन्नालालजी बाकलीवालने 'योगसार' नामसे सनातन जैन ग्रन्थमालाके नं० १६ के रूपमें, उस्मानाबाद निवासी गान्धी कस्तूरचन्दजीके स्वर्गीय पुत्र बालचन्दजीकी स्मृतिमें पं० गजाधरलालजीके तत्कालीन हिन्दी अनुवादके साथ विश्वकोष प्रेस कलकत्तामें छपवाकर प्रकाशित किया था। यह प्रति कहाँकी हस्तलिखित प्रतिके आधारपर छपवायी गयी ऐसा कहीं कुछ सूचित नहीं किया गया। अस्तु, यह प्रति बड़े साइजके शास्त्राकार खुले पत्रोंपर है और इसकी पृष्ठ-संख्या २१४ है। इस प्रतिको यहाँ (तुलनात्मक टिप्पणीमें) 'मु' संज्ञा दी गयी है।

इसके बाद हस्तलिखित प्रतियोंकी प्राप्ति प्रयत्न करनेपर मुझे दो प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारकी प्राप्त हुई, जो जयपुरके महावीर भवनमें सुरक्षित हैं। इनमें-से एक प्रायः पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी प्रतिका नं० ९३६ है। इसकी पत्रसंख्या ३९ है, पर पहला पत्र नहीं है, जिसका प्रथम पृष्ठ खाली जान पड़ता है; क्योंकि उसमें छह पद्य ही रहे हैं, सातवें पद्यका केवल 'चतु' अंश ही है। ३९ वें पत्रका द्वितीय पृष्ठ भी खाली था, बादको

१. समारूढे पूतत्रिदिववसति विक्रमनृपे सहस्रे वर्षाणां प्रभवतीह पञ्चाशदधिके । समाप्ते पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥९२२॥

उसपर किसीने गद्यपूर्वक अधःप्रवृत्तकरणादि-विषयक कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं। और अन्तमें “अथ त्रयोविंशतिपुद्गलवर्गणा गाथा” लिखकर पाँच गाथाएँ और उद्धृत की हैं। इस प्रतिके पत्रोंका आकार $2\frac{1}{2}$ इंच लम्बा और $3\frac{1}{2}$ इंच चौड़ा है। द्वितीय पत्रके प्रथम पृष्ठपर ११ पंक्ति हैं, शेष ग्रन्थके प्रत्येक पृष्ठपर ९ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में अक्षर प्रायः २६ से २८ तक हैं। लिपि प्रायः अच्छी और स्पष्ट है, पद्यांक सुर्खासे दिये हुए हैं और कहीं-कहीं टिप्पणी भी हाशियोंपर अंकित है जो प्रायः बादकी जान पड़ती है। इस प्रतिके बीचमें दो पत्र नं० १५, १९ बहुत पुराने हैं। जान पड़ता है जिस प्रतिके वे पत्र हैं उसीपर-से, उसके अतिजीर्ण हो जानेसे यह प्रति करायी गयी है, जिसमें अक्षरोंका प्रति पंक्ति-क्रम पुरानी प्रतिके अनुसार ही रखा गया है, इसीसे उक्त दो पत्रोंका सम्बन्ध ठीक जुड़ गया है। इस प्रतिके अन्तमें कोई लिपिकाल दिया हुआ नहीं है। अन्तिम पुष्पिका वाक्यका रूप इस प्रकार है।—

“इति श्री अमितगति आचार्य विरचिते योगसार तत्त्वप्रदीपका नवाधिकार-समाप्तः ॥छा॥श्री॥श्री॥श्री॥”

मध्यके सन्धिवाक्य “इति जीवाधिकारः समाप्तः, इति अजीवाधिकारः, इति आस्रवा-धिकारः” इत्यादि रूपमें दिये गये हैं। यह प्रति मुद्रित प्रतिकी अपेक्षा विशेष शुद्ध नहीं है, कहीं-कहीं कुछ शुद्ध है, कहीं-कहीं स-श, न-ण, व-ब, य-ज आदिका ठीक भेद नहीं रखा गया—एकके स्थानपर दूसरा अक्षर लिखा गया है।

दूसरी अधूरी—खण्डित प्रतिका नं० ९३७ है। इसमें प्रारम्भके १९ पत्र और अन्तका ३१वाँ पत्र (लेखक-प्रशस्त्यात्मक) नहीं है। ३०वें पत्रके अन्तमें ग्रन्थ समाप्त करते हुए जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

“एवं अधिकारः समाप्तः ॥छा॥१॥ इति श्री अमितगति विरचित नवाधिकारः समाप्तः ॥ योगसार नामेति वा ॥छा॥छा॥”

“संवत् १५८६ वर्षे कार्तिगशुदि २ श्री मूलसंघे नन्द्याभनाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये भ० श्री पद्मनन्ददेवाः तत्पट्टे भ० श्री शुभचंद्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीजिन-चंद्रदेवाः तत्पट्टे भ० श्री प्रभाचंद्रदेवाः तत् शिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचं……”

इसके आगे ३१वें पत्रपर धर्मचंद्रके विषयका, उनकी प्रेरणासे अमुकने यह ग्रन्थ लिखाया और अमुकने लिखा ऐसा कुछ उल्लेख होना चाहिये।

इस प्रतिके पत्रोंका आकार $1\frac{1}{2}$ इंच लम्बा और ५ इंच चौड़ा है, प्रति पृष्ठ ९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति प्रायः ३७-३८ अक्षर हैं। इस प्रतिके हाशियोंपर भी टिप्पणियाँ हैं, जो प्रायः प्रति नं० ९३६ की टिप्पणियोंसे मिलती-जुलती हैं—कुछ अधिक भी हैं और इससे अनुमान होता है कि किसी पूर्व प्रतिमें ये टिप्पणियाँ चलती थीं, उसपर-से इनका सिलसिला चला तथा उसमें वृद्धिको भी अवसर मिला है। लिपिकारोंके सामने ऐसी प्रतियाँ थीं; क्योंकि टिप्पणियोंके बहुधा अक्षर लिपिकारके अक्षरोंसे मिलते-जुलते हैं।

यह प्रति ७वें अधिकारके ४१-४२वें पद्यसे चालू हुई है—४१वें पद्यका “यः षोढा सामग्रीयं बहिर्भवा” यह अन्तिम चरणांश इसपर अंकित है और प्रति नं० ९३६ की अपेक्षा अधिक शुद्ध जान पड़ती है। इसको यहाँ ‘आद्वि’ संज्ञा दी गयी है। ये दोनों प्रतियाँ अपनेको अक्टूबर १९६३ में श्री पं० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल जैन एम० ए० अध्यक्ष महावीर-भवन जयपुरके सौजन्यसे प्राप्त हुई थीं, जिनके लिए मैं उनका आभारी हूँ। जयपुरमें जहाँ अनेक अच्छे बड़े शास्त्रभण्डार हैं, इस ग्रन्थकी दूसरी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है, ऐसा उक्त

पं० (वर्तमान डॉक्टर) कस्तूरचन्दजीसे मालूम हुआ, जिन्होंने जयपुरके सत्र शास्त्र-भण्डारोंकी सूचियाँ तैयार की हैं—और भी बाहरके किसी शास्त्रभण्डारसे उन्हें इस ग्रन्थकी प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा दरियाफ्त करनेपर मालूम पड़ा।

तीसरी प्रति ब्यावरके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनसे प्राप्त हुई, जिसे पं० प्रकाशचन्दजीने उक्त भवनसे लेकर मेरे पास भेजनेकी कृपा की थी और मैंने उसपर-से १४ दिसम्बर १९६३ को तुलनात्मक नोट्स लिये थे। इस कृपाके लिए मैं उक्त पण्डितजी तथा सरस्वतीभवन दोनोंका आभारी हूँ। यह प्रति देशी स्यालकोटी-जैसे कागजपर लिखी हुई है, जिसकी पत्र-संख्या २५ है, प्रथम पत्रका पहला पृष्ठ खाली है, पत्रके प्रत्येक पृष्ठपर ९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या प्रायः ३२ से ४० तक है। यह प्रति कोटा नगरमें पं० दयारामके द्वारा, जिन्होंने अपना कोई परिचय नहीं दिया, वैशाख शुक्ल एकादशी संवत् १७५९ को लिखकर समाप्त हुई है; जैसा कि प्रतिके निम्न अन्तिम अंशसे जाना जाता है—

“इत्यमितगतिकृत योगसार तत्त्वप्रदीपिका नवाधिकार समाप्तः ॥

संवत् १७५९ वर्षे वैशाख शुक्लैकादश्यां कोटानगरे लि० पं० दयारामेन ॥”

इस प्रतिकी लिखावट अच्छी साफ है; परन्तु बहुत कुछ अशुद्ध है। कितनी ही जगह अक्षर छूटे हैं; अन्यथा भी लिखे गये हैं, व-व, श-स आदिका ठीक भेद नहीं रखा गया। फिर भी इस प्रतिमें कुछ पाठ ऐसे मिले हैं जो मुद्रित प्रतिकी अपेक्षा शुद्ध हैं। मोटी अशुद्धियाँ अधिक होनेके कारण उनका नोट नहीं लिया गया। अधिकारोंके नाम इसमें ‘जीवाधिकारः’, ‘अजीवाधिकारः’ आदि रूपसे प्रत्येक अधिकारके अन्तमें दिये हैं।

इस प्रति तथा आमेरकी प्रथम प्रति (नं०.९३६) के अन्तमें ‘योगसार’के अनन्तर ‘तत्त्वप्रदीपिका’ नामका प्रयोग देखकर मुझे यह सन्देह हुआ था कि शायद इस ग्रन्थपर ‘तत्त्वप्रदीपिका’ नामकी कोई टीका लिखी गयी है और उस टीकापर-से यह प्रति उद्धृत की गयी है, इसीसे ‘तत्त्वप्रदीपिका’ का साथमें नामोल्लेख हुआ है, जिसके अन्तका ‘यां’ शब्द छूट गया है, जो सप्तमी विभक्तिका वाचक था और उससे ‘योगसारकी तत्त्वप्रदीपिका टीकामें नवमा अधिकार समाप्त हुआ’ ऐसा अर्थ हो जाता है। अतः मैंने बहुत-से दिगम्बर-श्वेताम्बर भण्डारोंमें पूछ-ताछ आदिके द्वारा उसकी खोज की, परन्तु कहींसे भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकी। दक्षिण कन्नड प्रान्तके भण्डारोंमें तो यह मूल ग्रन्थ भी नहीं है; जैसा कि पं० के० भुजबली शास्त्री-द्वारा संकलित एवं सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रकाशित “कन्नड प्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थसूची” से जाना जाता है। शास्त्रीजीको स्वतः प्रेरित करनेपर भी यही पता चला कि इस ग्रन्थकी कोई प्रति उधरके शास्त्रभण्डारोंमें नहीं है। दिल्ली, अजमेर, आरा, आगरा, सोनागिर, कोड़िया गंज, काँधला, कैराना, प्रतापगढ़, रोह-तक, श्रीमहावीरजी, सहारनपुर, केकड़ी, एटा आदिके शास्त्रभण्डारोंमें भी इसकी कोई हस्त-लिखित मूल प्रति नहीं है। श्री डॉ० बेलनकर ने ‘जिनरत्नकोश’ में इसे ‘योगसार’ नामसे उल्लेखित किया है और वीतराग अमितगति कृत लिखा है, परन्तु इसकी किसी हस्तलिखित प्रतिका कोई उल्लेख नहीं किया—मुद्रित प्रतिका ही उल्लेख किया है और उसे सनातन जैन ग्रन्थमाला कलकत्तामें नं० १६ पर प्रकाशित व्यक्त किया है। ऐसी स्थितिमें ग्रन्थ-नामके साथ ‘तत्त्वप्रदीपिका’ नामकी योजनाका रहस्य अभी तक अन्धकारमें ही चला जाता है—हल होनेमें नहीं आया।

एक चौथी प्रतिका पता मुझे अपनी उस नोटबुकसे चला जिसमें बहुत वर्ष हुए मैंने सेठ माणिकचन्द हीराचन्दजी बम्बईके रत्नाकर पैलेस चौपाटी स्थित शास्त्रभण्डारके प्रशस्ति-

संग्रह नामक दो रजिस्टरोंपर-से, जो उक्त भण्डारमें स्थित शास्त्रोंपर-से संकलित किये गये थे, कुछ ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ ७८ पृष्ठोंपर उद्धृत की थीं और उसके बाद प्रशस्तिसंग्रहके तीसरे रजिस्टरमें शास्त्रभण्डारमें मौजूद ग्रन्थोंकी जो सूची दी हुई है उसपर-से कुछ खास ग्रन्थोंके नामोंको भी नोट किया था, जिनकी संख्या ४७ है। इस नोटबुकके २३वें पृष्ठपर इस ग्रन्थकी प्रशस्तिको उद्धृत किया है, जिसमें पहला पत्र न होनेकी सूचना की गयी है और इसलिए मंगल पद्य नहीं दिया जा सका। प्रशस्तिमें ग्रन्थके अन्तिम दो पद्योंके अनन्तर ग्रन्थको समाप्त करते हुए जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

“इति श्रीअमितगतिवीतरागी विरचित नवमधिकारः ।

“इति वीतराग-अमितगति-विरचितायामध्यात्मतरंगिण्यां नवाधिकाराः समाप्ताः ॥”

“संवत् १६५२ वर्षे जेष्ठद्वितीयदशम्यां शुक्ले मूलसंधे सरस्वतीगच्छे बलांगणे श्री कुन्दकुन्दा(चार्यान्वये) भ० श्री पद्मनन्दीदेवास्तत्प० भ० सकलकीर्तिदेवास्तत्प० भ० भुवनकीर्तिदेवास्तत्प० भ० श्री ज्ञानभूषणदेवास्तत्प० भ० विजयकीर्तिदेवास्तत्प० भ० वादिभूषणगुरु तच्छिष्य पं० देवजी पठनार्थम् ।”

इस प्रशस्तिसे प्रतिके लेखन-काल और जिनके लिए प्रति लिखी गयी उन पं० देवजीकी गुरुपरम्पराके अतिरिक्त दो बातें खास तौर-पर सामने आती हैं—एक ग्रन्थका नाम अध्यात्मतरंगिणी और दूसरे ग्रन्थकार अमितगतिका विशेषण ‘वीतराग’। यह विशेषण उनके स्वोक्त ‘निःसंगात्मा’ और अमितगति द्वितीयोक्त ‘त्यक्तनिःशेषसंगः’ विशेषणोंको पुष्ट करता है और उन्हें अमितगति प्रथम ही सिद्ध करता है। रही ‘अध्यात्म-तरंगिणी’ नामकी बात, उसकी पुष्टि कहींसे नहीं होती। मूलग्रन्थके दोनों अन्तिम पद्योंमें ग्रन्थका साफ और स्पष्ट नाम ‘योगसार-प्राभृत’ दिया है; प्रशस्तिसंग्रहके तीसरे रजिस्टरमें शास्त्रभण्डार स्थित ग्रन्थोंकी जो सूची दी है उसमें भी ‘योगसार’ नाम दिया है, तब यह ‘अध्यात्म-तरंगिणी’ नामकी कल्पना कैसी? मुद्रित प्रतिकी सन्धियोंमें ‘योगसार’ के अनन्तर ब्रेकटके भीतर ‘अध्यात्मतरंगिणी’ नाम दिया है और इस तरह उसे ग्रन्थका द्वितीय नाम सूचित किया है; परन्तु इसका कोई आधार व्यक्त नहीं किया। ‘अध्यात्मतरंगिणी’ तो ‘तत्त्वप्रदीपिका’ की तरह टीकाका नाम हो सकता है और इससे ग्रन्थकी ‘अध्यात्मतरंगिणी टीका’ की भी कल्पना की जा सकती है, परन्तु वह कहीं उपलब्ध नहीं होती और न उसके रचे जानेका कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख ही पाया जाता है। अस्तु।

इस बम्बई-प्रतिकी प्राप्तिके लिए मैंने बहुत यत्न किया, डॉ० विद्याचन्द्रजी जैन, हीरावाग बम्बई-द्वारा सेठ माणिकचन्द्रजीके उत्तराधिकारियोंको बहुत कुछ प्रेरणा की, स्वयं भी पत्र लिखे; परन्तु कोई भी टससे मस नहीं हुआ और न किसीने शिष्टाचारके तौरपर उत्तर देना ही उचित समझा—सर्वत्र उपेक्षाका ही वातावरण रहा। अन्तमें मैंने भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजीको प्रेरित किया कि वे स्वयं बम्बई लिखकर ग्रन्थकी उक्त प्रतिको प्राप्त करके मेरे पास भिजवायें, उत्तरमें उन्होंने मुझे साहू श्रेयांसप्रसादजीको लिखनेकी प्रेरणा की, तदनुसार मैंने साहूजीको लिखा और उन्होंने सेठ माणिकचन्द्रजीके उत्तराधिकारी एवं शास्त्र-भण्डारके अधिकारीको बुझाकर ग्रन्थको निकालकर देने आदिकी प्रेरणा की। अन्तको नतीजा यही निकला और यही उत्तर मिला कि ग्रन्थ शास्त्रभण्डारकी सूचीमें दर्ज तो है परन्तु मिल नहीं रहा है। इसलिए मजबूरी है। बड़े परिश्रम एवं खर्चसे एकत्र किये हुए सेठ माणिकचन्द्रजीके शास्त्रभण्डारकी ऐसी स्थितिको जानकर बड़ा अफसोस हुआ।

ग्रन्थका संक्षिप्त विषय-परिचय और महत्त्व

यह ग्रन्थ ९ अधिकारोंमें विभक्त है जिनके नाम हैं—१ जीवाधिकार, २ अजीवाधिकार, ३ आस्रवाधिकार, ४ बन्धाधिकार, ५ संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ मोक्षाधिकार और ८ चारित्राधिकार। नवमे अधिकारको 'नवाधिकार' तथा 'नवमाधिकार' नामसे ही ग्रन्थ-प्रतियोंमें उल्लेखित किया है, दूसरे अधिकारोंकी तरह उसका कोई खास नाम नहीं दिया; जब कि ग्रन्थ-सन्दर्भकी दृष्टिसे उसका दिया जाना आवश्यक था। वह अधिकार सातों तत्त्वों तथा सम्यक् चारित्र-जैसे आठ अधिकारोंके अनन्तर 'चूलिका' रूपमें स्थित है—आठों अधिकारोंके विषयको स्पर्श करता हुआ उनकी कुछ विशेषताओंका उल्लेख करता है और इसलिए उसे यहाँ 'चूलिकाधिकार' नाम दिया गया है। जैसे किसी मन्दिर-भवनकी चूलिका-चोटी उसके कलशादिके रूपमें स्थित होती है उसी प्रकार 'योगसार-प्राभृत' नामक ग्रन्थ-भवनकी चूलिका-चोटीके रूपमें यह नवमा अधिकार स्थित है अतः इसे 'चूलिकाधिकार' कहना समुचित जान पड़ता है। ग्रन्थके 'परिशिष्ट' अधिकाररूपमें भी इसे ग्रहण किया जा सकता है।

इन अधिकारोंमें योगसे सम्बन्ध रखनेवाले और योगको समझनेके लिए अत्यावश्यक जिन विषयोंका प्रतिपादन हुआ है वे अपनी खास विशेषता रखते हैं और उनकी प्रतिपादन शैली बड़ी ही सुन्दर जान पड़ती है—पढ़ते समय जरा भी मन उकताता नहीं, जिधरसे और जहाँसे भी पढ़ो आनन्दका स्रोत बह निकलता है, नयी-नयी अनुभूतियाँ सामने आती हैं, बार-बार पढ़नेको मन होता है और तृप्ति नहीं हो पाती। यही कारण है कि कुछ समयके भीतर मैं इसे सौ-से भी अधिक बार पूरा पढ़ गया हूँ। इस ग्रन्थका मैं क्या परिचय दूँ और क्या महत्त्व स्थापित करूँ वह सब तो इस ग्रन्थको पढ़नेसे ही सम्बन्ध रखता है। पढ़नेवाले विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि यह ग्रन्थ जैनधर्म तथा अपने आत्माको समझने और उसका उद्धार करनेके लिए कितना अधिक उपयोगी है, युक्तियुक्त है और बिना किसी संकोचके सभी जैन-जैनैतर विद्वानोंके हाथोंमें दिये जानेके योग्य है; फिर भी मैं यह बतलाते हुए कि ग्रन्थकी भाषा अच्छी सरल संस्कृत है, कृत्रिमतासे रहित प्रायः स्वाभाविक प्रवाहको लिये हुए गम्भीरार्थक है और उसमें उक्तियाँ, उपमाओं तथा उदाहरणोंके द्वारा विषयको अच्छा बोधगम्य किया गया है, संक्षेपसे अपने पाठकोंको इसके अधिकारोंका कुछ विषय-परिचय करा देना चाहता हूँ और वह अधिकार-क्रमसे इस प्रकार है—

(१) ग्रन्थके आदिमें 'विविक्त' आदि छह विशेषणोंके साथ सिद्ध समूहका स्तवनरूप मंगलाचरण किया गया है और उसका उद्देश्य स्वस्वभावकी उपलब्धि बतलाया है—ग्रन्थके निर्माणका भी उद्देश्य इसीमें सम्मिलित है (१)। स्वस्वभावकी उपलब्धि (जानकारी एवं सम्प्राप्ति) के लिए जीव और अजीवके लक्षणोंको जाननेकी प्रेरणा की है; क्योंकि इन दो प्रकारके (चेतन-अचेतन) पदार्थोंसे भिन्न संसारमें तीसरे प्रकारका कोई पदार्थ नहीं—सभीका इन दोमें अन्तर्भाव है (२)। इन दोनों जीव-अजीवको वास्तविक रूपमें जान लेनेसे जीवकी अजीवमें अनुरक्ति तथा आसक्ति न रहकर उसका परिहार बनता है—उसे आत्मद्रव्यसे बहिर्भूत समझा जाता है (६)—अजीवके परिहारसे जीवकी अपनेमें लीनता घटित होती है, आत्मलीनतासे राग-द्वेषका क्षय होता है, राग-द्वेषके क्षयसे कर्मोंके आश्रयका—आस्रव-बन्धका—छेद होता है और कर्माश्रयके छेदसे निर्वाणका समागम (मुक्तिलाभ) होता है, यही उक्त दोनों तत्त्वोंकी वास्तविक जानकारीका फल है (३, ४)। इसके बाद

जीवके उपयोग लक्षण और उसके भेद-प्रभेदोंका उल्लेख करके केवलज्ञान और केवलदर्शन नामके दो उपयोगोंका कर्मोंके क्षयसे और शेष उपयोगोंका कर्मोंके क्षयोपशमसे उदित होना लिखा है तथा क्षयसे उदित होनेवाले ज्ञान-दर्शनकी युगपत् और दूसरे सब ज्ञान दर्शनोंकी क्रमशः उत्पत्ति बतलायी है (१०, ११)। ज्ञानोपयोगमें मिथ्याज्ञानका मिथ्यात्वके और सम्यक् ज्ञानका सम्यक्त्वके समवायसे उदय होना बतलाकर दोनोंके स्वरूप तथा भेदोंका उल्लेख करते हुए मिथ्यात्वको कर्मरूपी बगीचेके उगाने-बढ़ानेके लिए जलदानके समान लिखा है (१३) और सम्यक्त्वको सिद्धिके साधनमें समर्थ निर्दिष्ट किया है (१६)।

आत्माको ज्ञानप्रमाण, ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण सर्वगत और ज्ञेयको लोकालोक-प्रमाण बतलाकर ज्ञानको आत्मासे अधिक (बड़ा) माननेआदिपर जो दोषोपत्ति घटित होती है उसे तथा ज्ञानकी व्यापकताको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है (२०, २१)। ज्ञान-ज्ञेयको जानता हुआ कैसे ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, कैसे उसमें दूरवर्ती पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित करनेकी शक्ति है और कैसे वह स्वपरको जानता है, इन सबको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि क्षायोपशमिक ज्ञान तो विवक्षित कर्मोंका नाश हो जानेपर नाशको प्राप्त हो जाता है परन्तु क्षायिक ज्ञान जो केवलज्ञान है वह सदा उदयको प्राप्त रहता है—कर्मोंके नाशसे उसका नाश नहीं होता (२२-२५)। इसके बाद केवलज्ञानको त्रिकालगोचर सभी सत्-असत् विषयोंको, जिनके स्वरूपका निर्देश भी साथमें किया गया है, युगपत् जाननेवाला बतलाकर यह युक्तिपुरस्सर प्रतिपादन किया गया है कि यदि ऐसा न माना जाय तो वह एक भी पदार्थका पूर्णज्ञाता नहीं बन सकेगा (२६-३०)। इसके पश्चात् घातिकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न आत्माके परमरूपकी श्रद्धा किसको होती है और उसका क्या फल है इसे बतलाते हुए (३१-३२) आत्माके परमरूपकी अनुभूतिके मार्गका निर्देश किया है और उसमें निरवद्य श्रुतज्ञानको भी शामिल किया है (३३, ३४)।

आत्माके सम्यक्चारित्र कब बनता है, कब उसके अहिंसादिक व्रतभंग हो जाते हैं और कब हिंसादिक पाप उससे पलायन कर जाते हैं, इन सबको दर्शाते हुए (३५-३७) किस ध्यानसे कर्मच्युति बनती है, पर-द्रव्यरतयोगीकी क्या स्थिति होती है और निश्चय तथा व्यवहार चारित्रका क्या स्वरूप है यह सब बतलाया है (३८-४३) और फिर यह निर्देश करते हुए कि आत्मोपासनासे भिन्न दूसरा कोई भी निर्वाण-सुखकी प्राप्तिका उपाय नहीं है आत्माकी अनुभूतिके उपायको और आत्माके शुद्धस्वरूपको दर्शाया है, जो कि कर्म-नोकर्मसे विमुक्त अजर, अमर, निर्विशेष और सर्व प्रकारके बन्धनोंसे रहित है। इसीसे चेतनात्मा जीवके स्वभावसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्दादिक नहीं होते। ये सब शुद्ध स्फटिक में रक्त पुष्पादिके योगकी तरह शरीरके योगसे कहे जाते हैं (४४-५४) राग-द्वेषादिक भी संसारी जीवों के औदयिक भाव हैं—स्वभाव-भाव नहीं; गुणस्थानादि २० प्ररूपणाएँ और क्षायोपशमिक भावरूप ज्ञानादि भी शुद्ध जीवका कोई लक्षण नहीं हैं (५५-५९) अन्तमें मुक्तिको प्राप्त करनेवाले जीवका क्या रूप होता है उसे साररूपमें देकर (५९) प्रथम अधिकारको समाप्त किया गया है।

(२) दूसरे अधिकारमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्योंके नाम देकर इन्हें 'अजीव' बतलाया है; क्योंकि वे जीवके उपयोग-लक्षणसे रहित हैं (१)। ये पाँचों अजीव द्रव्य परस्पर मिलते-जुलते, एक-दूसरेको अपनेमें अवकाश देते हुए कभी भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते (२)। इनमें पुद्गलको छोड़कर शेष सब अमूर्तिक और निष्क्रिय हैं। जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्शकी व्यवस्थाको अपनेमें लिये हुए हो उसे 'मूर्तिक' कहते हैं।

सारे पुद्गल द्रव्य इस व्यवस्थाको अपनेमें लिये हुए हैं, इसीलिए 'मूर्तिक' कहलाते हैं (३)। 'जीव'-सहित ये पाँचों 'द्रव्य' कहलाते हैं; क्योंकि द्रव्यके 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' इस लक्षणसे युक्त है (४)। इसके बाद द्रव्यका निर्युक्तिपरक लक्षण देकर सब द्रव्योंको सत्तात्मक बतलाया है और सत्ताका रूप 'ध्रौव्योत्पादलयालीढा' निर्दिष्ट किया है (५-६)। सम्पूर्ण पदार्थ-समूह पर्याय-की अपेक्षासे उत्पन्न तथा नष्ट होता है—द्रव्यकी अपेक्षासे न कभी कोई पदार्थ उत्पन्न होता है और न नष्ट (७)। गुणपर्याय बिना कोई द्रव्य नहीं और न द्रव्यके बिना कोई गुण-पर्याय कहीं पाये जाते हैं (८)। इसके बाद धर्म-अधर्म और एक जीवके प्रदेशों तथा परमाणुसे आकाश द्रव्य कैसे अवरुद्ध है इसे बतलाते हुए परमाणुका लक्षण दिया है (९-१०)। सब द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्या और उनकी अवस्थितिका निर्देश किया है (११-१३) और फिर शरीरधारी जीवोंके प्रदेश कैसे संकोच-विस्तारको प्राप्त होते हैं इसे दर्शाया है, जो कि कर्म-निर्मित है और इसीलिए सिद्धोंके संकोच-विस्तार नहीं होता (१४)। इसके बाद द्रव्योंका एक दूसरेके प्रति उपकार-अपकारका निर्देश करते हुए मुक्त जीवोंको उससे रहित बतलाया है (१६)। परमार्थसे कोई भी पदार्थ किसीका उपकार-अपकार नहीं करता (१८)।

तदनन्तर पुद्गलके स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणुके भेदसे चार भेद बतलाकर लोक उनसे कैसे भरा हुआ है, इसे दर्शाया है (१९-२०)। सब द्रव्योंके मूर्त-अमूर्तके भेदसे दो भेद करके उनका स्वरूप दिया है और फिर कौन पुद्गल किसके साथ कर्मभावको प्राप्त होते हैं, कौन उसमें हेतु पड़ते हैं, जीव और कर्ममें कौन किसका कैसे कर्ता होता है। उपादानभावसे एक-दूसरेके कर्तृत्वमें आपत्ति, देहादिरूपसे कर्मजनित जितने विकार हैं वे सब अचेतन हैं। मिथ्यात्वादि १३ गुणस्थान भी पौद्गलिक तथा अचेतन हैं, देह-चेतनको एक मानना मोहका परिणाम, जो इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबाह्य, जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता, कर्मोदयादि-सम्भव सब गुण अचेतन; इन सब बातोंके निर्देशानन्तर अधिकारको समाप्त करते हुए लिखा है कि जो लोग अजीव-तत्त्वको यथार्थ रूपसे नहीं जानते वे चारित्रवान् होते हुए भी उस विविक्तात्माको प्राप्त नहीं होते जो कि निर्दोष है (५०)।

(३) तीसरे अधिकारमें यह बतलाते हुए कि मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ जब शुभ या अशुभ उपयोगसे वासित होती हैं तो वे सामान्यतः कर्मास्रवकी हेतु बनती हैं (१), मिथ्यादर्शनादिके रूपमें आस्रवके विशेष हेतुओंका निर्देश किया है, जिनमें पाँच प्रकारकी बुद्धियोंका निर्देश खासतौरसे ध्यानमें लेने योग्य है (२-१७)। उन्हींका कथन करते हुए निश्चय तथा व्यवहारसे आत्मा तथा कर्मके कर्तृत्व-भोक्तृत्वपर प्रकाश डाला है, एकको उपादानरूपसे दूसरेका कर्ता मानने तथा एकके कर्मफलका दूसरेको भोक्ता माननेपर जो आपत्ति घटित होती है उसे दर्शाया है और कषायस्रोतसे आया हुआ कर्म ही जीवमें ठहरता है इसे बतलाते हुए निष्कषाय जीवके कर्मास्रवकी मान्यता तथा एक द्रव्यका परिणाम दूसरे द्रव्यको प्राप्त होनेकी मान्यताको सदोष ठहराया है। इसके बाद कषाय उपयोगसे और उपयोग कषायसे तथा मूर्तिक अमूर्तिकसे और अमूर्तिक मूर्तिकसे उत्पन्न नहीं होते (२१) इसे दर्शाते हुए, कषाय परिणाम किसके होते हैं, और अपरिणामी जीव कौन होता है उसे स्पष्ट किया है (२२-२३)। साथ ही यह निर्धारित किया है कि परिणामको छोड़कर जीव तथा कर्मके एक-दूसरेके गुणोंका कर्तृत्व नहीं बनता (२४-२५)।

तदनन्तर निरन्तर जो ग्राही जीवका, कर्मसन्तति-हेतु अचारित्रका, अचारित्री तथा स्वचारित्रसे भ्रष्टका स्वरूप देते हुए, इन्द्रियजन्य सुखको दुःखरूपमें स्पष्ट किया गया है

(२७-३६)। साथ ही कोई वस्तु स्वतः कर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण नहीं, वस्तुके निमित्तसे उत्पन्न हुए दोष ही बन्धके कारण होते हैं, इसे बतलाते हुए (३९) अन्तमें उस जीवका स्वरूप दिया है जो शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकारी होता है (४०)।

(४) चौथे अधिकारमें बन्धका लक्षण देकर और उसे जीवकी पराधीनताका कारण बतलाकर (१) उसके प्रकृति, स्थिति आदि चार भेदों और उनके स्वरूपका निर्देश करते हुए, कौन जीव कर्म बाँधता है और कौन नहीं बाँधता उसका सोदाहरण स्पष्टीकरण किया है (२-८)। साथ ही अमूर्त आत्माका मरणादि करनेमें यद्यपि कोई समर्थ नहीं फिर भी मारणादिके परिणामसे बन्ध होता है, इसे बतलाते हुए (६-१०) मरण-जीवनके प्रश्नपर कितना ही प्रकाश डाला है और तद्विषयक भ्रान्तियोंको दूर किया है। इसके बाद रागी, वीतरागी, ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धके होने न होने आदिका निर्देश करते हुए उनकी स्थितियोंको कुछ प्रदर्शित किया है, ज्ञान और वेदनके स्वरूप-भेदको जतलाया है। ज्ञानी जानता है अज्ञानी वेदता है और इसलिए एक अबन्धक, दूसरा बन्धक होता है। पर-द्रव्यगत-दोषसे कोई वीतरागी बन्धको प्राप्त नहीं होता। कौन रागादिक परिणाम पुण्य-पाप-बन्धके हेतु हैं और पुण्य-पापकी भेदाभेद दृष्टि, इन सबका निरूपण करते हुए अन्तमें निवृत्ति-पात्र-योगीका स्वरूप दिया है (४१)।

(५) पाँचवें अधिकारमें संवरका लक्षण देकर द्रव्य-भावके भेदसे उसके दो भेदोंका उल्लेख करते हुए उनका स्वरूप दिया है—कषायोंके निरोधको 'भावसंवर', और कषायोंका निरोध होनेपर द्रव्यकर्मोंके आस्रव-विच्छेदको 'द्रव्यसंवर', बतलाया है (१, २)। कषाय और द्रव्यकर्म दोनोंके अभावसे पूर्ण शुद्धिका होना निर्दिष्ट किया है (३)। कषाय-क्षपणमें समर्थ योगीका स्वरूप देते हुए (६, ७) उसकी स्थिरताके लिए कुछ उपयोगी उपदेशात्मक प्रेरणाएँ की गयी हैं, जो काफी महत्त्वपूर्ण हैं और जिन्हें संलग्न विषय-सूचीसे भले प्रकार जाना जा सकता है (८-४५)। इसके बाद सामायिकादि षट् कर्मोंमें जो भक्तिसहित प्रवृत्त होता है उसके संवर बनता है, इसका निर्देश करते हुए छहों आवश्यक कर्मोंका स्वरूप दिया गया है (४६-५३)।

द्रव्यमात्रसे जो निवृत्त—भोगत्यागी—उसके कर्मोंका संवर नहीं बनता, भावसे जो निवृत्त वह वास्तविक संवरका अधिकारी होता है, इसीसे भावसे निवृत्त होनेकी विशेष प्रेरणा की गयी है (५७-५८)। इसके सिवा शरीरात्मक लिंग-वेषको मुक्तिका कारण न बतलाते हुए सभी अचेतन पदार्थ-समूहको मुमुक्षु एवं संवरार्थीके लिए त्याज्य ठहराया है—उसमें आसक्तिका निषेध किया है (५९-६०)। और अन्तमें उस योगीका स्वरूप दिया है जो शीघ्र कर्मोंका संवर करता है (६१)।

(६) छठा अधिकार निर्जरा तत्त्वसे सम्बन्ध रखता है, जिसमें निर्जराका लक्षण देकर उसके 'पाकजा', 'अपाकजा' नामके दो भेदोंका उल्लेख करते हुए उनके स्वरूपका निर्देश किया है (१-३)। तदनन्तर परम-निर्जराकारक ध्यान-प्रक्रमके अधिकारी साधुका स्वरूप दिया है (४-५), संवरके विना निर्जराको अकार्यकारी बतलाया है (६) और किस योगीका कौन ध्यान कर्मोंको क्षय करता तथा सारे कर्ममलको धो डालता है, किसका तप कार्यकारी नहीं, किसका संयम क्षीण होता है, कौन शुद्धिको प्राप्त नहीं होता, कौन साधु अन्धके समान है, विविक्षात्माको छोड़कर अन्योपासककी स्थिति, निर्मल स्वात्मतीर्थको छोड़कर अन्यको भजनेवालोंकी स्थिति, स्वात्म-ज्ञानेच्छुकके लिए परीषहोंका सहना आवश्यक, आत्म-शुद्धिका साधन आत्मज्ञान, परद्रव्यसे आत्मा स्पृष्ट तथा शुद्ध नहीं होता, आत्म-द्रव्यको

जाननेके लिए परद्रव्यका जानना आवश्यक, इत्यादि बातोंका निर्देश करते हुए अन्तमें योगीका संक्षिप्त कार्यक्रम और उसका फल दिया है (५०) ।

(७) सातवें अधिकारमें 'मोक्ष' तत्त्वका निरूपण करते हुए उसका स्वरूप दिया है और उसे 'अपुनर्भव' नामसे निर्दिष्ट किया है (१) । तदनन्तर आत्मामें केवलज्ञानका उदय कब होता है, दोषमलिन आत्मामें उसका उदय नहीं बनता, शुद्धात्माके ध्यान बिना मोहादि दोषोंका नाश नहीं होता, ध्यान-वज्रसे कर्मग्रन्थिका छेद अतीवानन्दोत्पादक इन बातोंको बतलाते हुए (२-६) यह सूचित किया है कि किस केवलीकी कब धर्मदेशना होती है (७, ८) । केवली प्रतिबन्धकका अभाव हो जानेपर किसी भी ज्ञेय-विषयमें अज्ञ नहीं रहता (११), देशकालादिका विप्रकर्ष उसके लिए कोई प्रतिबन्धक नहीं (११, १२), ज्ञानस्वभावके कारण आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है (१३-१४), केवली किन कर्मोंका कैसे नाश कर निर्वृतिको प्राप्त होता है (१५), निर्वृतिको प्राप्त सुखीभूत आत्मा फिर संसारमें नहीं आता (१८), कर्मका अभाव हो जानेसे पुनः शरीरका ग्रहण नहीं बनता (१९), ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानना असंगत (२०), ज्ञानादि गुणोंके अभावमें जीवकी कोई व्यवस्थिति नहीं बनती (२१-२२) और बिना उपाय किये बन्धको जानने मात्रसे कोई मुक्त नहीं होता (२३-२४) ।

इसी अधिकारमें जीवके शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद करके कर्मसे युक्त संसारी जीवको अशुद्ध और कर्मसे रहित मुक्तजीवको शुद्ध बतलाया है (२५-२६), शुद्ध जीवको 'अपुनर्भव' कहनेके हेतुका निर्देश किया है (२७) । साथ ही मुक्तिमें आत्मा किस रूपमें रहता है उसे दर्शाया है (२८-२९) और फिर ध्यानका मुख्य फल परब्रह्मकी प्राप्तिको बतलाते हुए उसमें वाद-प्रतिवादको छोड़कर महान् यत्नकी प्रेरणा की है, विविक्तात्माके ध्यानको उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाया है (३०-३४); ध्यानविधिसे कर्मोंका उन्मूलन कैसे होता है इसे बतलाते हुए ध्यानकी महिमाका कुछ कीर्तन (३५-३७) किया है और अध्यात्म-ध्यानसे भिन्न सिद्धिका कोई दूसरा सदुपाय नहीं (४०) इसे दर्शाते हुए उक्त ध्यानकी बाह्य सामग्रीका निर्देश किया है (४१) । साथ ही ध्यान-प्राप्तिके लिए बुद्धिका आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यास रससे संशोधन आवश्यक बतलाया है (४२), आत्मध्यान रतिको विद्वत्ताका परमफल और अशेष शास्त्रोंके शास्त्रीपनको 'संसार' घोषित किया है (४६) । मूढ़चित्त गृहस्थों और अध्यात्मरहित पण्डितोंके संसारका रूप भी निर्दिष्ट किया है (४४) । जो कर्मभूमियोंमें मनुष्यता और उत्कृष्ट ज्ञानबीजको पाकर भी सद्ध्यानकी खेती करनेमें प्रवृत्त नहीं होते उन्हें 'अल्पबुद्धि' बतलाया है । साथ ही ऐसे मोही विद्वानोंकी स्थितिका कुछ निर्देश भी किया है (४५-४९) । और फिर ध्यानके लिए तत्त्वश्रुतिकी उपयोगिता बतलाते हुए भोगबुद्धिको त्याज्य और तत्त्वश्रुतिको ग्राह्य प्रतिपादित किया है (५०-५१) । अन्तमें ध्यानके शत्रु कुतर्कको मुमुक्षुओंके लिए त्याज्य बतलाते हुए (५२-५३) मोक्षतत्त्वका सार दिया है (५४) ।

(८) आठवें अधिकारमें उस चारित्रिका निरूपण है जो मुमुक्षुके लिए आवश्यक है । सात तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप जान लेनेके अनन्तर जिसके अन्तरात्मामें मोक्षप्राप्तिकी सच्ची एवं तीव्र इच्छा जागृत हो उस विवेक-सम्पन्न मुमुक्षुको घर-गृहस्थीका त्याग कर 'जिनलिङ्ग' धारण करना चाहिए (१), यह बात बतलाते हुए जिनलिङ्गका स्वरूप दिया है, उसको किस गुरुसे कैसे प्राप्त करके श्रमण बनना चाहिए (४-५) इसका निर्देश करते हुए श्रमणोंके २८ मूल गुणोंके नाम दिये हैं, जिन्हें योगीको निष्प्रमादरूपसे पालन करना चाहिए (६), जो उनके पालनेमें प्रमाद करता है उस योगीको 'छेदोपस्थापक' बतलाया है (८) । साथ ही श्रमणोंके दो भेद 'सूरि', 'निर्घाषक' का उल्लेख करके उनका स्वरूप दिया है (९), चारित्रमें छेदोत्पत्ति

होने अथवा दोष लगनेपर उसकी प्रतिक्रिया बतलायी है (१०-११) । निराकृतछेद होनेपर यतिको विहारका पात्र ठहराया है (१२), पूर्ण श्रमणताकी प्राप्ति किसको होती है इसे बतलाते हुए ममतारहित, प्रमादचारी, यत्नाचारी तथा परपीडक ज्ञानी साधुओंकी चर्या एवं प्रवृत्तियोंका कुछ उल्लेख किया है (१३-१७) और इसके बाद भवाभिनन्दी मुनियोंका स्वरूप देकर उनकी कुछ प्रवृत्तियोंका उल्लेखादि किया है (१८-२०) ।

अयत्नचारी-प्रमादी साधु जीवका घात न होनेपर भी हिंसाका भागी और प्रयत्नचारी-अप्रमादी साधु जीवका घात होनेपर भी रंचमात्र बन्धका भागी नहीं (२८-३०), इसे बतलाते हुए दोनोंकी चर्यापर कुछ प्रकाश डाला गया है (३१-३२) और परिग्रहसे ध्रुव बन्धके होनेका निर्देश करके एक भी परिग्रहका त्याग किये बिना चित्तशुद्धिका न होना तथा चित्तशुद्धिके अभावमें कर्मविच्युतिकाने बन सकना, इन दोनोंको दर्शाया है (३४-३५) । तदनन्तर जो साधु 'सूत्रोक्त' कहकर कुछ वस्त्र-पात्रादिका ग्रहण करते हैं उनकी उस चर्याको सदोष ठहराया है (३६-४२) । साथ ही स्त्रियोंके जिनलिंग-ग्रहणकी योग्यताका अभाव सूचित किया है (४३-५०) और जो पुरुष जिनलिंगको धारण करनेके योग्य हैं उनका स्वरूप दिया है तथा उन व्यङ्गों-भङ्गोंका स्वरूप भी दिया है जो जिनलिंगके ग्रहणमें बाधक है (५१-५४) । इसके बाद श्रमणका रूप उसे 'सम-मानस' बतलाते हुए दिया है (५५) और श्रमणोंमें 'अनाहार' तथा 'केवलदेह' श्रमणोंका स्वरूप देते हुए (५६-५८) उनकी भिक्षाचर्याका निर्देश किया है, जिसमें मधु-मांसादिको युक्तिपुरस्सर वर्जित ठहराया है (५९-६३) । दूसरी भी चर्या-विषयक कुछ विशेषताओंका उल्लेख करके (६४-६७) साधुके आगमज्ञानकी विशेषता एवं उपयोगिताको दर्शाया है (६८-७८) ।

अनुष्ठानके समान होनेपर भी परिणामके भेद से फलमें भेद होता है और वह परिणाम राग-द्वेषादिके भेदसे तथा फलका उपभोग करनेवाले मनुष्योंकी बुद्धिके भेदसे बहुधा भेदरूप परिणमता है (७९, ८०) ऐसा निर्देश करते हुए बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे सारे कर्मोंको भेदरूप प्रतिपादित किया है; इन्द्रियाश्रित ज्ञानको 'बुद्धि,' आगमपूर्वक ज्ञानको 'ज्ञान' और वही ज्ञान जब सदनुष्ठानको प्राप्त होता तो उसे 'असम्मोह' बतलाया है (८१-८२) । साथ ही बुद्ध्यादिपूर्वक कर्मोंके फलभेदकी दिशाको सूचित करते हुए बुद्धि-पूर्वक कार्योंको संसारफलके प्रदाता, ज्ञानपूर्वक कार्योंको मुक्तिहेतुक और असम्मोहपूर्वक कार्योंको निर्वाण-सुखके प्रदाता लिखा है (८३-८६) । इसके बाद भवातीत-मार्गगामियोंका स्वरूप देकर उनके मार्गको सामान्यकी तरह एक ही प्रतिपादित किया है, शब्दभेदके होनेपर भी निर्वाण-तत्त्वको एक ही निर्दिष्ट किया है तथा उसे तीन विशेषणोंसे युक्त बतलाया है और यह घोषित किया है कि असम्मोहसे ज्ञात निर्वाणतत्त्वमें कोई विवाद नहीं होता (८७-९३) । साथ ही निर्वाण-मार्गकी देशनाके विचित्र होनेका कारण भी निर्दिष्ट किया है (९४) ।

अन्तमें इस सत्र चारित्रको व्यवहारसे मुक्तिका हेतु और निश्चयसे विविक्त चेतनाके ध्यानको मुक्तिहेतुक बतलाते हुए व्यवहारचारित्रके दो भेद किये हैं—एक निर्वृतिके अनुकूल और दूसरा संसृतिके अनुकूल । जो निर्वृतिके अनुकूल है वह जिनभाषित और जो संसृतिके अनुकूल है वह पर-भाषित चारित्र है (९५-९७) । जिनभाषित व्यवहारचारित्र निर्वृतिके अनुकूल कैसे है, इसे बतलाते हुए यह स्पष्ट घोषणा की है कि इस व्यवहारचारित्रके बिना निश्चय चारित्र नहीं बनता (९८-९९), साथ ही इस चारित्रका अनुष्ठाता योगी कैसे सिद्धि-सदनको प्राप्त होता है उसकी स्पष्ट सूचना भी की है (१००) ।

इस अधिकारमें अन्य अधिकारोंकी अपेक्षा उपमाओं तथा उदाहरणोंका अच्छा प्राचुर्य है, जिससे विषय रोचक तथा सहज बोधगम्य बन गया है। ग्रन्थकारकी निर्भीकता और स्पष्टवादिताका भी पद-पदपर दर्शन होता है।

(९) नवमे अधिकारमें मुक्तात्माकी सदा आनन्दरूप स्थितिका उल्लेख करते हुए यह सहेतुक बतलाया है कि उसके चेतनस्वभावका कभी नाश नहीं होता और न वह कभी निरर्थक ही होता है (१-८)। इसके बाद योगीके योगका लक्षण देकर (१०) योगसे उत्पन्न सुखकी विशिष्टता, सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण और उस लक्षणकी दृष्टिसे पुण्यसे उत्पन्न होनेवाले भोगोंको भी दुःखरूप निर्दिष्ट किया है (११-१३)। भोगका स्वरूप दिया है (१५), संसारको आत्माका महान् रोग बतलाया है और उस रोगसे छूट जानेपर मुक्तात्माकी जैसी कुछ स्थिति होती है—वह फिर संसारमें नहीं आता और न अज्ञताको ही धारण करता है—उसे दर्शाया है (१५-१६)। साथ ही भोग-विषयपर और उसके भोक्ता ज्ञानी तथा मोही जीवकी स्थितिपर अच्छा प्रकाश डाला है (२०-२१)। भोग संसारसे सच्चा वैराग्य कब बनता है और निर्वाण तत्त्वमें परमा भक्तिके लिए क्या कुछ कर्तव्य है उसे भी दर्शाया है (२७-२६)। और भी बहुत-सी आवश्यक रोचक एवं उपयोगी बातोंका निर्देश किया है, जिन्हें पिछले अधिकारोंमें यथेष्ट रूपसे नहीं बतलाया जा सका और जिन्हें संलग्न 'विषय-सूची' से, जो अच्छे विस्तृतरूपमें दी गयी है, भले प्रकार जाना जा सकता है। अन्तमें किनका जन्म और जीवन सफल है उसे बतलाते हुए ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारके अभिप्रेतरूपमें प्रशस्ति दी गयी है, जिसमें प्रस्तुत ग्रन्थ योगसार-प्राभृतके एकाग्रचित्तसे पढ़नेके फलका भी निर्देश है (८२-८४)।

ग्रन्थका पूर्वानुवाद और उसकी स्थिति

इस ग्रन्थपर संस्कृतकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है। कुछ प्रतियोंके हाशियोंपर जो थोड़े-से टिप्पण पाये जाते हैं वे किसी-किसी शब्दका अर्थ द्योतन करनेके लिए कतिपय पाठकों-द्वारा अपने-अपने उपयोगार्थ नोट किये हुए जान पड़ते हैं और किसी एक ही विद्वान्की कृति मालूम नहीं होते, इसीसे उनमें सर्वत्र एकरूपता नहीं है। इन टिप्पणियोंके कितने ही नमूने ग्रन्थकी उन पाद-टिप्पणियोंमें दिये गये हैं जो पाठान्तरोंकी सूचना आदिसे भिन्न हैं।

हाँ, ग्रन्थपर अर्थ-भावार्थके रूपमें हिन्दीका एक पूर्वानुवाद जरूर उपलब्ध है, जो मुद्रित प्रतिके साथ प्रकाशित हुआ है, इस मुद्रित प्रतिका परिचय ग्रन्थ-प्रतियोंके परिचयमें सबसे पहले दिया जा चुका है। यह अनुवाद पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ-कृत है और आजसे ५० वर्ष पहले निर्मित होकर सन् १९१८ में मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित हुआ है। इस अनुवादके प्रस्तुत करनेमें पण्डितजीने कितना ही परिश्रम किया जान पड़ता है, जिसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं। परन्तु भाषा, लेखनशैली और प्रतिपादन-पद्धति आदिकी दृष्टिसे वह ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप नहीं बन पड़ा। अर्थकी गलतियाँ भी उसमें कितनी ही रही हुई हैं, जिनमें-से कुछ तो प्रायः मूलपाठकी अशुद्धियोंके कारण हुई जान पड़ती हैं, अनुवादकजीको ग्रन्थकी एक ही प्रति प्राप्त होनेसे मूलका ठीक संशोधन उससे नहीं बन सका और इसलिए अनुवादमें वैसी गलतियोंका होना प्रायः स्वाभाविक रहा। मूलपाठकी ऐसी अशुद्धियोंको प्रस्तुत भाष्यमें तुलनात्मक टिप्पणियों-द्वारा 'मु' अक्षरके अनन्तर दिये हुए पाठान्तरोंसे जाना जा सकता है तथा उनसे होनेवाले अर्थ-

भेदको समझा जा सकता है। ऐसे अशुद्ध पाठोंके कुछ नमूने उदाहरणके तौरपर उनके शुद्ध-रूप-सहित नीचे दिये जाते हैं—

अधिकार	पद्य	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१	३४	केवलेनैव बुध्यते	केवलेनेव बुध्यते
२	१२	एकैकाव्यतिरिक्तास्ते	एकैका व्यतिष्ठन्ते
३	१८	अचेतनत्वमज्ञत्वात्	अचेतनत्वमज्ञात्वा
३	४०	ज्ञायंते	त्यज्यंते
४	१	जीवस्वातंत्र्यकारणं	जीवाऽस्वातंत्र्यकारणं
४	११	मरणादिकमात्मनः	मरणादिकमात्मनः
७	११	ज्ञानी ज्ञेयो भवत्यज्ञो	ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो
८	२२	मुक्तेरासन्नभावेन	मुक्तेरासन्नभव्येन
८	४८	श्रवणं	स्त्रावणं
९	४	ज्ञानात्मके न चैतन्यं	ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये
९	८२	शिवमयं	शममयं

दूसरे प्रकारकी गलतियाँ अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेसे सम्बन्ध रखती हैं। उनमें कुछ ऐसी हैं जिनमें कतिपय शब्दोंका अर्थ ही छोड़ दिया गया है; जैसे पद्य ७।४७ में 'सांप्रते-क्षणाः' पदका और पद्य ८।९ में 'निर्यापकाः' पदका कोई अर्थ ही नहीं दिया—उन्हें अर्थमें ग्रहण ही नहीं किया। कुछ ऐसी हैं जिनमें शब्दोंका गलत अर्थ प्रस्तुत किया गया है; जैसे पद्य नं० ३।५० में 'विधिना विभक्तं' शब्दोंका अर्थ 'सर्वथा भिन्न', ४।१५ में 'कर्पटं' का अर्थ 'वस्त्र' की जगह 'सुवर्ण', ८।१८ में 'संज्ञावशीकृतः' का अर्थ 'आहारादि चतुर्विध संज्ञाओंके वशीभूत'के स्थानपर 'अभिमानके वशीभूत', ९।४५ में 'तज्ज्योतिः परमात्मनः' का अर्थ 'वह आत्माकी परं ज्योति' के स्थानपर 'वह परमात्माका प्रकाश है' और ९।६५ में प्रयुक्त 'स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षः' पदका अर्थ 'जिसकी आत्मा परमार्थसे विमुख है' ऐसा दिया है, जब कि वह इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखनेवाला अथवा रखता हुआ होना चाहिए था। इसके सिवा दो पद्योंको उनके गलत तथा समुचित अर्थके साथ भी नमूनेके तौरपर यहाँ दिया जाता है, जिससे अर्थका ठीक प्रतिभास न होनेको और भी अच्छी तरहसे समझा जा सकता है। साथ ही अनुवादकी भाषा, लेखन-शैली और प्रतिपादन-पद्धतिको भी कुछ समझा जा सकता है—

आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा ।

कथं तस्य फलं भुंक्ते स दत्ते कर्म वा कथम् ॥ २-४८ ॥

(गलत अर्थ) “यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्ता है तो वह कर्मोंके फलको क्यों भोगता है ? वा कर्म भी उसे क्यों फल देते हैं ?”

(समुचित अर्थ) “यदि यह निश्चित रूपसे माना जाय कि आत्मा आत्माके द्वारा—अपने ही उपादानसे—कर्मको करता है तो फिर वह उस कर्मके फलको कैसे भोगता है ? और वह कर्म (आत्माको) फल कैसे देता है ?—दोनोंके एक ही होनेपर फलदान और फलभोगकी बात नहीं बन सकती ?”

जायन्ते मोहलोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः ।

तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुतः ॥३-३९॥

(गलत अर्थ) “यद्यपि मोह-लोभ आदि दोषोंकी उत्पत्ति निश्चयसे होती है तथापि दोषोंसे जो आत्माके साथ कर्मोंका बन्ध होता है वह निश्चय नयसे नहीं।”

(समुचित अर्थ) “यद्यपि वस्तुके—परपदार्थके—निमित्तसे मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं तथापि कर्मका बन्ध उत्पन्न हुए दोषके कारण होता है न कि वस्तुके कारण—परपदार्थ बन्धका कारण नहीं, उसे बन्धका कारण माननेसे किसीका भी बन्धसे छूटना नहीं बन सकता।”

इस प्रकार यह पूर्वानुवादकी स्थितिका कुछ दिग्दर्शन है। अनुवादकी ऐसी त्रुटियों आदिको देखते हुए मुझे वह ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप नहीं जँचा और इसलिए ग्रन्थके महत्त्वको ख्यापित करने तथा लोकहितकी दृष्टिसे उसे प्रचारमें लानेके उद्देश्यसे मेरा विचार ग्रन्थका समुचित भाष्य रचनेकी ओर हुआ है। मैं उसमें कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

योगसार नामके दूसरे ग्रन्थ

‘योगसार’ नामके कुछ दूसरे ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जिनमें एक परमात्मप्रकाशके कर्ता योगीन्दुदेव कृत है जिसे ग्रन्थमें ‘जोगिचन्द्र’ लिखा है। यह अपभ्रंश भाषाके १०८ दोहोंमें अध्यात्म-विषयक उपदेशको लिये हुए है और परमात्मप्रकाशके साथ डॉ० ए० एन० उपाध्ये एम०ए०, डी०लिट्, कोल्हापुर-द्वारा सम्पादित होकर श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला-में पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्रीके हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हो चुका है। दूसरा ग्रन्थ ‘योगसार-संग्रह’ नामसे उक्त डॉ० ए० एन० उपाध्येके द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द्र दि० जैन मालामें प्रकाशित हुआ है। यह संस्कृतमें श्रीगुरुदासकी कृति है जो कि श्रीनन्दी गुरुके शिष्य थे। ये श्रीनन्दीगुरु श्रीनन्दनन्दिके शिष्य जान पड़ते हैं, जिनके पूर्व विशेषण रूपमें ‘श्रीनन्दनन्दिवत्सः’ पद दिया हुआ है, जो कि ‘श्रीनन्दनन्दिवत्स’-होना चाहिए। इस ग्रन्थकी पद्य संख्या १५८ है, जिनमें योग-विषयक कथन है, ध्यानोंका स्वरूप है, मंत्रोंके ध्यानकी विधि और ध्यानको दृढ करनेवाली द्वादश भावनाओं आदिका कथन है। तीसरा ‘योगसार’ नामका संस्कृत ग्रन्थ अज्ञात कर्तृक है। इसमें पाँच प्रस्ताव और २०६ पद्य हैं। प्रस्तावोंके नाम हैं—

१. यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशक, २. तत्त्वसारोपदेशक, ३. साम्योपदेशक, ४. सत्त्वोपदेशक, ५. भावशुद्धिजनकोपदेशक। इस तरह यह अध्यात्म-विषयका एक अच्छा औपदेशिक ग्रन्थ है और गुजराती अनुवादके साथ जैन साहित्यविकास मंडल बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है।

इन तीनों योगसार नामक ग्रन्थोंमें-से एक भी योगसार-प्राभृतके जोड़का नहीं। योगसार-प्राभृतकी पद्य-संख्या भी सबसे अधिक ५४० है।

उपसंहार और आभार

प्रस्तावनाको समाप्त करते हुए, सबसे पहले, मैं उन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारोंका आभार मानता हूँ जिनका भाष्यमें उपयोग हुआ है अथवा जिनके वाक्योंसे भाष्यको समृद्ध करके अधिक उपयोगी बनाया गया है। दूसरे, पं० दीपचन्द्रजी पांड्या केकडी (अजमेर) का

आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने दूसरे अधिकारसे लेकर अन्त तकके सब पद्योंको प्रायः एक-एक करके कापियोंके एक-एक पृष्ठपर लिख दिया और इससे मुझे उनका अनुवाद करनेमें बड़ी सुविधा तथा सहायता मिली और वह कोई एक महीनेमें ही ३१ मई १९६४ को सम्पन्न हो गया। इसके बाद व्याख्याका कार्य ११ जून १९६४ को आरम्भ होकर यथावकाश चलता रहा और ३१ जुलाई १९६५ को पूरा हो गया। भाष्यके पूरा हो जानेपर उसकी प्रेस-कापीकी चिन्ता खड़ी हुई, दो-एक विद्वानोंसे पत्र व्यवहार किया गया, उन्होंने आनेकी स्वीकारता भी दी, परन्तु अन्तको कोई भी नहीं आ सका और इससे प्रेस कापीका कार्य बराबर टलता रहा। यह देखकर और मेरी अस्वस्थतादिको मालूम करके चिरंजीव डॉ० श्रीचंदने अनुरोध किया कि प्रेस कापीका काम मुझे दिया जावे, बादमें आप उसका सुधार कर लें। उन्होंने सन् १९६७ में प्रेस कापी की (जो २ सितम्बर १९६७ को प्रेस भेजी गयी) और अच्छी कापी की, जिसमें मुझे सुधारके लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा, इसलिए वे आभारके पात्र हैं। यद्यपि वे अपने हैं और अपनोंका आभार प्रदर्शित करनेकी जरूरत नहीं होती; फिर भी चूँकि उन्होंने बहुत हिम्मतका काम किया है और मुझे निराकुल बनाया है, इसलिए मैं उनका आभार मानना अपना कर्तव्य समझता हूँ। अन्तमें भारतीय ज्ञानपीठ और उसके मंत्री श्री लक्ष्मीचन्दजीका आभार प्रकट किये बिना भी मैं नहीं रह सकता, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थको अपने यहाँसे प्रकाशित करनेकी स्वीकारता देकर और प्रकाशित करके मुझे अनुगृहीत किया है।

जुगलकिशोर मुख्तार

‘युगवीर’

एटा, आषाढ कृ० ५ सं २०२५

ता० १५ जून १९६८

विषय-सूची

१. जीवाधिकार	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
भाष्यका मंगलाचरण	२	ज्ञान स्वभावसे स्व-परको जानता है	१८
मूलका मंगलाचरण और उद्देश्य	३	क्षायिक-क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति	१९
स्वरूप-जिज्ञासासे जीवाजीव-लक्षणको जाननेकी सहेतुक प्रेरणा	४	केवलज्ञानकी त्रिकालगोचर सभी सत्-असत्-पदार्थोंको युगपत् जाननेमें प्रवृत्ति	१६
जीवाजीव-स्वरूपको वस्तुतः जाननेका फल	५	सत् और असत् पदार्थ कौन ?	१६
स्वरूपको परद्रव्य-बहिर्भूत जाननेका परिणाम	६	भूत-भावी पदार्थोंको जाननेका रूप	२०
जीवका लक्षण उपयोग और उसके दर्शन-ज्ञान दो भेद	६	ज्ञानके सब पदार्थोंमें युगपत् प्रवृत्त न होनेसे दोषापत्ति	२०
दर्शनके चार भेद और उसका लक्षण	७	आत्माके घातिकर्म-क्षयोत्पन्न-परमरूपकी श्रद्धाका पात्र	२१
ज्ञानका लक्षण और उसके आठ भेद	७	आत्माके परमरूप श्रद्धानीको अव्ययपदकी प्राप्ति	२२
केवलज्ञान-दर्शनादिके उदयमें कारण	८	आत्माके परमरूपकी अनुभूतिका मार्ग श्रुतके द्वारा भी केवल-सम आत्मबोधकी प्राप्ति	२२
केवलज्ञान-दर्शनकी युगपत् और शेषकी क्रमशः उत्पत्ति	९	आत्माके सम्यक् चारित्र कब होता है	२४
मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञानके कारणोंका निर्देश	९	ज्ञानके कषाय-वश होनेपर अहिंसादि कोई व्रत नहीं ठहरता	२५
मिथ्यात्वका स्वरूप और उसकी लीलाका निर्देश	१०	ज्ञानके आत्मरूप-रत होनेपर हिंसादिक पापोंका पलायन	२५
दर्शनमोहके उदयजन्य-मिथ्यात्वके तीन भेद	१०	आत्माके निर्मलज्ञानादिरूपध्यानसे कर्म-च्युति	२६
मिथ्यात्व-भावित-जीवकी मान्यता	११	पर-द्रव्य-रत-योगीकी स्थिति	२६
सम्यक्त्वका स्वरूप और उसकी क्षमता	११	निश्चय-चारित्रका स्वरूप	२६
सम्यक्त्वके क्षायिकादि भेद और उनमें साध्य-साधनता	११	व्यवहार-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का रूप	२७
आत्मा और ज्ञानका प्रमाण तथा ज्ञानका सर्वगतत्व	१२	स्वभाव-परिणत आत्मा ही वस्तुतः मुक्ति-मार्ग	२७
आत्मासे ज्ञान-ज्ञेयको अधिक माननेपर दोषापत्ति	१६	निश्चयसे आत्मा दर्शनज्ञान-चारित्ररूप	२८
ज्ञेय-क्षिप्त-ज्ञानकी व्यापकताका स्पष्टीकरण	१६	आत्मोपासनासे भिन्न शिव-सुख-प्राप्तिका कोई उपाय नहीं	२६
ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता	१७	आत्मस्वरूपकी अनुभूतिका उपाय	२९
ज्ञानस्वभाव से दूरवर्ती पदार्थोंको भी जानता है ।	१८		

विवक्षित-केवलज्ञानसे भिन्न आत्माका कोई परमरूप नहीं	२९	कालागुणोंकी संख्या और अवस्थिति	४४
परवस्तुमें अणुमात्र भी राग रग्वनेका परिणाम	३०	धर्म-अधर्म तथा पुद्गलोंकी अवस्थिति	४४
परमेष्ठिरूपकी उपासना परम पुण्यबन्धकी हेतु	३०	संसारि जीवोंकी लोकस्थिति और उनमें संकोच-विस्तार	४५
कर्मास्रवको रोकनेका अनन्य उपाय	३१	जीव-पुद्गलोंका अन्यद्रव्यकृत उपकार	४६
परद्रव्योपासक मुमुक्षुओंकी स्थिति	३१	संसारि और मुक्त जीवका उपकार	४६
परद्रव्य-विचिन्तक और विविक्तात्म-विचिन्तककी स्थिति	३२	संसारि जीवोंका पुद्गलकृत उपकार	४७
विविक्तात्माका स्वरूप	३२	परमार्थसे कोई पदार्थ किसीका कुछ नहीं करता	४७
आत्माके स्वभावसे वर्ण-गंधादिका अभाव शरीर-योगसे वर्णादिकी स्थितिका स्पष्टीकरण	३२	पुद्गलके चार भेद और उनकी स्वरूप-व्यवस्था	४८
रागादिक औदयिक भावोंको आत्माके स्वभाव माननेपर आपत्ति	३३	किस प्रकारके पुद्गलोंसे लोक कैसे भरा हुआ है	४९
जीवके गुणस्थानादि २० प्ररूपणाओंकी स्थिति	३३	द्रव्यके मूर्तामूर्त दो भेद और उनके लक्षण	४६
क्षायोपशमिक-भाव भी शुद्धजीवके रूप नहीं	३५	कौन पुद्गल किसके साथ कर्मभावको प्राप्त होते हैं	५०
कौन योगी कब किसका कैसे चिन्तन करता हुआ मुक्तिको प्राप्त होता है	३६	योग-द्वारा समायात-पुद्गलोंके कर्मरूप-परिणमनमें हेतु	५१
		आठ कर्मोंके नाम	५१
		जीव कल्मषोदय-जनित भावका कर्ता न कि कर्मका	५१
		कर्मोंकी विविधरूपसे उत्पत्ति कैसे होती है	५२
		जीव कभी कर्मरूप और कर्म जीवरूप नहीं होते	५३
		जीवके उपादान-भावसे कर्मोंके करने पर आपत्ति	५३
		कर्मके उपादान-भावसे जीवके करनेपर आपत्ति	५४
		उक्त दोनों मान्यताओंपर अनिवार्य-दोषापत्ति	५४
		पुद्गलोंके कर्मरूप और जीवोंके सराग-रूप परिणामके हेतु	५५
		कर्मकृत-भावका कर्तृत्व और जीवका अकर्तृत्व	५५
		कर्मसे भाव और भावसे कर्म इस प्रकार एक दूसरेका कर्तृत्व	५६
		क्रोधादिकृत-कर्मको जीवकृत कैसे कहा जाता है	५६
२. अजीवाधिकार			
अजीव-द्रव्योंके नाम	३७		
पाँचों अजीव-द्रव्योंकी सदा स्व-स्वभावमें स्थिति	३७		
अजीवोंमें कौन अमूर्तिक, कौन मूर्तिक और मूर्ति-लक्षण	३८		
जीव-सहित पाँचों अजीवोंकी द्रव्यसंज्ञा द्रव्यका व्युत्पत्तिपरक लक्षण और सत्तामय स्वरूप	३६		
सर्व-पदार्थगत-सत्ताका स्वरूप	४०		
द्रव्यका उत्पाद-व्यय पर्यायकी अपेक्षासे गुण-पर्यायके बिना द्रव्य और द्रव्यके बिना गुण-पर्याय नहीं	४०		
धर्माधर्मादि द्रव्योंकी प्रदेश-व्यवस्था	४१		
परमाणुका लक्षण	४१		
आकाश और पुद्गलोंकी प्रदेश-संख्या	४२		
	४४		

विषय-सूची		३७	
कर्मजनित देहादिक सब विकार चैतन्य-रहित हैं	५७	एकके किये हुए कर्मके फलको दूसरेके भोगनेपर आपत्ति	६९
त्रयोदश गुणस्थान और उनकी पौद्गलिकता	५७	कर्म कैसे जीवका आच्छादक होता है	७०
उक्त गुणस्थानोंको कौन जीव कहते हैं और कौन नहीं	५८	कषाय-स्रोतसे आया हुआ कर्म जीवमें ठहरता है	७०
प्रमत्तादि-गुणस्थानोंकी वन्दनासे चेतन मुनि वन्दित नहीं	५८	निष्कषाय-जीवके कर्मास्रव माननेपर दोषापत्ति	७०
वन्दनाकी उपयोगिता	५९	एक द्रव्यका परिणाम दूसरेको प्राप्त होनेपर दोषापत्ति	७१
अचेतन-देहके स्तुत होनेपर चेतनात्मा स्तुत नहीं होता	६०	पाँचवीं बुद्धि जिससे कर्मास्रव नहीं रुकता	७१
विभिन्नताका एक सिद्धान्त और उससे चेतनकी देहसे भिन्नता	६०	स्वदेह-परदेहके अचेतनत्वको न जाननेका फल	७२
जो कुछ इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबाह्य इन्द्रियगोचर-रूपका स्वरूप	६१	परमें आत्मीयत्व-बुद्धिका कारण कौन किससे उत्पन्न नहीं होता	७२
राग-द्वेषादि-विकार सब कर्मजनित	६२	कषाय-परिणाम किसके होते हैं और अपरिणामीका स्वरूप	७३
जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता	६२	परिणामको छोड़कर जीव-कर्मके एक दूसरेके गुणोंका कर्तृत्व नहीं	७३
आत्माको द्रव्यकर्मका कर्ता माननेपर दोषापत्ति	६३	पुद्गलापेक्षिक जीवभावोंकी उत्पत्ति और औदयिक भावोंकी स्थिति	७४
कर्मादयादि-संभव-गुण सब अचेतन अजीव-तत्त्वको यथार्थ जाने बिना स्व-स्वभावोपलब्ध नहीं बनती	६४	निरन्तर रजोग्राही कौन ?	७४
		कौन स्वपर-विवेकको प्राप्त नहीं होता	७४
		कर्म-संतति-हेतु अचारित्रका स्वरूप	७५
		राग-द्वेषसे शुभाशुभ-भावका कर्ता अचारित्र	७५
		स्व-चारित्रसे भ्रष्ट कौन ?	७६
		स्वचारित्रसे भ्रष्ट चतुर्गतिके दुःख सहते हैं	७६
		देवेन्द्रोंका विषय-सुख भी दुःख है	७६
		इन्द्रियजन्य सुख दुःख क्यों है ?	७७
		सांसारिक सुखको दुःख न माननेवाला अचारित्र	७७
		पुण्य-पापका भेद नहीं जाननेवाला चारित्र-भ्रष्ट	७७
		कौन सञ्चारित्रका पालन करता हुआ भी कर्मोंसे नहीं छूटता	७८
		बन्धका कारण वस्तु या वस्तुसे उत्पन्न दोष	७८
		शुद्ध-स्वात्माकी उपलब्धि किसे होती है	७९
३. आस्रवाधिकार			
आस्रवके सामान्य हेतु	६५		
आस्रवके विशेष हेतु	६६		
मोहको बढ़ानेवाली बुद्धि	६६		
उक्त बुद्धिसे महाकर्मास्रव	६७		
एक दूसरी बुद्धि जिससे मिथ्यात्व नहीं छूट पाता	६७		
कर्मास्रवकी हेतुभूत एक तीसरी बुद्धि	६७		
चौथी बुद्धि जिससे कर्मास्रव नहीं रुकता	६८		
निश्चय और व्यवहारसे आत्माका कर्तृत्व	६८		
जीव-परिणामाश्रित कर्मास्रव, कर्मादयाश्रित जीव-परिणाम	६८		
किसका किसके साथ कार्य-कारणभाव	६९		
कर्मको जीवका कर्ता माननेपर आपत्ति	६९		

४. बन्धाधिकार

बन्धका लक्षण	८०
प्रकृति-स्थित्यादिके भेदसे कर्मबन्धके चार भेद	८०
चारों बन्धोंका सामान्य रूप	८०
कौन जीव कर्म बाँधता है और कौन नहीं बाँधता	८१
पूर्वकथनका उदाहरणों-द्वारा स्पष्टीकरण	८१
अमूर्त आत्माका मरणादि करनेमें कोई समर्थ नहीं, फिर भी मरणादिके परिणामसे बन्ध	८२
मरणादिक सब कर्म-निर्मित, अन्य कोई करने-हरनेमें समर्थ नहीं	८३
जिलाने-मारने आदिकी सब बुद्धि मोह-कल्पित	८३
कोई किसीके उपकार-अपकारका कर्ता नहीं, कर्तृत्वबुद्धि मिथ्या	८४
चारित्र्यादिकी मलिनताका हेतु मिथ्यात्व	८५
मलिन चारित्र्यादि दोषके ग्राहक हैं	८५
अप्रासुक द्रव्यको भोगता हुआ भी वीतरागी अबन्धक	८६
न भोगता हुआ भी सरागी पाप-बन्धक	८६
विषयोंका संग होनेपर भी ज्ञानी उनसे लिप्त नहीं होता	८६
नीरागी योगी परकृतादि अहारादिसे बन्धको प्राप्त नहीं होता	८७
पर-द्रव्यगत-दोषसे नीरागीके बँधनेपर दोषापत्ति	८७
वीतराग-योगी विषयको जानता हुआ भी नहीं बँधता	८७
ज्ञानी जानता है वेदता नहीं, अज्ञानी वेदता है जानता नहीं	८८
ज्ञान और वेदनमें स्वरूप-भेद	८८
अज्ञानमें ज्ञान और ज्ञानमें-अज्ञान-पर्याय नहीं है	८८
ज्ञानी कल्मषोंका अबन्धक और अज्ञानी बन्धक होता है	८९
कर्मफलको भोगनेवाले ज्ञानी-अज्ञानीमें अन्तर	८९

कर्म-ग्रहणका तथा सुगति-दुर्गति-गमन-का हेतु	९०
संसार-परिभ्रमणका हेतु और निर्वृत्तिका उपाय	९०
रागादिसे युक्त जीवका परिणाम	९१
कौन परिणाम पुण्य, कौन पाप, दोनोंकी स्थिति	९१
पुण्य-पाप-फलको भोगते हुए जीवकी स्थिति	९२
पुण्य-पापके वश अमूर्त भी मूर्त हो जाता है	९२
उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण	९२
पुण्य-बन्धके कारण	९३
पाप-बन्धके कारण	९४
पुण्य-पापमें भेद-दृष्टि	९४
पुण्य-पापमें अभेद-दृष्टि	९४
निर्वृत्तिका पात्र योगी	९५

५. संवराधिकार

संवरका लक्षण और उसके भेद	९६
भाव तथा द्रव्य-संवरका स्वरूप	९६
कषाय और द्रव्यकर्म दोनोंके अभावसे पूर्णशुद्धि	९६
कषाय-त्यागकी उपयोगिताका सहेतुक निर्देश	९७
कषाय-क्षपणमें समर्थ योगी	९७
मूर्त-पुद्गलोंमें राग-द्वेष करनेवाले मूढ-बुद्धि	९८
किसीमें रोष-तोष न करनेकी सहेतुक प्रेरणा	९८
अपकार-उपकार बननेपर किसमें राग-द्वेष किया जावे ?	९९
शरीरका निग्रहानुग्रह करनेवालोंमें राग-द्वेष कैसा ?	९९
अदृश्य-आत्माओंका निग्रहानुग्रह कैसे ?	९९
शरीरको आत्माका निग्रहानुग्रहक मानना व्यर्थ	१००
किसीके गुणोंको करने-हरनेमें कोई समर्थ नहीं	१००

ज्ञानादिक-गुणोंका किसीके द्वारा हरण- सृजन नहीं	१००	शुद्धज्ञाता परके त्याग-ग्रहणमें प्रवृत्त नहीं होता	१०९
शरीरादिक व्यवहारसे मेरे हैं, निश्चयसे नहीं	१०१	सामायिकादि षट् कर्मोंमें सभक्ति-प्रवृत्त- के संवर	१०९
दोनों नयोंसे स्व-परको जाननेका फल	१०१	सामायिकका स्वरूप	१०९
द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा कर्म-फल-भोगकी व्यवस्था	१०२	स्तवका स्वरूप	११०
आत्मा औदयिक भावोंके द्वारा कर्मका कर्ता तथा फलभोक्ता	१०३	वन्दनाका स्वरूप	११०
इन्द्रिय-विषय आत्माका कुछ नहीं करते	१०३	प्रतिक्रमणका स्वरूप	१११
द्रव्यके गुण-पर्याय संकल्प-बिना इष्टा- निष्ट नहीं होते	१०४	प्रत्याख्यानका स्वरूप	१११
निन्दा-स्तुति-वचनोंसे रोप-तोषको प्राप्त होना व्यर्थ	१०४	कायोत्सर्गका स्वरूप	१११
मोहके दोषसे बाह्यवस्तु सुख-दुःखकी दाता	१०४	सम्यग्ज्ञानपरायण आत्मज्ञ-योगी कर्मोंका निरोधक	११२
वचन-द्वारा वस्तुतः कोई निन्दित या स्तुत नहीं होता	१०४	कोई द्रव्यसे भोजक तो भावसे अभोजक, दूसरा इसके विपरीत	११२
पर-दोष-गुणोंके कारण हर्ष-विषाद नहीं बनता	१०५	द्रव्य-भावसे निवृत्तोंमें कौन किसके द्वारा पूज्य	११३
परके चिन्तनसे इष्ट-अनिष्ट नहीं होता	१०५	भावसे निवृत्त ही वास्तविक-संवरका अधिकारी	११३
एक दूसरेके विकल्पसे वृद्धि-हानि मानने पर आपत्ति	१०५	भावसे निवृत्त होनेकी विशेष प्रेरणा	११३
वस्तुतः कोई द्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं	१०६	शरीरात्मक लिंग मुक्तिका कारण नहीं	११४
पावन रत्नत्रयमें जीवका स्वयं प्रवर्तन	१०६	मुमुक्षुके लिए त्याज्य और ग्राह्य	११४
स्वयं आत्मा परद्रव्यको श्रद्धानादिगोचर करता है	१०६	कौन योगी शीघ्र कर्मोंका संवर करता है	११५
मोह अपने संगसे जीवको मलिन करता है	१०७	६. निर्जराधिकार	
मोहका विलय हो जाने पर स्वरूपकी उपलब्धि	१०७	निर्जराका लक्षण और दो भेद	११६
जो मोहका त्यागी वह अन्य सब द्रव्यों- का त्यागी	१०७	पाकजा-अपाकजा निर्जराका स्वरूप	११६
परद्रव्यमें राग-द्वेष-विधाताकी तपसे शुद्धि नहीं होती	१०८	अपाकजा निर्जराकी शक्तिका सोदाहरण- निर्देश	११६
कर्म करता और फल भोगता हुआ आत्मा कर्म बाँधता है	१०८	परमनिर्जरा-कारक ध्यान-प्रक्रमका अधिकारी	११७
सारे कर्मफलको पौद्गलिक जाननेवाला शुद्धात्मा बनता है	१०८	कौन योगी कर्मसमूहकी निर्जराका कर्ता	११७
		संवरके बिना निर्जरा वास्तविक नहीं	११७
		किसका कौन ध्यान कर्मोंका क्षय करता है	११८
		कौन योगी सारे कर्ममलको धो डालता है	११८
		विशुद्धभावका धारी कर्मक्षयका अधिकारी	११६
		शुद्धात्मतत्त्वको न जाननेवालेका तप कार्यकारी नहीं	११९

किस संयमसे किसके द्वारा कर्मकी निर्जरा होती है	११९	ज्ञानकी आराधना ज्ञानको, अज्ञानकी अज्ञानको देती है	१२८
कौन योगी कर्मरजको स्वयं धुन डालता है	१२०	ज्ञानके ज्ञात होनेपर ज्ञानी जाना जाता है	१२८
लोकाचारको अपनानेवाले योगीका संयम क्षीण होता है	१२०	ज्ञानानुभवसे हीनके अर्थज्ञान नहीं बनता	१२९
अर्हद्वचनकी श्रद्धा न करनेवाला सुचारित्री भी शुद्धिको नहीं पाता	१२०	जिस परोक्षज्ञानसे विषयकी प्रतीति उससे ज्ञानीकी प्रतीति क्यों नहीं ?	१२६
जिनागमको न जानता हुआ संयमी अन्धे-के समान	१२१	जिससे पदार्थ जाना जाय उससे ज्ञानी न जाना जाय, यह कैसे ?	१२६
किसका कौन नेत्र	१२१	वेद्यको जानना वेदकको न जानना आश्चर्यकारी	१३०
आगम प्रदर्शित सारा अनुष्ठान किसके निर्जराका हेतु	१२२	ज्ञेयके लक्ष्यसे आत्माके शुद्धरूपको जानकर ध्यानेका फल	१३०
अज्ञानी-ज्ञानीके विषय-सेवनका फल	१२२	पूर्वकथनका उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण	१३०
कर्मफलको भोगते हुए- किसके बन्ध और किसके निर्जरा	१२२	आत्मोपलब्धिपर ज्ञानियोंकी सुख-स्थिति	१३१
निष्किंचन-योगी भी निर्जराका अधिकारी	१२३	आत्मतत्त्वरतोंके द्वारा परद्रव्यका त्याग	१३१
विविक्तात्माको छोड़कर अन्योपासककी स्थिति	१२३	विशोधित ज्ञान तथा अज्ञानकी स्थिति	१३१
स्वदेहस्थ-परमात्माको छोड़कर अन्यत्र देवोपासककी स्थिति	१२३	निर्मल-चेतनमें मोहके दिखाई देनेका हेतु	१३२
कौन कर्म-रज्जुओंसे बँधता और कौन छूटता है	१२४	शुद्धिके लिए ज्ञानाराधनमें बुद्धिको लगानेकी प्रेरणा	१३२
प्रमादी सर्वत्र पापोंसे बँधता और अप्र-मादी छूटता है	१२४	निर्मलताको प्राप्त ज्ञानी अज्ञानको नहीं अपनाता	१३२
स्वनिर्मल तीर्थको छोड़कर अन्यको भजने-वालोंकी स्थिति	१२४	विद्वान्के अध्ययनादि कार्योंकी दिशाका निर्देश	१३३
स्वात्मज्ञानेच्छुकको परीषहोंका सहना आवश्यक	१२५	योगीका संक्षिप्त कार्यक्रम और उसका फल	१३३
सुख-दुःखमें अनुबन्धका फल	१२५		
आत्मशुद्धिका साधन आत्मज्ञान, अन्य नहीं	१२६	७. मोक्षाधिकार	
परद्रव्यसे आत्मा स्पृष्ट तथा शुद्ध नहीं होता	१२६	मोक्षका स्वरूप	१३५
स्वात्मरूपकी भावनाका फल परद्रव्यका त्याग	१२६	आत्मामें केवलज्ञानका उदय कब होता है	
आत्मद्रव्यको जाननेके लिए परद्रव्यका जानना आवश्यक	१२७	दोषोंसे मलिन आत्मामें केवलज्ञान उदित नहीं होता	१३६
जगत्के स्वभावकी भावनाका लक्ष्य	१२७	मोहादि-दोषोंका नाश शुद्धात्मध्यानके बिना नहीं होता	१३६
एक आश्चर्यकी बात	१२७	ध्यान-वज्रसे कर्मग्रन्थिका छेद अती-वानन्दोत्पादक	१३६

विषय-सूची		४१	
किस केवलीकी कब धर्मदेशना होती है	१३७	उक्त ध्यानकी बाह्य सामग्री	१४९
ज्ञान किस प्रकार आत्माका स्वभाव है	१३८	बुद्धिके त्रेधा संशोधकको ध्यानकी प्राप्ति	१५०
आत्माका चैतन्यरूप क्यों स्वकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता	१३८	विद्वत्ताका परम फल आत्मध्यानरति	१५१
प्रतिबन्धकके बिना ज्ञानी ज्ञेय-विषयमें अज्ञ नहीं रहता	१३८	मूढचेतों और अध्यात्मरहित पंडितोंका संसार क्या ?	१५१
ज्ञानीके देशादिका विप्रकर्ष कोई प्रतिबन्ध नहीं	१३९	ज्ञानबीजादिको पाकर भी कौन सद्-ध्यानकी खेती नहीं करते	१५१
ज्ञानस्वभावके कारण आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी	१४०	भोगासक्तिमें ध्यान-त्यागी विद्वानोंके मोहको धिक्कार	१५२
केवली शेष किन कर्मोंको कैसे नष्ट कर निवृत्त होता है	१४०	मोही जीवों-विद्वानों आदिकी स्थिति	१५२
शुद्धध्यानसे कर्म नहीं छिड़ता. ऐसा वचन अनुचित	१४१	ध्यानके लिए तत्त्वश्रुतिकी उपयोगिता	१५३
सुखीभूत निवृत्तजीव फिर संसारमें नहीं आता	१४१	भोगबुद्धि त्याज्य और तत्त्वश्रुति ग्राह्य	१५३
कर्मका अभाव हो जानेसे पुनः शरीरका ग्रहण नहीं बनता	१४२	ध्यानका शत्रु कुतर्क त्याज्य	१५४
ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानना असंगत	१४२	मोक्षतत्त्वका सार	१५४
ज्ञानादिगुणोंके अभावमें जीवकी व्यवस्थिति नहीं बनती	१४३	८. चारित्राधिकार	
बिना उपायके बन्धको जानने-मात्रसे कोई मुक्त नहीं होता	१४३	मुमुक्षुको जिनलिङ्ग-धारण करना योग्य	१५६
जीवके शुद्धाशुद्धकी अपेक्षा दो भेद	१४४	जिनलिङ्गका स्वरूप	१५६
शुद्ध-जीवको अपुनर्भव करनेका हेतु	१४५	जिन-दीक्षा देनेके योग्य गुरु और श्रमणत्वकी प्राप्ति	१५७
मुक्तिमें आत्मा किस रूपसे रहता है	१४५	श्रमणके कुछ मूलगुण	१५७
ध्यानका मुख्य फल और उसमें यत्नकी प्रेरणा	१४६	मूलगुणोंके पालनमें प्रमादी मुनि छेदोपस्थापक	१५८
ध्यान-मर्मज्ञ योगियोंका हितरूप वचन	१४६	श्रमणोंके दो भेद सूरि और निर्यापक	१५८
परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय	१४७	चारित्रमें छेदोत्पत्तिपर उसकी प्रतिक्रिया	१५९
आत्मा ध्यानविधिसे कर्मोंका उन्मूलक कैसे ?	१४७	विहारका पात्र श्रमण	१५९
विविक्तात्माका ध्यान अचिन्त्यादि फलका दाता	१४७	किस योगीके श्रमणताकी पूर्णता होती है	१६०
उक्त ध्यानसे कामदेवका सहज हनन	१४८	निर्ममत्व-प्राप्त योगी किनमें राग नहीं रखता	१६०
वाद-प्रवादको छोड़कर अध्यात्म-चिन्तनकी प्रेरणा	१४८	अज्ञादिमें प्रमादचारी साधुके निरन्तर हिंसा	१६१
विद्वानोंको सिद्धिके लिए सदुपाय कर्तव्य	१४८	यत्नाचारीकी क्रियाएँ गुणकारी, प्रमादीकी दोषकारी	१६१
अध्यात्म-ध्यानसे भिन्न सदुपाय नहीं	१४९	पर-पीडक साधुमें ज्ञानके होते हुए भी चारित्र मलिन	१६१
		भवाभिनन्दी मुनियोंका रूप	१६२
		भवाभिनन्दियों द्वारा आहत लोकपंक्ति-का स्वरूप	१६३

धर्मार्थ लोक-पंक्ति और लोक-पंक्तिके लिए धर्म	१६३	जिनलिङ्ग-ग्रहणमें बाधक व्यङ्ग व्यङ्गका वास्तविक रूप	१७८
मुक्ति-मार्गपर तत्पर होते हुए भी सभीको मुक्ति नहीं	१६४	व्यावहारिक व्यंग सल्लेखनाके समय अव्यंग नहीं होता	१७६
भवाभिनन्दियोंका मुक्तिके प्रति विद्वेष	१६४	कौन श्रमण अनाहार कहे जाते हैं	१७६
जिनके मुक्तिके प्रति विद्वेष नहीं वे धन्य	१६४	केवलदेह-साधुका स्वरूप	१८०
मुक्तिमार्गको मलिनचित्त मलिन करते हैं	१६७	केवलदेह-साधुकी भिक्षाचर्याका रूप	१८०
मुक्तिमार्गके आराधन तथा विराधनका फल	१६७	वर्जित मांस दोष	१८१
मार्गकी मलिनतासे होनेवाले अनर्थका सूचन	१६७	मधु-दोष तथा अन्य अनेशनीय पदार्थ	१८१
हिंसा-पापका बन्ध किसको और किसको नहीं	१६८	हस्तगतपिण्ड दूसरेको देकर भोजन करनेवाला यति दोषका भागी	१८३
पूर्व कथनका स्पष्टीकरण	१६६	बाल-वृद्धादि यतियोंको चारित्राचरणमें दिशाबोध	१८४
अन्तरंग-परिग्रहको न छोड़कर बाह्यको छोड़नेवाला प्रमादी	१६६	स्वल्पलेपी यति कब होता है	१८४
अन्तःशुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि अविश्वसनीय	१७०	तपस्वीको किस प्रकारके काम नहीं करने	१८४
प्रमादी तथा निष्प्रमादी योगीकी स्थिति	१७०	आगमकी उपयोगिता और उसमें सादर प्रवृत्तिकी प्रेरणा	१८५
जीवघात होनेपर बन्ध हो न भी हो, परिग्रहसे उसका होना निश्चित	१७१	समान अनुष्ठानके होनेपर भी परिणामादिसे फल-भेद	१८८
एक भी परिग्रहके न त्यागनेका परिणाम	१७१	बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे सारे कर्म भेदरूप	१८६
चेलखण्डका धारक साधु निरालम्ब-निरारम्भ नहीं हो पाता	१७२	बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहका स्वरूप	१८६
वस्त्र-पात्र-ग्राही योगीके प्राणघात और चित्तविक्षेप अनिवार्य	१७२	बुद्ध्यादिपूर्वक कार्योंके फलभेदकी दिशा-सूचना	१८९
विक्षेपकी अनिवार्यता और सिद्धिका अभाव	१७२	बुद्धिपूर्वक सब कार्य संसारफलके दाता	१९०
जिसका ग्रहण-त्याग करते कोई दोष न लगे उसमें प्रवृत्तिकी व्यवस्था	१७३	ज्ञानपूर्वक कार्य मुक्तिहेतुक	१९०
कौन पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए	१७४	असम्मोह-पूर्वक कार्य निर्वाणसुखके प्रदाता	१९०
कायसे भी निस्पृह मुमुक्षु कुछ नहीं ग्रहण करते	१७४	भवातीतमार्ग-गामियोंका स्वरूप	१९१
स्त्रियोंका जिनलिङ्ग-ग्रहणसव्यपेक्ष क्यों?	१७४	भवातीतमार्ग-गामियोंका मार्ग सामान्यकी तरह एक ही	१९१
पूर्वप्रश्नका उत्तर : स्त्री पर्यायसे मुक्ति न होना आदि	१७५	शब्दभेदके होनेपर भी निर्वाण-तत्त्व एक ही है	१९१
कौन पुरुष जिनलिङ्ग-ग्रहणके योग्य	१७७	विमुक्तादि शब्द अन्वर्थक	१९२
		निर्वाण-तत्त्व तीन विशेषणोंसे युक्त	१९३
		असम्मोहसे ज्ञात-निर्वाण-तत्त्वमें कोई विवाद तथा भेद नहीं होता	१९३
		निर्वाण मार्गकी देशनाके विचित्र होनेका कारण	१९३

उक्त चारित्र व्यवहारसे मुक्तिहेतु, निश्चय- से विविक्त चेतनका ध्यान	१९४	भोगोंको तत्त्व-दृष्टिसे देखनेवालोंकी स्थिति	२०३
व्यावहारिक चारित्रके दो भेद	१९४	भोग-मायासे विमोहित जीवकी स्थिति	२०४
कौन चारित्र मुक्तिके अनुकूल और कौन संस्कृति के	१९५	धर्मसे उत्पन्न भोग भी दुःख-परम्पराका दाता	२०४
जिनभाषित-चारित्र कैसे मुक्तिके अनुकूल है	१९५	विवेकी विद्वानोंकी दृष्टिमें लक्ष्मी और भोग	२०४
उक्त व्यवहार-चारित्रके बिना निश्चय- चारित्र नहीं बनता	१९५	भोग-संसारसे सच्चा वैराग्य कब उत्पन्न होता है	२०५
उक्त चारित्रके अनुष्ठाता योगीकी स्थिति	१९६	निर्वाणमें परमाभक्ति और उसके लिए कर्तव्य	२०५
६. चूलिकाधिकार		ज्ञानी पापोंसे कैसे लिप्त नहीं होता	२०६
मुक्तात्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभावको लिये सदा आनन्दरूप रहता है	१९७	ज्ञानकी महिमाका कीर्तन	२०६
मुक्तात्माका चैतन्य निरर्थक नहीं	१९७	कौन तत्त्व किसके द्वारा वस्तुतः चिन्तन- के योग्य है	२०६
चैतन्यको आत्माका निरर्थक स्वभाव मानने पर दोषापत्ति	१९८	परमतत्त्व कौन और उससे भिन्न क्या	२०७
सत्का अभाव न होनेसे मुक्तिमें आत्मा- का अभाव नहीं बनता	१९८	मुमुक्षुओंको किसी भी तत्त्वमें आग्रह नहीं करना	२०७
चन्द्रकान्ति और मेघके उदाहरण-द्वारा विषयका स्पष्टीकरण	१९९	आग्रह-वर्जित तत्त्वमें कर्ता-कर्मादिका विकल्प नहीं	२०७
आत्मापर छाये कर्मोंको योगी कैसे क्षण- भरमें धुन डालता है	१९९	आत्मस्थित-कर्म, वर्गणाएँ कभी आत्म- तत्त्वको प्राप्त नहीं होतीं	२०८
योगीके योगका लक्षण	२००	कर्मजन्य स्थावर विकार आत्माके नहीं बनते	२०८
योगसे उत्पन्न सुखकी विशिष्टता	२००	जीवके रागादिक-परिणामोंकी स्थिति	२०८
सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण	२००	जीवके कषायादिक-परिणामोंकी स्थिति	२०९
उक्त लक्षणकी दृष्टिसे पुण्यजन्यभोगों और योगजन्य ज्ञानकी स्थिति	२०१	कषाय-परिणामोंका स्वरूप	२०९
निर्मलज्ञान स्थिर होनेपर ध्यान हो जाता है	२०१	कालुष्य और कर्ममें-से एकके नाश होने- पर दोनोंका नाश	२०९
भोगका रूप और उसे स्थिर-वास्तविक समझनेवाले	२०१	कलुषताका अभाव होनेपर परिणामोंकी स्थिति	२०९
यह संसार आत्माका महान् रोग	२०२	कलुषताका अभाव हो जानेपर जीवकी स्थिति	२१०
सर्व संसार-विकारोंका अभाव होने पर मुक्तजीवकी स्थिति	२०२	आत्माके शुद्धस्वरूपकी कुछ सूचना	२१०
उदाहरण-द्वारा पूर्वकथनका समर्थन	२०२	आत्माकी परंज्योतिका स्वरूप	२१०
किसके भोग संसारका कारण नहीं होते	२०३	स्वस्वभावमें स्थित पदार्थोंको कोई अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं	२११
भोगोंको भोगता हुआ भी कौन परम- पदको प्राप्त होता है	२०३	मिलनेवाले परद्रव्योंसे आत्माको कैसे अन्यथा नहीं किया जा सकता	२११

भिन्न-ज्ञानोपलब्धिसे देह और आत्माका भेद	२१२	इन्द्रिय-विषयोंके स्थिति	स्मरण-निरोधककी	२१७
कर्म जीवके और जीव कर्मके गुणोंको नहीं घातता	२१२	भोगको भोगता हुआ कौन बन्धको प्राप्त होता है कौन नहीं		२१८
जीव और कर्ममें पारस्परिक परिणामकी निमित्तता न रहनेपर मोक्ष	२१२	विषयोंको जानता हुआ ज्ञानी बन्धको प्राप्त नहीं होता		२१८
युक्त-भावके साथ आत्माकी स्फटिकसम-तन्मयता	२१३	महामूढ इन्द्रिय-विषयोंको न ग्रहण करता हुआ भी बन्धकर्ता		२१८
आत्माको आत्मभावके अभ्यासमें लगाना आवश्यक	२१३	किसका प्रत्याख्यानादि कर्म व्यर्थ है		२१९
कर्ममलसे पूर्णतः पृथक् हुआ आत्मा फिर उस मलसे लिप्त नहीं होता	२१३	दोषोंके प्रत्याख्यानसे कौन मुक्त है		२१९
घटोपादान-मृत्तिकाके समान कर्मका उपादान कलुषता	२१४	दोषोंके विषयमें रागी-वीतरागीकी स्थिति		२२०
कषायादि करता हुआ जीव कैसे कषायादिरूप नहीं होता ?	२१४	औद्यिक और पारिणामिक भावोंका फल		२२०
सर्वकर्मोंका कर्ता होते हुए कौन निराकर्ता होता है	२१५	विषयानुभव और स्वात्मानुभवमें उपादेय कौन		२२०
विषयस्थ होते हुए भी कौन लिप्त नहीं होता	२१५	वैषयिक ज्ञान सब पौद्गलिक		२२१
देह-चेतनके तात्त्विक भेद-ज्ञाताकी स्थिति	२१६	मानवोंमें बाह्यभेदके कारण ज्ञानमें भेद नहीं होता		२२१
जीवके त्रिविध-भावोंकी स्थिति और कर्तव्य	२१६	किस ज्ञानसे ज्ञेयको जानकर उसे त्यागा जाता है		२२२
निरस्ताखिलकल्मष-योगीका कर्तव्य	२१६	विकारहेतुके देशच्छेद तथा मूलच्छेदका परिणाम		२२२
इन्द्रिय-विषयोंके स्मरणकर्ताकी स्थिति	२१७	देशच्छेद और मूलच्छेदके विषयका स्पष्टीकरण		२२३
भोगको न भोगने-भोगनेवाले किन्हीं दोकी स्थिति	२१७	किनका जन्म और जीवन सफल है		२२४
		ग्रन्थ और ग्रन्थकारके अभिप्रेतरूप प्रशस्ति		२२४
		भाष्यका अन्त्यमंगल और प्रशस्ति		२२७

परिशिष्ट

२२९ से २३६

योगसार-प्राभृत

अहं

भाष्यका मंगलाचरण

योगानलमें जला कर्म-मल, किया जिन्होंने आत्म-विकास,
भव-बन्धनसे छूट निराकुल करते जो लोकाग्र-निवास ।
उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थ मैं वन्दूँ धार हृदय उल्लास,
मंगलकारी ध्यान जिन्होंका, महागुणोंके जो आवास ॥ १ ॥

मोह-विघ्न-आवरण नाश जिन, पाया केवलज्ञान अपार,
सब जीवोंको मोक्ष मार्गका दिया परम उपदेश उदार ।
जिनकी दिव्य-ध्वनिसे जगमें तीर्थ प्रवर्ता हुआ सुधार,
उन अहंतोंको प्रणमूँ मैं भक्ति-भावसे वारंवार ॥ २ ॥

योग-सार-प्राभृत है अनुपम, सिद्धि-सौख्यका जो आधार,
तत्त्वोंका अनुशासन जिसमें, कहें जिसे 'परमागम-सार' ।
योगिराज-निःसंग-अमितगति-रचित जिनागमके अनुसार,
व्याख्या सुगम करूँ मैं उसकी, निज-परके हितको उर धार ॥ ३ ॥



मूलका मंगलाचरण और उद्देश्य

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये ।

स्व-स्वभाव-मयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषम् ॥ १ ॥

‘मैं अपने स्वभावकी उपलब्धिके लिए—जानकारी एवं संप्राप्तिके अर्थ—उस सिद्धको—सिद्धिको प्राप्त सिद्धसमूहको—स्तुतिगोचर करता हूँ—अपनी उपासनाका विषय (उपास्य) बनाता हूँ—जो विविक्त है—शुद्ध एवं खालिस है,—कषायादिमलसे रहित है, बोधको प्राप्त है, अविनाशी है, नित्य है और स्व-स्वभाव-मय है—सदा अपने स्वरूपमें स्थित है ।’

व्याख्या—यह पद्य सिद्ध-समूहकी स्तुतिरूप है । एकवचनात्मक ‘सिद्धं’ पद यहाँ सिद्ध-समूहका वाचक है; क्योंकि सिद्ध कोई एक नहीं है, अनेकानेक हैं; जैसा कि पूर्वाचार्योंके ‘वंदित्तु सव्वसिद्धे’, सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदधान्’ जैसे बहुवचनान्त-पदोंके प्रयोगसे जाना जाता है । उस सिद्ध-समूहमें प्रत्येक सिद्ध उन विशेषणोंसे विशिष्ट है जिनका ‘विविक्तं’ आदि छह विशेषण-पदोंके द्वारा यहाँ स्मरण किया गया है । इन विशेषणोंमें ‘विविक्तं’ विशेषण प्रमुख तथा गूढ-गम्भीर है, सर्वप्रकारके मिश्रण-मिलाव और सम्बन्धसे रहित शुद्ध एवं खालिस आत्माका द्योतक है । ‘विकल्मष’ विशेषण राग-द्वेष-कांम-क्रोध-मान-माया-लोभादिरूप विकारों-मलोंके अभावका सूचक है और इस तरह सिद्धात्माकी उस शुद्धताको स्पष्ट करता है । ‘बुद्ध’ विशेषण उस मलरहित शुद्ध-आत्माको ज्ञानरूप प्रकट करता है जो कि मलके अभावका फल है—ज्ञानसे भिन्न शुद्ध-आत्माका कोई दूसरा रूप नहीं है, इसीसे आत्माको ज्ञान तथा ज्ञान-प्रमाण कहा गया है ।^३ ‘अव्यय’ विशेषण अच्युतका वाचक है और इस बातको बतलाता है कि वह सिद्धात्मा अपने इस शुद्ध-बुद्ध स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होता—सिद्ध-पर्यायको छोड़कर भव या अवतार धारणादिके रूपमें कभी संसारी नहीं बनता और न उसमें कभी कोई विक्रिया ही उत्पन्न होती है ।^४ ‘ध्रुव’ विशेषण इस बातका व्यंजक है कि सिद्धका आत्मा सदा स्थिर रहता है—कभी उसका अभाव नहीं होता । और ‘स्वभावमय’ विशेषण सिद्धात्माके उक्त सब रूपको उसका स्वभाव व्यक्त करता है जिसका कर्म-मलके सम्बन्धसे तिरोभाव हो रहा था और जिसको सिद्ध करके ही यह आत्मा सिद्धिको प्राप्त सिद्धात्मा बनता है । इसीसे सिद्धिका लक्षण ‘स्वात्मोपलब्धि’ कहा गया है । ये सब विशेषण जिसमें घटित नहीं होते वह सिद्ध या सिद्ध-समूह यहाँ विवक्षित नहीं है ।

‘स्तौमि’ पदके द्वारा स्तुति-वन्दनाके रूपमें जिस उपासनाका यहाँ उल्लेख है उसका उद्देश्य भी ‘स्वस्वभावोपलब्धये’ पदके द्वारा साथमें दे दिया गया है, जो यह व्यक्त करता है कि स्वस्वभावमें स्थित सिद्ध-समूहकी मेरी यह उपासना स्वस्वभावकी—आत्माके वास्तविक स्वरूपकी—प्राप्तिके लिए है । और यह ठीक ही है, जो आत्मसाधन कर अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर चुका है उसीकी उपासना—आराधनासे तद्विषयक सिद्धिकी प्राप्ति होती है । इसी

१. समयसार १ । २. सिद्धभक्ति १ । ३. प्रवचनसार ३ । ४. जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके इस वाक्यसे प्रकट है—काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या । उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥—समी० धर्म० १३३ । ५. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः—सिद्धभक्ति १ ।

भावको लेकर मोक्षशास्त्रके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगल-पद्यमें 'वन्दे तद्गुणलब्धये' इस वाक्यकी सृष्टि हुई है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्वभावका तो कभी अभाव नहीं होता, वह सदा वस्तुमें विद्यमान रहता है; तब यह स्वभावकी उपलब्धि कैसी? और उसके लिए प्रयत्न कैसा? इसके उत्तरमें मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह ठीक है कि स्वभावका कभी अभाव नहीं होता परन्तु उसका तिरोभाव (आच्छादन) होता तथा हो सकता है और वह उन्हीं जीव-पुद्गल नामके दो द्रव्योंमें होता है जो वैभाविक परिणमनको लिये हुए होते हैं। आत्माके वैभाविक परिणमनको सदाके लिए दूर कर उसे उसके शुद्ध-स्वरूपमें स्थित करना ही 'स्वस्वभावोपलब्धि' कहलाता है, जिसके लिए प्रयत्नका होना आवश्यक है।

इस पद्यमें ग्रन्थके निर्माणकी कोई प्रतिज्ञा नहीं है, अगले पद्यमें भी उसे दिया नहीं गया। फिर भी 'स्वस्वभावोपलब्धये' पदमें सिद्ध-समूहकी उपासनाका जो उद्देश्य संनिहित है वही इस ग्रन्थके निर्माणका भी लक्ष्यभूत है और वह है आत्माके शुद्धस्वरूपकी ज्ञप्ति (जानकारी) और संप्राप्ति, जिसको प्रदर्शित करने के लिए ग्रन्थके अन्त तक पूरा प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थके अन्तमें लिखा है कि जो इस योगसारप्राभृतको एकचित्त हुआ एकाग्रतासे पढ़ता है वह अपने स्वरूपको जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस परमपदको प्राप्त होता है जो सांसारिक दोषोंसे रहित है। और इसलिए उक्त उद्देश्यात्मक-पदमें ग्रन्थविषयके निर्माणकी प्रतिज्ञा भी शामिल है। ग्रन्थके नाममें, जिसे अन्तके दो पद्योंमें व्यक्त किया गया है, जो 'योग' शब्द पड़ा है उसके लक्षण अथवा स्वरूपनिर्देशसे भी इसका समर्थन होता है, जिसमें बतलाया है कि 'जिस योगसे—सम्बन्ध-विशेषरूप ध्यानसे—विविक्तत्माका परिज्ञान होता है उसे उन योगियोंने 'योग' कहा है जिन्होंने योगके द्वारा पापोंको—कषायादिमलको—आत्मासे धो डाला है।' और इसलिए कारणमें कार्यका उपचार करके यहाँ 'योगसार' नाम शुद्धात्मरूप समयसारका भी वाचक है।

स्वरूप-जिज्ञासासे जीवाजीवलक्षणको जाननेकी सहेतुक प्रेरणा

जीवाजीवं द्वयं त्यक्त्वा नापरं विद्यते यतः ।

तल्लक्षणं ततो ज्ञेयं स्व-स्वभाव-बुभुत्सया ॥ २ ॥

'चूँकि (इस संसारमें) जीव-अजीव—आत्मा-अनात्मा (इन दो मूल तत्त्वों) को छोड़कर अन्य कुछ भी विद्यमान नहीं है—सब कुछ इन्हींके अन्तर्गत है, इन्हींका विस्तार है—इसीलिए अपने स्वरूपको जाननेकी इच्छासे इन दोनोंका—जीव-अजीवका—लक्षण जानना चाहिए।'

व्याख्या—पहले पद्यमें सिद्ध-समूहकी स्तुति-वन्दनारूप उपासनाका और प्रकारान्तरसे ग्रन्थके विषय-प्रतिपादनरूप निर्माणका उद्देश्य स्व-स्वभावकी उपलब्धि बतलाया था। स्व-स्वभावकी उपलब्धिका प्रयत्न स्वभावको जाने-पहचाने बिना नहीं बन सकता। अतः इस पद्यमें स्वस्वभावको जाननेके लिए जीव तथा अजीवके लक्षणको जानना चाहिए ऐसा जाननेके उपायरूपमें निर्देश किया है; क्योंकि जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वोंसे भिन्न संसारमें और कुछ भी विद्यमान नहीं है—संसारकी सारी वस्तु-व्यवस्था इन्हीं दो मूल तत्त्वोंके अन्तर्गत है—इन्हीं दोके भीतर समायी हुई है अथवा इन्हींका विस्तार है^१, जिन्हें आत्मा-अनात्मा

१. विविक्तात्मपरिज्ञानं योगात्संजायते यतः । स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः ॥९-१०॥

२. जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः । यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥

तथा चेतन-अचेतन भी कहा जाता है और अचेतनको 'जड' नामसे भी निर्दिष्ट किया जाता है ।

यहाँ जीव तथा अजीवके गुणोंको जाननेकी बात न कहकर उनके लक्षणोंको जाननेकी जो बात कही गयी है वह अपनी विशेषता रखती है; क्योंकि गुण सामान्य और विशेष दो प्रकारके होते हैं, जिनमें अस्तित्व-वस्तुत्वादि सामान्य गुण ऐसे होते हैं जो जीव-अजीव दोनों तत्त्वोंमें समान-रूपसे पाये जाते हैं, उनको जाननेसे दोनोंकी भिन्नताका बोध नहीं होता । विशेष गुण प्रायः बहुत होते हैं, उन सबको जानकर वस्तुतत्त्वका निर्णय करना बहुधा कठिन पड़ता है—सहज बोध नहीं हो पाता । विशेष गुणोंमें जो गुण व्यावर्तक कोटिके होते हैं—परस्पर मिली हुई वस्तुओंमें एक दूसरेसे भिन्नताका सहज बोध करानेमें समर्थ होते हैं—वे ही लक्षण कहे जाते हैं, उन्हींके जाननेकी ओर यहाँ 'लक्षण' शब्दके प्रयोग-द्वारा संकेत किया गया है ।

जीवाजीव-स्वरूपको वस्तुतः जाननेका फल

यो जीवाजीवयोर्वेत्ति स्वरूपं परमार्थतः ।

सोऽजीव-परिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते ॥ ३ ॥

जीव-तत्त्व-निलीनस्य^१ राग-द्वेष-परिचयः ।

ततः कर्माश्रयच्छेदस्ततो निर्वाण-संगमः ॥ ४ ॥

'जो वस्तुतः जीव और अजीव दोनोंके स्वरूपको—लक्षणात्मक गुणोंको—जानता है वह अजीवके परिहार-द्वारा—अजीव तत्त्वको छोड़कर—जीवतत्त्वमें निलीन (निमग्न) होता है ॥३॥ जो जीव तत्त्वमें निलीन होता है उसके राग-द्वेषका नाश होता है; राग-द्वेषके नाशसे कर्म-आस्रव-का—आस्रव और बन्धका—विच्छेद (विध्वंस) होता है; कर्म-आस्रवके (आस्रव और बंधके) विच्छेदसे निर्वाणका संगम—मोक्षका समागम (मिलाप) होता है ।'

व्याख्या—इन दो पद्योंमें जीव और अजीव तत्त्वोंके लक्षणोंको जाननेसे, उस 'स्वस्वभावोपलब्धि' रूप उद्देश्यकी सिद्धि कैसे होती है, इसे संक्षेपमें दर्शाया है और इस तरह उक्त दोनों तत्त्वोंके पृथक्-पृथक् लक्षणको जाननेकी उपयोगिताका निर्देश किया है । 'लक्षण' पदके स्थानपर यहाँ 'स्वरूप' पदका जो प्रयोग किया गया है वह लक्षणके 'आत्मभूत' और 'अनात्मभूत' ऐसे दो भेदोंमें-से प्रथम भेदका द्योतक है, जिसका वस्तुके स्वभावके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है ।

प्रथम पद्यमें प्रयुक्त 'परमार्थतः' पद शुद्ध-द्रव्यार्थिक अथवा शुद्ध-निश्चयनयकी दृष्टिका वाचक है । उस दृष्टिसे जो जीव तथा अजीवके स्वरूपको जानता है वह अजीवतत्त्वसे भिन्न अपनेको जीवरूपमें अनुभव करता है और उसकी अजीव-तत्त्वमें आत्मबुद्धि नहीं रहती, आत्मबुद्धिके न रहनेसे पर पदार्थ अजीवके प्रति उसकी उत्सुकता तथा आसक्ति मिट जाती है, यही उसका परिहार अथवा परित्याग है, जिससे आत्मलीनता घटित होती है । आत्मलीनताके घटित होनेसे राग-द्वेष नहीं बनते, राग-द्वेषके अभावमें कर्मोंका आश्रय-आधार विघटित हो जाता है, जो कि कर्मोंके आने और ठहरने रूप आस्रव-बन्धकी व्यवस्थाको लिये हुए होता है । कर्माश्रयके विघटित हो जानेपर—आस्रव तथा बन्धके न रहनेपर—

१. व्युत्कीर्णवस्तु-व्यावृत्ति-हेतुर्लक्षणम् । परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् । (राजवार्तिक) । २. जो परियाणइ अप्प-परु सो परु चयइ णिभंतु, (योगसार ८२) । ३. मु विलीनस्य ।

निर्वाणकी प्राप्ति होती है, जिसे मोक्ष, मुक्ति तथा निर्वृति भी कहते हैं, और यही स्वस्वभाव की उपलब्धि है।

स्वरूपको परद्रव्य-बहिर्भूत जाननेका परिणाम

पर-द्रव्य-बहिर्भूतं स्व-स्वभावमवैति यः ।
पर-द्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेषि न रज्यति ॥ ५ ॥

‘जो अपने स्वभावको परद्रव्यसे बहिर्भूत रूपमें जानता है—समस्त परद्रव्य-समूहसे अपनेको भिन्न अनुभव करता है—वह परद्रव्योंमें कहीं भी—परद्रव्यकी किसी अवस्थामें भी—राग नहीं करता और न द्वेष करता है।

व्याख्या—पूर्व पद्यमें यह कहा गया है कि जो जीव-तत्त्वमें निलीन होता है उसके राग-द्वेषका क्षय हो जाता है, उसी बातको इस पद्यमें स्पष्ट किया गया है—यह दर्शाया गया है कि जो आत्मलीन हुआ अपने स्वभावको परद्रव्योंसे बहिर्भूत रूपमें जानता है—यह अनुभव करता है कि पर मुझरूप नहीं, मैं पररूप नहीं, पर मुझमें नहीं, मैं परमें नहीं; पर मेरा नहीं और न मैं परका हूँ; इस तरह परको अपने साथ असम्बद्ध रूपमें देखता है—तो वह परद्रव्यकी किसी भी अवस्थामें राग नहीं करता और न द्वेष करता है; क्योंकि पर-द्रव्यके सम्बन्धसे और उसे इष्ट-अनिष्ट मानकर ही राग-द्वेषकी प्रवृत्ति होती है।

जीवका लक्षण, उपयोग और उसके दर्शन-ज्ञान दो भेद

उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः ।
द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपैः ॥ ६ ॥

‘उन दो मूल-तत्त्वोंमें आत्माका लक्षण जिनेन्द्रदेवने ‘उपयोग’ निर्दिष्ट किया है और उस उपयोगको दर्शन-ज्ञानके प्रभेदसे दो प्रकारका बतलाया है।’

व्याख्या—यहाँ ‘आत्मनः’ पदके द्वारा जीवको ‘आत्मा’ शब्दसे उल्लिखित किया है और इससे यह जाना जाता है कि आत्मा जीवका नामान्तर अथवा पर्यायनाम है। जीवके जिस लक्षणको जाननेकी बात पहले कही गयी है वह लक्षण ‘उपयोग’ है जो कि आत्माका चतन्या-नुविधायी परिणाम है, जिसके मूल विभाग दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकारके हैं और इन भेदोंकी दृष्टिसे देखने तथा जानने रूप चैतन्यानुविधायी परिणामको ‘उपयोग’ समझना चाहिये, जिसमें यह परिणामन वस्तुतः लक्षित होता है वही लक्ष्यभूत ‘जीव’ तत्त्व है; क्योंकि यह जीवका सदा काल अनन्यभूत परिणाम है, जो जीवसे पृथक् अन्यत्र कहीं कभी लक्षित नहीं होता; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है :—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।

जीवस्स सब्बकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥ (पंचा० ४०)

१. सब्बण्हूणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं । (समयसार २४); उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ॥ जीवस्स सब्बकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥ (पंचास्ति ४०); उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥ (मोक्षशास्त्र अ० २) । २. आत्मनश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः (अमृतचन्द्रसूरिः) ।

दर्शनके चार भेद और उसका लक्षण

चतुर्धा दर्शनं तत्र चक्षुषोऽचक्षुषोऽवधेः ।

केवलस्य च विज्ञेयं वस्तु-सामान्य-वेदकम् ॥ ७ ॥

‘उस उपयोग लक्षणमें दर्शनोपयोग चक्षुर्दर्शन-अचक्षुर्दर्शन-अवधि-दर्शन-केवल-दर्शन रूप चार प्रकारका है और उसे वस्तुसामान्यका वेदक—वस्तुके अस्तित्व जैसे सामान्य रूपका ज्ञाता—जानना चाहिए—यही उसका लक्षण है, जो उसके चारों भेदोंमें व्याप्त है।’

व्याख्या—उपयोगके जिन दो भेदोंका पिछले पद्यमें उल्लेख है उनमें-से दर्शनोपयोगको यहाँ १. चक्षुर्दर्शन, २. अचक्षुर्दर्शन, ३. अवधिदर्शन, ४. केवलदर्शन रूप चार प्रकारका बतलाया है और उसका लक्षण ‘वस्तुसामान्यवेदक’ दिया है, जिसे आकारादि-विषयक किसी विशेष पृथक् व भेद कल्पनाके बिना वस्तुके सामान्य रूपका ग्राहक समझना चाहिए। इसीसे सर्वार्थसिद्धिकार श्री पूज्यपादाचार्यने दर्शनको ‘निराकार’ और ज्ञानको साकार लिखा है।

नेत्र इन्द्रियके द्वारा वस्तुके सामान्य अवलोकनको ‘चक्षुर्दर्शन’, अन्य इन्द्रियों तथा मनके द्वारा वस्तुके सामान्य अवलोकनको ‘अचक्षुर्दर्शन’, अवधिज्ञानके पूर्व होनेवाले सामान्य अवलोकनको ‘अवधिदर्शन’ और केवलज्ञानके साथ होनेवाले सामान्य अवलोकनको ‘केवलदर्शन’ कहते हैं।

ज्ञानका लक्षण और उसके आठ भेद

मतिः श्रुतावधी ज्ञाने मनःपर्यय-केवले ।

सज्ज्ञानं पञ्चधावाचि विशेषाकारवेदनम् ॥८॥

मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-भेदतः ।

मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञानमुच्यते ॥९॥

‘(ज्ञानोपयोगमें) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान यह पाँच प्रकारका ज्ञान (जिनेन्द्रदेवके द्वारा) ‘सम्यग्ज्ञान’ कहा गया है और वह वस्तुके विशेषाकार-वेदनरूप है—यही उसका लक्षण है, जो उसके पाँचों भेदोंमें व्याप्त है ॥८॥ मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभङ्ग-ज्ञानके भेदसे मिथ्याज्ञान तीन प्रकारका है। इस तरह ज्ञानोपयोग (पाँच सम्यग्ज्ञान और तीन मिथ्या ज्ञान रूप) आठ प्रकारका कहा जाता है।’

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें ज्ञानोपयोगको अष्टभेदरूप बतलाते हुए उसके मुख्य दो भेद किये हैं—एक सम्यक्ज्ञान, दूसरा मिथ्याज्ञान। सम्यक्ज्ञानके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे पाँच भेद दर्शाये हैं और मिथ्याज्ञानको मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञानके भेदसे त्रिभेद रूप प्रकट किया है। साथ ही, ज्ञानोपयोगका लक्षण वस्तुके विशेषाकार-वेदनको सूचित किया है, जो कि वस्तुमात्र सामान्य-ग्रहणका प्रतिपक्षी है।

१. साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति । (२-९) । २. आभिणिसुदेधिमणकेवलाणि णाणाणि पञ्चभेयाणि । कुमदिसुदविभङ्गाणि य तिण्णि वि णाणेहि संजुत्ते ॥४१॥ —पंचास्तिकाय । ३. व्या त्रिधेत्येवं केवले । ४. व्या सज्ञानं ।

मतिज्ञानको अभिनिबोधिक, मति-अज्ञानको कुमति और श्रुत-अज्ञानको कुश्रुत भी कहते हैं; जैसा कि पूर्वोद्धृत पंचास्तिकायकी गाथा ४१ से जाना जाता है। विभंगज्ञानको आमतौरपर कुअवधिज्ञान भी कहा जाता है। आत्मा जो स्वभावसे सर्वात्मप्रदेशव्यापी शुद्ध ज्ञानस्वरूप है वह अनादिकालसे ज्ञानावरणाच्छादितप्रदेश हो रहा है और उस आवरणके मतिज्ञानावरणादि पाँच मुख्यभेद हैं। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे प्रादुर्भूत स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंमें-से किसी इन्द्रिय तथा मनके अवलम्बन-सहयोगसे युक्त जिस ज्ञान-द्वारा कुछ मूर्त-अमूर्त द्रव्यको विशेष रूपसे जाना जाता है उसे 'मतिज्ञान' तथा 'अभिनिबोधिक ज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उद्भूत और अनिन्द्रिय मनके अवलम्बन-सहयोगसे युक्त जिस ज्ञानके द्वारा कुछ मूर्त-अमूर्त द्रव्यको विशेष रूपसे जाना जाता है उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उद्भूत जिस ज्ञान-द्वारा कुछ मूर्त द्रव्योंको विशेष रूपसे साक्षात् जाना जाता है उसका नाम 'अवधिज्ञान' है। मनःपर्यय ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उद्भूत जिस ज्ञानके द्वारा परमनोगत कुछ मूर्त द्रव्योंको विशेष रूपसे साक्षात् जाना जाता है उसे 'मनःपर्ययज्ञान' कहते हैं। ज्ञानावरण कर्मके सम्पूर्ण आवरणके अत्यन्त क्षयसे प्रादुर्भूत हुए जिस ज्ञानसे सम्पूर्ण मूर्त-अमूर्तरूप द्रव्य समूहको विशेष रूपसे जाना जाता है उसे 'केवलज्ञान' कहा जाता है और वह स्वाभाविक होता है। मिथ्यादर्शनके उदयको साथमें लिये हुए जो अभिनिबोधिक ज्ञान है उसे ही 'कुमतिज्ञान', जो श्रुतज्ञान है उसे ही 'कुश्रुत ज्ञान' और जो अवधिज्ञान है उसे ही 'विभंगज्ञान' कहते हैं।

केवलज्ञान दर्शनादिके उदयमें कारण

उदेति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ।

कर्मणः क्षयतः सर्वं क्षयोपशमतः परम् ॥१०॥

'केवलज्ञान तथा केवलदर्शन कर्मके क्षयसे—ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण अथवा विवक्षित कर्मसमूहके विनाशसे—उदयको प्राप्त होता है—पूर्णरूपसे विकसित होता है। शेष सब ज्ञान तथा दर्शन उक्त आवरणों अथवा विवक्षित कर्म समूहके क्षयोपशमसे—क्षय उपशम रूप मिली-जुली अवस्थासे—उदयको प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—पूर्वके दो पद्योंमें उपयोगके जिन बारह भेदोंका नामोल्लेख है उनमें-से केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मके क्षयसे आत्मामें उदित, आविर्भूत अथवा विकसित होते हैं। केवलज्ञानको आवृत-आच्छादित करनेवाला प्रतिपक्षी कर्म केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनको आवृत-आच्छादित करनेवाला प्रतिपक्षी कर्म केवलदर्शनावरण है। इन दोनों आवरणोंका क्षय मोहकर्मका क्षय हुए बिना नहीं बनता और आवश्यक कर्मोंके क्षयके साथ अन्तराय कर्मका क्षय भी अविनाभावी है, अतः मोह और अन्तराय कर्मका क्षय भी यहाँ 'कर्मणः क्षयतः' पदोंके द्वारा विवक्षित है। इसीसे मोक्ष-शास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र) में 'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं' इस सूत्रके द्वारा मोहके क्षयपूर्वक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षय होनेसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शनका आविर्भाव निर्दिष्ट किया है। शेष चक्षुदर्शनादि दश उपयोगोंका जिन्हें 'परं सर्वं' पद्योंके द्वारा उल्लेखित किया है, आत्मामें आविर्भाव विवक्षित कर्मके क्षयोपशमसे होता है। वे विवक्षित कर्म चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, मतिज्ञानावरण,

श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण हैं। इस तरह 'कर्मणः' पद यहाँ उपयोगोंके विपक्षीभूत बारह कर्मोंके अलग-अलग वाचक अनेक अर्थोंको निर्विरोधरूपसे लिये हुए है। यह सब निर्माणकी खूबी (विशेष) है जो एक ही पदमें इतने अर्थोंका संकलन एवं समावेश किया गया है। 'परं सर्व' पदोंमें भी दश उपयोगोंका समावेश किया गया है।

जिस प्रकार केवलज्ञानावरणादिके क्षयके साथ मोह तथा अन्तराय कर्मका क्षय भी विवक्षित है उसी तरह चक्षुदर्शनादिके क्षयोपशमके साथ भी मोह तथा अन्तराय कर्मका क्षयोपशम विवक्षित है। कर्मोंके क्षयसे उदित होनेवाले ज्ञान-दर्शन 'क्षायिक ज्ञान-दर्शन' और कर्मोंके क्षयोपशमसे उदित होनेवाले ज्ञान-दर्शन 'क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन' कहे जाते हैं।

केवलज्ञान-दर्शनकी युगपत् और शेषकी क्रमशः उत्पत्ति

यौगपद्येन जायेते केवल-ज्ञान-दर्शने ।

क्रमेण दर्शनं ज्ञानं परं निःशेषमात्मनः ॥११॥

'आत्माके केवलज्ञान और केवलदर्शन (ये दो उपयोग) युगपत्—एक साथ—उदित होते हैं। शेष सब दर्शन और ज्ञान—चक्षु-अचक्षु-अवधिरूप तीन दर्शन, मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-रूप चार सम्यक्ज्ञान और कुमति-कुश्रुति तथा कुअवधिरूप तीन मिथ्याज्ञान—क्रमसे उदयको प्राप्त होते हैं। इनमें-से कोई भी दर्शन विवक्षित ज्ञानके साथ युगपत् प्रवृत्त नहीं होता, सदा दर्शनपूर्वक ज्ञान हुआ करता है।'

व्याख्या—पूर्व पद्यमें विवक्षित कर्मोंके क्षय-क्षयोपशमसे जिन उपयोगोंके उदयकी बात कही गयी है उनके उदयकी कालक्रम-व्यवस्थाको इस पद्यमें दर्शाते हुए बतलाया है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग तो युगपत्—कालभेद रहित एक साथ—उदयको प्राप्त होते हैं, शेष सब ज्ञानोपयोगों तथा दर्शनोपयोगोंका उदय आत्मामें क्रमसे होता है—एक साथ नहीं बनता—ज्ञानके पहले दर्शन हुआ करता है।

मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञानके कारणोंका निर्देश

मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमवायतः ।

सम्यग्ज्ञानं पुनर्जैनेः सम्यक्त्वसमवायतः ॥१२॥

'ज्ञानोपयोगमें, मिथ्याज्ञानको जैनोंके द्वारा मिथ्यात्वके समवायसे—सम्बन्धसे—और सम्यग्ज्ञानको सम्यक्त्वके समवायसे उदयको प्राप्त होना माना गया है।

व्याख्या—पूर्वके दो पद्यसं० ८, ९में ज्ञानोपयोगके आठ भेदोंमें पाँचको 'सम्यग्ज्ञान' और तीनको 'मिथ्याज्ञान' बतलाया गया है। इस पद्यमें वैसा बतलानेके कारणोंको सूचित करते हुए लिखा है कि 'मिथ्यात्वके समवायसे—सम्बन्धसे—मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्वके समवायसे सम्यग्ज्ञान होता है, ऐसी जैनियोंकी मान्यता है। जैनियोंकी मान्यताके अनुसार 'समवाय' शब्द सम्बन्धका वाचक है, वैशेषिकोंकी मान्यतानुसार उस पदार्थ-विशेषका वाचक नहीं जो एक है और सर्वथा भिन्न पदार्थोंका, स्वयं अलग-अलग रहकर, सम्बन्ध कराता है। 'समवाय' शब्दके प्रयोगसे यहाँ विवक्षित सम्बन्धको कोई वैशेषिक मतानुसार समवाय-

१. मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्व-समवायिनः । मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता ॥

पदार्थके सहयोगसे होनेवाले मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वके सम्बन्धको न समझ ले, इसीसे 'जैनैः मतं'—जैनियोंके द्वारा माना गया है—इस स्पष्ट करणात्मक वाक्यका प्रयोग किया गया है। मिथ्यात्वके सम्बन्धको प्राप्त होनेवाले ज्ञान तीन हैं—मति, श्रुत और अवधि; जो प्रमाण नहीं होते।

मिथ्यात्वका स्वरूप और उसकी लीलाका निर्देश

वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यतः ।

तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मरामोदयोदकम् ॥१३॥

'जिसके कारण ज्ञानमें वस्तुका अन्यथा परिच्छेद—विपरीतादिरूपसे जानना—बनता है उसको सत्पुरुषोंने मिथ्यात्व माना है, जो कि कर्मरूपी बगीचेको उगाने-बढ़ानेके लिए जल-सिंचनके समान है।'

व्याख्या—यहाँ पूर्व पद्यमें उल्लिखित उस मिथ्यात्वके स्वरूपका निर्देश किया गया है जिसके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाता है—जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसका उस रूपमें ज्ञान न होकर विपरीतादिके रूपमें ज्ञानका होना जिसके सम्बन्धसे होता है—उसे 'मिथ्यात्व' कहते हैं। यह मिथ्यात्व सारे कर्मरूप बगीचेको उगाने-बढ़ानेके लिए जलदानके समान है। मिथ्यात्वका यह विशेषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और उसकी सारी लीलाके संकेतको लिये हुए है।

दर्शनमोहके उदयजन्य मिथ्यात्वके तीन भेद

१ उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकम् ।

जातं सांशयिकं चेति मिथ्यात्वं तत् त्रिधा विदुः ॥१४॥

'दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुआ वह मिथ्यात्व गृहीत, अगृहीत और सांशयिक ऐसे तीन प्रकारका कहा गया है।'

व्याख्या—जिस मिथ्यात्वका स्वरूप पिछले पद्यमें दिया है उसके सम्बन्धमें यहाँ बतलाया है कि वह दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है और इसलिए उसे दृष्टि-विकारसे युक्त तत्त्वों तथा पदार्थोंके अश्रद्धानरूप समझना चाहिए। वस्तुके यथार्थरूपमें अपनी इस अश्रद्धाके कारण ही ज्ञानको वह मिथ्याज्ञान बनाता है। उस मिथ्यात्वके गृहीत, अगृहीत और सांशयिक (संशयरूप) ऐसे तीन भेदोंका यहाँ उल्लेख किया गया है—अगृहीतको 'नैसर्गिक' और गृहीतको 'परोपदेशिक' भी कहते हैं। जो बिना परोपदेशके मिथ्यात्वकर्मके उदयवश तत्त्वोंके अश्रद्धानरूप होता है उसे 'नैसर्गिक' (अगृहीत) मिथ्यात्व कहते हैं और जो परोपदेशके निमित्तसे तत्त्वोंके अश्रद्धानरूप होता है उसे 'परोपदेशिक' अथवा गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं^२। वस्तु-तत्त्वके यथार्थ श्रद्धानमें विरुद्ध अनेक कोटियोंको स्पर्श करनेवाले और किसीका भी निश्चय न करनेवाले श्रद्धानको 'संशय मिथ्यात्व' कहते हैं जैसे मोक्षमार्ग दर्शनज्ञानचारित्र-रूप है या कि नहीं, इस प्रकार किसी एक पक्षको स्वीकार न करनेका सन्देह बनाये रखना।

१. तं मिच्छतं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। संसइयमभिगहियं अणभिगहियं च तं तिविहं ॥५८॥

—भगवती आराधना, अध्याय १

२. सर्वार्थसिद्धि अध्याय ८ सूत्र १

सर्वार्थसिद्धि आदि दूसरे ग्रन्थोंमें मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका भी उल्लेख है जिनके नाम हैं—एकान्त-मिथ्यादर्शन, विपरीत-मिथ्यादर्शन, वैनयिक-मिथ्यादर्शन, आज्ञानिक-मिथ्यादर्शन और संशय-मिथ्यादर्शन। जिनमें प्रथम चारको यहाँ गृहीत मिथ्यात्वके अन्तर्गत समझना चाहिए। इनके विस्तार पूर्वक स्वरूपको दूसरे ग्रन्थोंसे जानना चाहिए।

मिथ्यात्व-भावित जीवकी मान्यता

अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्वभावितः ।

अस्वर्णमीक्षते स्वर्णं न किं कनकमोहितः ॥१५॥

‘मिथ्यात्वसे प्रभावित हुआ जीव अतत्त्वको तत्त्व मानता है। (ठीक है) धतूरेसे मोहित प्राणी क्या अस्वर्णको स्वर्णरूपमें नहीं देखता?—देखता ही है।’

व्याख्या—मिथ्यात्वसे संस्कारित अथवा मिथ्यात्वकी भावनासे भावित जीव अतत्त्वको तत्त्वरूप उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार कि धतूरा खाकर मोहित हुआ प्राणी उस सारे पदार्थसमूहको स्वर्ण रूपमें देखता है जो वस्तुतः स्वर्णरूप नहीं है।

सम्यक्त्वका स्वरूप और उसकी क्षमता

यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः ।

जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्त्वमं सिद्धिसाधने ॥१६॥

‘जिसके कारण आत्माका ज्ञान जिस रूप वस्तु स्थित है उसी रूप भले प्रकार होता है उसे जिनेन्द्रदेवने ‘सम्यक्त्व’ कहा है जो सिद्धिके—स्वात्मोपलब्धिके—साधनमें समर्थ है।’

व्याख्या—यहाँ १२वें पद्यमें उल्लिखित उस सम्यक्त्वका लक्षण दिया गया है जिसके सम्बन्धसे ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप परिणत होता है। वह लक्षण यह है—‘जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसका उसी रूपमें आत्माको ज्ञान जिसके कारण होता है उसको ‘सम्यक्त्व’ कहते हैं। यहाँ सम्यक्त्वको स्वात्मोपलब्धिके साधनमें समर्थ बतलाया है और इससे सम्यक्त्वका महत्त्व ख्यापित होता है, जो कि सारे आत्मविकासका मूल आधार है।

सम्यक्त्वके क्षायिकादि भेद और उनमें साध्य-साधनता

मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व-संयोजन-चतुष्टये ।

क्षयं शमं^२ द्वयं प्राप्ते सप्तधा मोहकर्मणि ॥१७॥

क्षायिकं शामिकं^३ ज्ञेयं क्षायोपशामिकं त्रिधा ।

तत्रापि क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम् ॥१८॥

‘(वह सम्यक्त्व) मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व और संयोजन चतुष्टय—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ—इन सात भेदरूप मोहकर्मके क्षयको प्राप्त

१. ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च । आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत् ॥

—तत्त्वार्थसार

२. व्या समं । ३. व्या सामिकं ।

होनेपर क्षायिक, उपशमको प्राप्त होनेपर औपशमिक, क्षयोपशमको प्राप्त होनेपर क्षायोपशमिक, इस तरह तीन प्रकारका होता है। उन तीनों सम्यक्त्वोंमें भी क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है और शेष दो उसके साधन हैं।'

व्याख्या—जिस सम्यक्त्वके स्वरूपका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसके तीन भेदोंका उनके कारणों-सहित इन पद्योंमें निर्देश है। सम्यक्त्वके वे तीन भेद क्षायिक, औपशमिक, और क्षायोपशमिक हैं। दर्शनमोहकी तीन—मिथ्यात्व, मिश्र तथा सम्यक्प्रकृति और चारित्र मोहकी चार—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, इस प्रकार मोहकर्मकी सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक, उपशमसे औपशमिक और क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका उदय होता है। इन तीनोंमें क्षायिक सम्यक्त्व मुख्य है, स्थायी है और इसलिए साध्य एवं आराध्य है। शेष दोनों सम्यक्त्व साधनकी कोटिमें स्थित हैं—उनके सहारे क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त किया जाता है।

आत्मा और ज्ञानका प्रमाण तथा ज्ञानका सर्वगतत्व

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः ।

लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः ॥१६॥

'जिनेन्द्रदेव आत्माको ज्ञानप्रमाण—ज्ञान जितना और ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण—ज्ञेय जितना बतलाते हैं। ज्ञेय चूँकि लोक-अलोकरूप है अतः ज्ञान सर्वगत है—सारे विश्वमें व्याप्त होनेके स्वभावको लिये हुए है।'

व्याख्या—'सम-गुण-पर्यायं द्रव्यम्' इस सूत्रके अनुसार द्रव्य गुण तथा पर्यायके समान होता है। पर्यायदृष्टिसे आत्मा जिस प्रकार स्वदेह-परिमाण है, गुण-दृष्टिसे उसी प्रकार स्वज्ञान-परिमाण है। ज्ञानको यहाँ बिना किसी विशेषणके प्रयुक्त किया है और इसलिए ज्ञान यदि क्षायिक है तो आत्मा क्षायिकज्ञान-परिमाण है, ज्ञान यदि क्षायोपशमिक है तो आत्माको उस क्षायोपशमिकज्ञान-परिमाण समझना चाहिए। परन्तु यहाँ 'ज्ञानं' पदके द्वारा मुख्यतः वह ज्ञान विवक्षित है जो पूर्णतः विकसित अथवा क्षायिक (केवल) ज्ञान है, तभी वह लोकालोकको अपना साक्षात् विषय करनेवाला 'ज्ञेयप्रमाण' हो सकता है। असाक्षात् (परोक्ष) रूपमें लोकालोकको विषय करनेकी दृष्टिसे स्याद्वाद-नय-संस्कृत श्रुतज्ञानको भी ग्रहण किया जा सकता है। आत्माको ज्ञान-प्रमाण कहा है, ज्ञानसे बड़ा या छोटा आत्मा नहीं होता। और यह ठीक ही है; क्योंकि ज्ञानसे आत्माको बड़ा माननेपर आत्माका वह बड़ा हुआ अंश ज्ञानशून्य जड़ ठहरेगा और तब यह कहना नहीं बन सकेगा कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है अथवा ज्ञान आत्माका गुण है जो कि गुणी (आत्मा) में व्यापक होना चाहिए। और ज्ञानसे आत्माको छोटा माननेपर आत्मप्रदेशोंसे बाहर स्थित (बड़ा हुआ) ज्ञानगुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना ठहरेगा और गुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना कहीं रहता नहीं; जैसा कि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' गुणके इस मोक्षशास्त्र-(तत्त्वार्थ सूत्र-) वर्णित लक्षणसे प्रकट है। अतः आत्मा ज्ञानसे बड़ा या छोटा न होकर ज्ञान-प्रमाण है इसमें आपत्तिके लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

१. आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं । णेयं लोयालयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

—प्रवचनसार

‘लोक’ उसे कहते हैं जो अनन्त आकाशके बहुमध्य-भागमें स्थित और अन्तमें तीन महावातबलयोंसे वेष्टित जीवादि षड् द्रव्योंका समूह है अथवा जहाँ जीव-पुद्गलादि छह प्रकारके द्रव्य अवलोकन किये जायें—देखे-पाये जायें—वह सब लोक है, और उसके ऊर्ध्व, मध्य, अधःलोकके भेदसे तीन भेद हैं, जिनकी ‘त्रिलोक’ संज्ञा है। इस त्रिभागरूप लोकसे बाहरका जो क्षेत्र है और जिसमें सब ओर अनन्त आकाशके सिवा दूसरा कोई द्रव्य नहीं है उसे ‘अलोक’ कहते हैं। लोक-अलोकमें सम्पूर्ण ज्ञेय तत्त्वोंका समावेश हो जानेसे उन्हींमें ज्ञेय-तत्त्वकी परिसमाप्ति की गयी है। अर्थात् यह प्रतिपादन किया गया है कि ‘ज्ञेय-तत्त्व लोक-अलोक है’—लोक-अलोकसे भिन्न अथवा बाहर दूसरा कोई ‘ज्ञेय’ पदार्थ है ही नहीं। साथ ही ज्ञेय ज्ञानका विषय होनेसे और ज्ञानकी सीमाके बाहर ज्ञेयका कोई अस्तित्व न बन सकनेसे यह भी प्रतिपादन किया गया है कि ‘ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है’। जब ज्ञेय लोक-अलोक प्रमाण है तब ज्ञान भी लोक-अलोक-प्रमाण ठहरा, और इसलिए ज्ञानको लोक-अलोक-की तरह सर्वगत (व्यापक) होना चाहिए। इसीसे पुरातनाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भी प्रवचनसारकी ‘आदा णाणपसाणं’ गाथामें ‘तम्हा णाणं तु सव्वगयं’ इस वाक्यके द्वारा ज्ञानको ‘सर्वगत’ बतलाया है।

जब आत्मा ज्ञान-प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण होनेसे लोकालोक-प्रमाण तथा सर्वगत है तब आत्मा भी सर्वगत हुआ। और इससे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा अपने ज्ञान-गुण सहित सर्वगत (सर्वव्यापक) होकर लोकालोकको जानता है, और इसलिए लोकालोकके ज्ञाता जो-जो सर्वज्ञ अथवा केवलज्ञानी (केवली) हैं वे सर्वगत होकर ही लोकालोकको जानते हैं। परन्तु आत्मा सदा स्वात्मप्रदेशोंमें स्थित रहता है—संसारावस्थामें आत्माका कोई प्रदेश मूलोत्तर इस आत्मदेहसे बाहर नहीं जाता और मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध सदाके लिए छूट जानेपर आत्माके प्रदेश प्रायः चरम देहके आकारको लिये हुए लोकके अग्रभागमें जाकर स्थित हो जाते हैं, वहाँसे फिर कोई भी प्रदेश किसी समय स्वात्मासे बाहर निकलकर अन्य पदार्थोंमें नहीं जाता। इसीसे ऐसे शुद्धात्माओं अथवा मुक्तात्माओंको ‘स्वात्मस्थित’ कहा गया है और प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्व व्यापक नहीं माना गया; साथ ही ‘सर्वगत’ भी कहा गया है; जैसा कि ‘स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसंगः’^१ जैसे वाक्योंसे प्रकट है। तब उनके इस सर्वगतत्वका क्या रहस्य है और उनका ज्ञान कैसे एक जगह स्थित होकर सब जगत्के पदार्थोंको युगपत् जानता है? यह एक मर्मकी बात है, जिसे स्वामी समन्तभद्रने समीचीन-धर्मशास्त्रके संगलपद्यमें श्री वर्द्धमान स्वामीके लिए प्रयुक्त निम्न विशेषण वाक्यके द्वारा थोड़ेमें ही व्यक्त कर दिया है—

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।

इस वाक्यमें ज्ञानको दर्पण बतलाकर अथवा दर्पणकी उपमा देकर यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार दर्पण अपने स्थानसे उठकर पदार्थोंके पास नहीं जाता, न उनमें प्रविष्ट होता है और न पदार्थ ही अपने स्थानसे चलकर दर्पणके पास आते तथा उसमें

१. जैनविज्ञानके अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। दूसरे जिन द्रव्योंकी लोकमें कल्पना की जाती है उन सबका समावेश इन्हींमें हो जाता है। ये नित्य और अवस्थित हैं—अपनी छहकी संख्याका कभी परित्याग नहीं करते। इनमें पुद्गलको छोड़कर शेष सब द्रव्य अरूपी हैं और इन सबकी चर्चासि प्रायः सभी जैन सिद्धान्त ग्रन्थ भरे पड़े हैं। २. देखो, श्रीधनंजय-कृत ‘विषापहार-स्तोत्र’।

प्रविष्ट होते हैं; फिर भी पदार्थ दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर प्रविष्ट-से जान पड़ते हैं और दर्पण भी उन पदार्थोंको अपनेमें प्रतिबिम्बित करता हुआ तद्गत तथा उन पदार्थोंके आकाररूप परिणत मालूम होता है, और यह सब दर्पण तथा पदार्थोंकी इच्छाके बिना ही वस्तु-स्वभावसे होता है। उसी प्रकार वस्तु-स्वभावसे ही शुद्धात्मा केवलीके केवलज्ञानरूप दर्पणमें अलोक-सहित सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं और इस दृष्टिसे उनका वह निर्मल ज्ञान आत्म-प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्वगत न होता हुआ भी 'सर्वगत' कहलाता है और तदनु रूप वे केवली भी स्वात्मस्थित होते हुए 'सर्वगत' कहे जाते हैं। इसमें विरोधकी कोई बात नहीं है। इस प्रकारका कथन विरोधालंकारका एक प्रकार है, जो वास्तवमें विरोधको लिये हुए न होकर विरोध-सा जान पड़ता है, और इसीसे 'विरोधाभास' कहा जाता है। अतः केवलज्ञानीके प्रदेशापेक्षा सर्वव्यापक न होते हुए भी, स्वात्मस्थित होकर सर्व पदार्थोंको जानने-प्रतिभासित करनेमें कोई बाधा नहीं आती।

अब यहाँपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि दर्पण तो वर्तमानमें अपने सम्मुख तथा कुछ तिर्यक् स्थित पदार्थोंको ही प्रतिबिम्बित करता है—पीछेके अथवा अधिक अगल-बगलके पदार्थोंको वह प्रतिबिम्बित नहीं करता—और सम्मुखादिरूपसे स्थित पदार्थोंमें भी जो सूक्ष्म हैं, दूरवर्ती हैं, किसी प्रकारके व्यवधान अथवा आवरणसे युक्त हैं, अमूर्तीक हैं, भूतकालमें सम्मुख उपस्थित थे, भविष्यकालमें सम्मुख उपस्थित होंगे किन्तु वर्तमानमें सम्मुख उपस्थित नहीं हैं उनमें-से किसीको भी वर्तमान समयमें प्रतिबिम्बित नहीं करता है, जब ज्ञान दर्पणके समान है तब केवली भगवान्के ज्ञान-दर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके सब पदार्थ युगपत् कैसे प्रतिभासित हो सकते हैं? और यदि युगपत् प्रतिभासित नहीं हो सकते तो सर्वज्ञता कैसे बन सकती है? और कैसे 'सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते' यह विशेषण श्री वर्धमान स्वामीके साथ संगत बैठ सकता है?

इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि उपमा और उदाहरण (दृष्टान्त) प्रायः एकदेश होते हैं—सर्वदेश नहीं, और इसलिए सर्वापेक्षासे उनके साथ तुलना नहीं की जा सकती। उनसे किसी विषयको समझनेमें मदद मिलती है, यही उनके प्रयोगका लक्ष्य होता है। जैसे किसीके मुखको चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है, तो उसका इतना ही अभिप्राय होता है कि वह अतीव गौरवर्ण है—यह अभिप्राय नहीं होता कि उसका और चन्द्रमाका वर्ण बिलकुल एक है अथवा वह सर्वथा चन्द्रधातुका ही बना हुआ है और चन्द्रमाकी तरह गोलाकार भी है। इसी तरह दर्पण और ज्ञानके उपमान-उपमेय-भावको समझना चाहिए। यहाँ ज्ञान (उपमेय) को दर्पण (उपमान) की जो उपमा दी गयी है उसका लक्ष्य प्रायः इतना ही है कि जिस प्रकार पदार्थ अपने-अपने स्थानपर स्थित रहते हुए भी निर्मल-दर्पणमें ज्योंके त्यों झलकते और तद्गत मालूम होते हैं और अपने इस प्रतिबिम्बित होनेमें उनकी कोई इच्छा नहीं होती और न दर्पण ही उन्हें अपनेमें प्रतिबिम्बित करने-कराने-की कोई इच्छा रखता है—सब कुछ वस्तु स्वभावसे होता है; उसी तरह निर्मलज्ञानमें भी पदार्थ ज्योंके त्यों प्रतिभासित होते तथा तद्गत मालूम होते हैं और इस कार्यमें किसीकी भी कोई इच्छा चरितार्थ नहीं होती—वस्तुस्वभाव ही सर्वत्र अपना कार्य करता हुआ जान पड़ता है। इससे अधिक उसका यह आशय कदापि नहीं लिया जा सकता कि ज्ञान भी साधारण दर्पणकी तरह जड़ है, दर्पण धातुका बना हुआ है, दर्पणके समान एक पार्श्व (Side) ही उसका प्रकाशित है और वह उस पार्श्वके सामने निरावरण अथवा व्यवधान-रहित अवस्थामें स्थित तात्कालिक मूर्तिक पदार्थोंको ही प्रतिबिम्बित करता है। ऐसा आशय लेना उपमान-उपमेय-भाव तथा वस्तु-स्वभावको न समझने-जैसा होगा।

इसके सिवाय दर्पण भी तरह-तरहके होते हैं। एक सर्व साधारण दर्पण जो शरीरके ऊपरी भागको ही प्रतिबिम्बित करता है—चर्म-मांसके भीतर स्थित हाड़ों आदिको नहीं; परन्तु दूसरा ऐक्सरे-दर्पण जो चर्म-मांसके व्यवधानमें स्थित हाड़ों आदिको भी प्रतिबिम्बित करता है। एक प्रकारका दर्पण समीप अथवा कुछ ही दूरके पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करता है, दूसरा दर्पण (रेडियो, टेलीविजन आदिके द्वारा) बहुत दूरके पदार्थोंको भी अपनेमें प्रतिबिम्बित कर लेता है। और यह बात तो साधारण दर्पणों तथा फोटो-दर्पणोंमें भी पायी जाती है कि वे बहुत-से पदार्थोंको अपनेमें युगपत् प्रतिबिम्बित कर लेते हैं और उसमें कितने ही निकट तथा दूरवर्ती पदार्थोंका पारस्परिक अन्तराल भी लुप्त-गुप्त-सा हो जाता है, जो विधि-पूर्वक देखनेसे स्पष्ट जाना जाता है। इसके अलावा स्मृति ज्ञान-दर्पणमें हजारों मील दूरकी और बीसियों वर्ष पहलेकी देखी हुई घटनाएँ तथा शकलें (आकृतियाँ) साफ झलक आती हैं। और जाति-स्मरणका दर्पण तो उससे भी बड़ा-चढ़ा होता है, जिसमें पूर्व जन्म अथवा जन्मोंकी सैकड़ों वर्ष पूर्व और हजारों मील दूर तककी भूतकालीन घटनाएँ साफ झलक आती हैं। इसी तरह निमित्तादि श्रुतज्ञान-द्वारा चन्द्र-सूर्य ग्रहणादि जैसी भविष्यकी घटनाओंका भी सच्चा प्रतिभास हुआ करता है। जब लौकिक दर्पणों और स्मृति आदि क्षायो-पशमिक ज्ञान-दर्पणोंका ऐसा हाल है तब केवलज्ञान जैसे अलौकिक-दर्पणकी तो बात ही क्या है—उस सर्वातिशायि-ज्ञानदर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके वे सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं जो 'ज्ञेय' कहलाते हैं—चाहे वे वर्तमान हों या अवर्तमान। क्योंकि ज्ञेय वही कहलाता है जो ज्ञानका विषय होता है—ज्ञान जिसे जानता है। ज्ञानमें लोक-अलोकके सभी ज्ञेय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति है, वह तभीतक उन्हें अपने पूर्णरूपमें नहीं जान पाता जबतक उसपर पड़े हुए आवरणादि प्रतिबन्ध सर्वथा दूर होकर वह शक्ति पूर्णतः विकसित नहीं हो जाती। ज्ञानशक्तिके पूर्णविकसित और चरितार्थ होनेमें बाधक कारण हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातियाकर्म। इन चारों घातियाकर्मोंकी सत्ता जब आत्मामें नहीं रहती तब उसमें उस अप्रतिहतशक्ति—ज्ञानज्योतिका उदय होता है जिसे लोक-अलोकके सभी ज्ञेय पदार्थोंको अपना विषय करनेसे फिर कोई रोक नहीं सकता।

जिस प्रकार यह नहीं हो सकता कि दाहक-स्वभाव अग्नि मौजूद हो, दाह्य-इन्धन भी मौजूद हो, उसे दहन करनेमें अग्निके लिए किसी प्रकारका प्रतिबन्ध भी न हो और फिर भी वह अग्नि उस दाह्यकी दाहक न हो, उसी प्रकार यह भी नहीं हो सकता कि उक्त अप्रतिहत-ज्ञानज्योतिका धारक कोई केवलज्ञानी हो और वह किसी भी ज्ञेयके विषयमें अज्ञानी रह सके। इसी आशयको श्रीविद्यानन्दस्वामीने अपनी अष्टसहस्रीमें, जो कि समन्तभद्र कृत आप्तमीमांसाकी अपूर्व टीका है, निम्न पुरातन वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

“ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने ।
दाह्योऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ।”

अतः केवलज्ञानी श्रीवर्द्धमान स्वामीके ज्ञानदर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके प्रतिभासित होनेमें बाधाके लिए कोई स्थान नहीं है; जब कि वे घातिकर्म-मलको दूर करके निर्धूतकलिलात्मा होते हैं।

आत्मासे ज्ञान-ज्ञेयको अधिक माननेपर दोषापत्ति

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं ज्ञेयं वापि प्रजायते ।

लक्ष्य-लक्षणभावोऽस्ति तदानीं कथमेतयोः ॥२०॥

यदि आत्मासे ज्ञान अथवा ज्ञेय भी अधिक होता है (ऐसा माना जाये) तो इन दोनोंमें—आत्मा और ज्ञानमें—लक्ष्य-लक्षण-भाव कैसे बन सकता है ?—नहीं बन सकता ।

व्याख्या—यहाँ आत्मासे ज्ञानके तथा ज्ञेयके भी अधिक होनेपर दोनोंमें लक्ष्य-लक्षण-भावके घटित न होनेकी बात कही गयी है । जिसे लक्षित किया जाये—अनेक मिले-जुले पदार्थोंमें—से पृथक् बोधका विषय बनाया जाये—उसे 'लक्ष्य' कहते हैं और जिसके द्वारा लक्षित किया जाये उस व्यावर्तक (भिन्नता-बोधक) हेतुको 'लक्षण' कहते हैं । लक्षणको अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीन दोषोंसे रहित होना चाहिए; तभी वह लक्ष्यका ठीक तौरसे बोध करा सकेगा, अन्यथा नहीं । लक्ष्यके एक देशमें रहनेवाला लक्षण अव्याप्ति दोषसे, लक्ष्यसे बाहर अलक्ष्यमें भी पाया जानेवाला लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे और लक्ष्यमें जिसका रहना बाधित है वह असंभव दोषसे दूषित कहलाता है । यहाँ ज्ञान आत्माका लक्षण है जो सामान्य-वेदन तथा विशेष-वेदनके रूपमें दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके नामसे इसी अधिकारके ७वें-८वें पद्योंमें निर्दिष्ट हुआ है । आत्मा (लक्ष्य)से ज्ञान (लक्षण) अधिक होनेपर ज्ञान-लक्षण 'अतिव्याप्ति' दोषसे दूषित होता है और इसलिए उसमें लक्षण-भाव घटित नहीं होता । ज्ञानस्वरूप आत्मासे ज्ञेयके अधिक होनेपर ज्ञान ज्ञेय प्रमाण न होकर ज्ञेयसे छोटा पड़ा और इसलिए 'अव्याप्ति' दोषसे दूषित रहा; क्योंकि आत्मा भी ज्ञेय है । इसके सिवाय ज्ञेय हो और ज्ञान न हो यह बात असंगत जान पड़ती है; क्योंकि जो ज्ञानका विषय हो उसीको 'ज्ञेय' कहते हैं । ज्ञानके बिना ज्ञेयका अस्तित्व नहीं बनता, वह बाधित ठहरता है ।

ज्ञेय-क्षिप्त ज्ञानको व्यापकताका स्पष्टीकरण —

क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीरमिन्द्रनीलं स्वतेजसा ।

ज्ञेयक्षिप्तं तथा ज्ञानं ज्ञेयं व्याप्नोति सर्वतः ॥२१॥

'जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनीलमणि अपने तेजसे—अपनी प्रभासे—दूधको सब ओरसे व्याप्त कर लेता है—अपनी प्रभा जैसा नीला बना लेता है—उसी प्रकार ज्ञेयके मध्यस्थित ज्ञान अपने प्रकाशसे ज्ञेय समूहको पूर्णतः व्याप्त कर उसे प्रकाशित करता है—अपना विषय बना लेता है ।'

व्याख्या—यहाँ 'इन्द्रनीलं' पद उस सातिशय महानील रत्नका वाचक है जो बड़ा तेजवान् होता है । उसे जब किसी दूधसे भरे बड़े कड़ाहे या देग जैसे बर्तनमें डाला जाता है तो वह दुग्धके वर्तमान रूपका तिरस्कार कर उसे सब ओरसे अपनी प्रभा-द्वारा नीला बना लेता है । उसी प्रकार ज्ञेयोंके मध्यके स्थित हुआ केवलज्ञान भी अपने तेजसे अज्ञान अन्धकारको दूर कर समस्त ज्ञेयोंमें ज्ञेयाकार रूपसे व्याप्त हुआ उन्हें प्रकाशित करता है ।

१. रयणमिह इंदणीलं दुद्धञ्जसितं जहा सभासाए । अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

(—प्रवचनसार)जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं । तह देही देहत्थो इदेहं संपभासयदि ॥

—पञ्चास्ति० ३३ २. सु ज्ञेयं ज्ञानं ।

दूधसे भरे जिस बड़े पात्रमें इन्द्रनील रत्न पड़ा होता है उसके थोड़े-से ही देशमें यद्यपि वह स्थित होता है और उसका कोई भी परमाणु उससे निकलकर अन्यत्र नहीं जाता; फिर भी उसकी प्रभामें ऐसा वैचित्र्य है कि वह सारे दूधको अपने रंगमें रंग लेता है और दूधका कोई भी परमाणु वस्तुतः नीला नहीं हो पाता—नीलमणिको यदि दूधसे निकाल लिया जाये तो दूध ज्योंका त्यों अपने स्वाभाविक रंगमें स्थित नजर आता है, नीलरत्नकी प्रभाके संसर्गसे कहीं भी उसमें कोई विकार लक्षित नहीं होता। ऐसी ही अवस्था ज्ञान तथा ज्ञेयोंकी है; ज्ञेयोंके मध्यमें स्थित हुआ केवलज्ञान यद्यपि वस्तुतः अपने आत्मप्रदेशोंमें ही स्थित होता है और आत्माका कोई भी प्रदेश आत्मासे अलग होकर बाह्य पदार्थोंमें नहीं जाता; फिर भी उसके केवलज्ञानमें तेजका ऐसा माहात्म्य है कि वह सारे पदार्थोंको अपनी प्रभासे ज्ञेयाकार रूपमें व्याप्त कर उन पदार्थोंमें अपने प्रदेशोंके साथ तादात्म्यको प्राप्त-जैसा प्रतिभासित होता है; जब कि दर्पणमें उसकी स्वच्छताके वश प्रतिबिम्बित पदार्थोंकी तरह वैसा कुछ भी नहीं है। अतः व्यवहारनयकी दृष्टिसे ज्ञानका ज्ञेयोंमें और ज्ञेयों (पदार्थों) का ज्ञानमें अस्तित्व कहा जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने इस बातको और स्पष्ट करते हुए प्रवचनसारमें लिखा है—

जदि ते ण संति अट्टा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्टिया अट्टा ॥३१॥

‘यदि वे पदार्थ केवलज्ञानमें अस्तित्व न रखते हों—न झलकते हों—तो केवलज्ञानको सर्वगत नहीं कहा जा सकता, और ज्ञान यदि सर्वगत है तो पदार्थोंको ज्ञानमें स्थित कैसे नहीं कहा जायेगा? —कहना ही होगा।

इस प्रकार यह ज्ञानमें ज्ञेयोंकी और ज्ञेयोंमें ज्ञानकी स्थिति व्यवहारनयकी दृष्टिसे है। निश्चयनयकी दृष्टिसे ज्ञान अपनेमें और ज्ञेय अपनेमें स्थित हैं। दर्पणमें प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्बमें दर्पणकी तरह एकके अस्तित्वका दूसरेमें व्यवहार किया जाता है।

ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता

चैत्तुर्गृह्यथारूपं रूपरूपं न जायते ।

ज्ञानं जानन्तथा ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते ॥२२॥

‘जिस प्रकार आँख रूपको ग्रहण करती हुई रूपमय नहीं हो जाती उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं हो जाता।’

व्याख्या—यहाँ आँखके उदाहरण-द्वारा इस बातको स्पष्ट किया गया है कि जिस पदार्थको ज्ञान जानता है उस पदार्थके रूप नहीं हो जाता; जैसे कि आँख जिस रंग-रूपको देखती है उस रूप स्वयं नहीं हो जाती। सारांश यह कि देखने और जाननेका काम तद्रूप-परिणमनका नहीं है।

१. णाणी णाणसहावो अट्टा णेयप्पगा हि णाणिस्स । रूवाणि व चक्खणं णेवाण्णोण्णेषु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञान स्वभावसे दूरवर्ती पदार्थोंको भी जानता है

दवीयांसमपि ज्ञानमर्थं वेत्ति निसर्गतः ।

अयस्कान्तः स्थितं दूरे नाकर्षति किमायसम् ॥२३॥

‘ज्ञान दूरवर्ती पदार्थको—क्षेत्र-कालादिकी दृष्टिसे दूरस्थित पदार्थ-समूहको—भी स्वभावसे जानता है। क्या कान्तलोह—चुम्बकपाषाण—दूरीपर स्थित लोहेको अपनी ओर नहीं खींचता?—खींचता ही है।’

व्याख्या—यहाँ चुम्बक लोह पाषाणके उदाहरण-द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार चुम्बक-पाषाण दूरस्थित दूसरे लोहेको स्वभावसे अपनी ओर खींच लेता है उसी प्रकार केवलज्ञान भी क्षेत्रकी अपेक्षा तथा कालकी अपेक्षा दूरवर्ती पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित कर उन्हें निकट-स्थित वर्तमानकी तरह जानता है, यह उसका स्वभाव है। इसपर कोई यह शंका कर सकता है कि चुम्बककी शक्ति तो सीमित है, उसकी शक्ति-सीमाके भीतर जब लोहा स्थित होता है तभी वह उसको खींचकर अपनेसे चिपटा लेता है, जब लोहा सीमाके बाहर होता है तब उसे नहीं खींच पाता; तब क्या केवलज्ञान भी सीमित क्षेत्रकाल-के पदार्थोंको ही अपना विषय बनाता है? इसका समाधान इतना ही है कि दृष्टान्त केवल समझनेके लिए एकदेशी होता है, सर्वदेशी नहीं अतः चुम्बककी तरह ज्ञानकी सीमित-शक्ति न समझ लेना चाहिए उसमें प्रतिबन्धकका अभाव हो जानेसे दूरवर्ती तथा अन्तरित ही नहीं किन्तु सूक्ष्म पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित करनेकी—अपना विषय बनानेकी—अनन्तानन्तशक्ति है—उसके बाहर कोई भी पदार्थ बिना जाने अज्ञेयरूपमें नहीं रहता। इसीसे ज्ञानको ‘सर्वगत’ कहा है। वह अपने आत्म-प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं किन्तु प्रकाशकी अपेक्षा सर्वगत है।

ज्ञान स्वभावसे स्व-परको जानता है

ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छित्ते स्वभावात्तः ।

दीप उद्योतयत्यर्थं स्वस्मिन्नान्यमपेक्षते ॥२४॥

‘ज्ञान आत्माको और पदार्थ-समूहको स्वभावसे ही जानता है। जैसे दीपक स्वभावसे अन्य पदार्थ-समूहको प्रकाशित करता है वैसे अपने प्रकाशनमें अन्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं रखता—अपनेको भी प्रकाशित करता है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें यह बतलाया गया है कि केवलज्ञान दूरवर्ती पदार्थको भी जानता है, चाहे वह दूरी क्षेत्र सम्बन्धी हो या काल-सम्बन्धी, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि ज्ञान परको ही स्वभावसे जानता है या अपनेको भी जानता है? इस पद्यमें दीपकके उदाहरण-द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार दीपक पर पदार्थोंका उद्योतन करता है उसी प्रकार अपना भी उद्योतन करता है—अपने उद्योतनमें किसी प्रकार परकी अपेक्षा नहीं रखता—उसी प्रकार ज्ञान भी अपनेको तथा पर पदार्थ समूहको स्वभावसे ही जानता है—अपनेको अथवा आत्माको जाननेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता।

क्षाधिक-क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति

क्षायोपशमिकं ज्ञानं कर्मापाये निवर्तते ।

प्रादुर्भवति जीवस्य नित्यं क्षायिकमुज्ज्वलम् ॥२५॥

‘आत्माका क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मोंके—ज्ञानावरणादि विवक्षित कर्म प्रकृतियोंके—नाश होनेपर नाशको प्राप्त हो जाता है और जो निर्मल क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान—है वह सदा उदयको प्राप्त रहता है—सारे कर्मोंका नाश हो जानेपर भी उसका कभी नाश नहीं होता ।’

व्याख्या—यहाँ क्षायिक और क्षायोपशमिक दोनों प्रकारके ज्ञानोंके उदय-अस्तके नियमको कुछ दर्शाया है—लिखा है कि क्षायोपशमिक ज्ञान तो जिन कर्म-प्रकृतियोंके क्षय-उपशमादिरूप निमित्तको पाकर उदित होता है उन कर्मप्रकृतियोंके नाश होनेपर अस्तको प्राप्त हो जाता है; परन्तु केवलज्ञान एक बार उदय होकर फिर कभी अस्तको प्राप्त नहीं होता, सदा उदित ही बना रहता है, यह दोनोंमें भारी अन्तर है। क्षायोपशमिक ज्ञानकी स्थिति निमित्तभूत कर्मोंकी स्थितिके बदलनेसे बदलती रहती है परन्तु केवलज्ञानकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वह त्रिकाल-त्रिलोक-विषयक समस्त ज्ञेयोंको युगपत् जानता रहता है।

केवलज्ञानकी त्रिकालगोचर सभी सत्-असत् पदार्थोंको युगपत् जाननेमें प्रवृत्ति

सन्तमर्थमसन्तं च काल-त्रितय-गोचरम् ।

अवैति युगपज्ज्ञानमव्याघातमनुत्तमम् ॥२६॥

‘(क्षायिक) ज्ञान, जो कि अव्याघाती है—अपने विषयमें किसी भी पर-पदार्थसे बाधित या रुद्ध नहीं होता—और अनुत्तम है—जिससे अधिक श्रेष्ठ दूसरी कोई वस्तु अथवा ज्ञान नहीं—वह त्रिकालविषयक सत्-असत् सभी पदार्थोंको युगपत्—एक साथ—जानता है ।’

व्याख्या—यहाँ जिस ज्ञानको अव्याघात और अनुत्तम बतलाया गया है वह वही क्षायिक ज्ञान है जिसे पिछले पद्यमें उज्ज्वल (परम निर्मल) और कभी अस्त न होकर सदा उदित रहनेवाला तथा २८वें पद्यमें ‘केवलज्ञान’ व्यक्त किया है। इसी ज्ञानकी यह महिमा अथवा विशेषता है कि यह त्रिकाल-गोचर सारे विद्यमान तथा अविद्यमान पदार्थोंको युगपत्—एक साथ अपना विषय बनाता है—अपने अव्याघात गुणके कारण सदा अबाधित-विषय रहता है—कोई भी पर-पदार्थ उसको उसके त्रिकाल-गोचर सत्-असत् पदार्थोंके जाननेमें कभी बाधक नहीं होता है।

सत् और असत् पदार्थ कौन ?

असन्तस्ते मता दक्षैरतीता भाविनश्च ये ।

वर्तमानाः पुनः सन्तस्त्रैलोक्योदरवर्तिनः ॥२७॥

१. तत्कालिगेव सव्वे सदसम्भूदा हि पज्जया तासि । वट्टते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

—प्रवचनसार

२. जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीयपज्जाया । ते होति असम्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

—प्रवचनसार

‘त्रिलोकके मध्यवर्ती जो पदार्थ अतीत हैं—भूतकालमें तत्कालीन पर्याय-दृष्टिसे जिनका अस्तित्व था—और जो भावी हैं—भविष्यकालमें तत्कालीन पर्याय-दृष्टिसे जिनका अस्तित्व होगा—वे दक्षों—विवेक-निपुणोंके द्वारा असत्—अविद्यमान—माने गये हैं और जो वर्तमान हैं—अपनी वर्तमान समय-सम्बन्धी पर्यायमें स्थित हैं—उन्हें सत्—विद्यमान—माना गया है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिन सत् (विद्यमान) तथा असत् पदार्थोंको युगपत् जाननेकी बात कही गयी है उन्हें इस पद्यमें स्पष्ट किया गया है : असत् उन्हें बतलाया गया है जो अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) कालके विषय हैं और सत् वे हैं जो वर्तमान कालके विषय हैं। तीनों ही कालोंके ये विषय तीनों लोकोंके उदरमें रहनेवाले हैं—कोई भी लोक ऐसा नहीं जहाँ भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूपसे पदार्थोंका अस्तित्व न हो।

भूत-भावी पदार्थोंको जाननेका रूप

अतीता भाविनश्चार्थाः स्वे स्वे काले यथाखिलाः ।

वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलम् ॥२८॥

अतः—सत्-असत्की उक्त लक्षण दृष्टिसे—सम्पूर्ण अतीत और अनागत पदार्थ अपने-अपने कालमें जिस रूपमें वर्तते हैं उनको भी केवलज्ञान उसी रूपमें जानता है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिन अतीत-अनागत पदार्थोंको युगपत् जाननेकी बात कही गयी है उन्हें केवलज्ञान किस रूपसे जानता है उसे इस पद्यमें स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि अतीत-अनागत पदार्थ अपने-अपने कालमें जिस प्रकारसे वर्तमान होते हैं उन्हें भी केवलज्ञान उनके तत्कालीन वर्तमानरूपकी तरह जानता है, न कि केवल वर्तमान कालके पदार्थोंको वर्तमानकी तरह। जो आज भूत है वह कल वर्तमान था और जो आज वर्तमान है वह कलको भूत हो जायेगा। भूतको स्मृतिके द्वारा और भविष्यको किसी निमित्तकी सहायतासे केवलज्ञान नहीं जानता, उसके सामने द्रव्योंकी सय पर्यायों वर्तमानकी तरह स्पष्ट खुली हुई होती हैं, तभी वह उनका युगपत् जाननेवाला हो सकता है।

ज्ञानके सब पदार्थोंमें युगपत् प्रवृत्त न होनेसे दोषापात्त

‘सर्वेषु यदि न ज्ञानं यौगपद्येन वर्तते ।

तदैकमपि जानाति पदार्थं न कदाचन ॥२९॥

एकत्रापि यतोऽनन्ताः पर्यायाः सन्ति वस्तुनि ।

क्रमेण जानता सर्वे ज्ञायन्ते कथ्यतां कदा ॥३०॥

‘यदि (केवल) ज्ञान सब पदार्थोंमें युगपत्-रूपसे नहीं वर्तता है—सबको एक साथ नहीं जानता है—तो वह एक भी वस्तुको कभी नहीं जानता; क्योंकि एक वस्तुमें भी अनन्त पर्यायों होती हैं, क्रमसे जानते हुए वे सब पर्यायों कब जानी जाती हैं सो बतलाओ? पर्यायोंके ज्ञानका अन्त न आनेसे कभी भी एक वस्तुका पूरा जानना नहीं बन सकता।’

१. यदि पञ्चकखमजायं पञ्जायं पलङ्गं च णाणस्स । ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परुव्वेति ॥३१॥ —प्रवचनसार २. जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे । णाहुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥ दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि । ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥—प्रवचनसार

व्याख्या—पिछले पद्योंमें त्रिलोक-स्थित त्रिकालगत सर्व पदार्थोंको युगपत् जाननेकी बात कही गयी है। इन पद्योंमें यह बतलाया गया है कि यदि केवलज्ञान उन सब पदार्थोंको युगपत् नहीं जानता है तो यह कहना होगा कि वह एक पदार्थको भी पूरा नहीं जानता है; क्योंकि एक पदार्थमें भी अनन्त पर्यायें होती हैं, क्रमशः उन्हें जानते हुए कब उन सब पर्यायोंको जान पायेगा ? कभी भी नहीं। जब इस तरह एक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें कभी भी पूरी जाननेमें नहीं आ सकेंगी तब एक द्रव्यका पूरा जानना कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। और यह एक बड़ा दोष उपस्थित होगा। यदि एक द्रव्यकी पर्यायोंको क्रमशः जानते हुए उनके जाननेका अन्त माना जायेगा तो तदनन्तर द्रव्यको पर्यायशून्य मानना होगा और पर्यायशून्य माननेका अर्थ होगा द्रव्यका अभाव; क्योंकि 'गुण पर्याय-बद्धद्रव्यम्' इस सूत्र वाक्यके अनुसार गुण-पर्यायवान्को 'द्रव्य' कहते हैं, गुण और पर्याय दोनोंमें-से कोई नहीं तो द्रव्य नहीं। और द्रव्य चूँकि सत् लक्षण होता है अतः उसका कभी अभाव नहीं हो सकता—भले ही पर्यायें जल-कल्लोलोंकी तरह समय-समयपर पलटती-बदलती रहें। ऐसी स्थितिमें केवलज्ञानका युगपत् सब पदार्थोंको जानना ही ठीक बैठता है—क्रमशः जानना नहीं। समस्त बाधक कारणोंका अभाव हो जानेसे केवलज्ञान जाननेकी अनन्तानन्त-शक्तिसे सम्पन्न है, उसमें सब द्रव्य अपनी-अपनी अनन्त पर्यायोंके साथ ऐसे झलकते हैं जैसे दर्पणमें पदार्थ समूह झलका करते हैं।^३

जो ज्ञान पदार्थोंको क्रमसे जानता है वह न तो नित्य होता है, न क्षायिक और न सर्वगत; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारकी निम्न गाथामें व्यक्त किया है—

उप्यज्जदि जदि णाणं कमसो अट्टे पडुच्च णाणिस्स ।

तं णे व हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

वह क्रमवर्ती ज्ञान नित्य इसलिए नहीं कि एक पदार्थका अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता है दूसरे पदार्थके ग्रहणपर नष्ट हो जाता है; क्षायिक इसलिए नहीं कि वह ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमाधीन प्रवर्तता है और सर्वगत इसलिए नहीं कि वह अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-को युगपत् जाननेमें असमर्थ है। अतः ऐसे क्रमवर्ती पराधीन ज्ञानका धनी आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

आत्माके घातिकर्मक्षयोत्पन्न परम रूपकी श्रद्धाका पात्र

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद्रूपं परमात्मनः ।

श्रद्धत्ते भक्तितो भव्यो नाभव्यो भववर्धकः ॥३१॥

'घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ आत्माका जो परम रूप है उसको भव्यात्मा भक्तिसे श्रद्धान करता है, अभव्य जीव नहीं; क्योंकि वह भववर्धक होता है—स्वभावसे संसार-पर्यायोंको बढ़ाता रहता है—और इसलिए आत्माके उस परम रूपकी श्रद्धासे सदा विमुख रहता है।

१. सद्द्रव्यलक्षणम् । -त० सूत्र ५-२९ । २. नैवासतो जन्म सतो न नाशो ।—(समन्तभद्र)

३. तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः । दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥ -अमृतचन्द्र (पुरु० सि०) ४. जो ण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि । इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि ॥१६३॥ —पञ्चास्तिकाय

व्याख्या—ग्रन्थके १०वें पद्यमें यह बतलाया था कि केवलज्ञान तथा केवलदर्शन कर्मके क्षयसे उदयको प्राप्त होते हैं। वे कर्म कौन-से हैं ? यहाँ उनको 'घाति' विशेषणके द्वारा स्पष्ट किया गया है। घातिया कर्म चार हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय, और ४ अन्तराय। अतः केवलज्ञान और केवलदर्शन, केवलज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंके क्षयसे ही उत्पन्न नहीं होते किन्तु मोहनीय और अन्तराय कर्मोंके क्षयकी भी साथमें अपेक्षा रखते हैं। इन चारों कर्मोंके मूलतः विनष्ट होनेपर ही आत्माका वह परम रूप विकासको प्राप्त होता है जो अनन्त-दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य चतुष्टयात्मक सर्वज्ञका रूप है।^१ इस रूपके प्रति भव्यजीवकी बड़े भक्ति-भावसे श्रद्धा होती है; क्योंकि वह अपना भी यह रूप समझता है और जब भी अवसर मिलता है उसके विकासका यत्न करता है। परन्तु अभव्य जीव उसकी श्रद्धा नहीं करता; क्योंकि स्वभावसे ही भववर्द्धक—संसार चक्रको बढ़ानेवाला भवाऽभिनन्दी—होता है।

आत्माके परम रूप श्रद्धानीको अव्यय पदकी प्राप्ति

यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत्क्रमातीतमतीन्द्रियम् ।

श्रद्धात्यात्मनो रूपं स याति पदमव्ययम् ॥३२॥

'जो सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठ है, जो क्रमातीत है—क्रमवर्ती नहीं अथवा आदि मध्य अन्तसे रहित है—तथा अतीन्द्रिय है—इन्द्रियज्ञानगोचर नहीं—उस आत्माके (परम) रूपको जो श्रद्धान करता है वह अविनाशी पद—मोक्षको प्राप्त होता है।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें आत्माके घातिकर्म क्षयोत्पन्न जिस परम रूपका श्रद्धान करनेवाले भव्यजीवका उल्लेख है उसके विषयमें यहाँ इतना और स्पष्ट किया गया है कि वह आत्माके रूपको सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठतम, क्रम रहित और अतीन्द्रिय श्रद्धान करता है और ऐसा श्रद्धान करनेवाला अव्ययपद जो मोक्षपद है उसको प्राप्त होता है।

आत्माके परम रूपकी अनुभूतिका मार्ग

निर्व्यापारीकृताक्षस्य यत्क्षणं भाति पश्यतः ।

तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं शुद्धं संवेदनात्मकम् ॥३३॥

'इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर क्षण-भर अन्तर्मुख होकर देखनेवाले योगीको जो रूप दिखलाई पड़ता है उसे आत्माका शुद्ध संवेदनात्मक (ज्ञानात्मक) रूप जानना चाहिए।'

व्याख्या—इस पद्यमें आत्माको साक्षात् रूपसे अनुभव करनेकी प्रक्रियाका उल्लेख है और वह यह कि सब इन्द्रियोंको व्यापार रहित करके—इन्द्रियोंकी अपने विषयोंमें प्रवृत्तिको रोककर—साथ ही मनको भी निर्विकल्प करके—जो कुछ क्षणमात्रके लिए अन्तरंगमें दिखलाई पड़ता है वह आत्माका रूप है, जो कि शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है। यहाँ मनको निर्विकल्प करनेकी बात यद्यपि मूलमें नहीं है परन्तु उपलक्षणसे फलित होती है; क्योंकि मन इन्द्रियोंकी

१. अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीर्वाणवन्दितः । घातिकर्मक्षयोत्पन्नं स्पष्टानन्तचतुष्टयः ॥— रामसेन, तत्त्वानुशासन । २. म श्रद्धात्यात्मनो । ३. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना । यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥—समाधितन्त्र ।

प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमें समर्थ होता है ।^१ मन सविकल्प अथवा चंचल रहे और इन्द्रियाँ अपने व्यापारसे निवृत्त हो जायें यह प्रायः नहीं बनता । श्री पूज्यपादाचार्यने भी समाधितन्त्रमें 'स्तिमतेनान्तरात्मना' और इष्टोपदेशमें 'एकाग्रत्वेन चेतसः' पदके द्वारा इसी बातको व्यक्त किया है । इतना ही नहीं, प्रकृत ग्रन्थमें भी उसका आगे स्पष्ट उल्लेख किया है—

निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतसः ।

तद्रूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः ॥४५॥

इस पद्यमें 'कृताभ्यासस्य' पदके द्वारा एक बात खास तौरसे और कही गयी है और वह यह कि यह आत्मदर्शन (यँ ही सहज-साध्य नहीं) अभ्यासके द्वारा सिद्ध होता है अतः इन्द्रियोंको व्यापाररहित और मनको निर्विकल्प करनेके अभ्यासको बराबर बढ़ाते रहना चाहिए । मन तभी निर्विकल्प (स्थिर) होता है जबकि उसमें राग-द्वेषादिकी—काम-क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह-शोक-भयादिकी—लहरें न उठें, और ऐसा स्थिर मनवाला योगी साधक ही आत्मतत्त्वके दर्शनका अधिकारी होता है—दूसरा कोई नहीं । जैसा कि पूज्य-पादाचार्यके समाधितन्त्र गत निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

राग-द्वेषादि-कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

श्रुतके द्वारा भी केवल-सम आत्मबोधकी प्राप्ति

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्निरागी भूतचेतनैः ।

निरवद्यश्रुतेनापि केवलेनेव बुध्यते ॥३४॥

'अपने आत्माके विचारमें निपुण राग-रहित जीवोंके द्वारा निर्दोष श्रुतज्ञानसे भी आत्मा केवलज्ञानके समान जाना जाता है ।'

व्याख्या—यहाँ आत्मा एक दूसरे मार्गसे भी अपने शुद्धस्वरूपमें जाना जाता है इसका निर्देश है । वह मार्ग है निर्दोष श्रुतज्ञानका और उस मार्गसे जाननेके अधिकारी हैं वे आत्म-विचारमें निपुण विज्ञानजन जिनका आत्मा प्रायः रागादिसे रहित हो गया है । यहाँ भी आत्माका साक्षात् अनुभव करनेवालेके लिए राग-द्वेषादिसे रहित होनेकी बात मुख्यतासे कही गयी है । यदि मन राग-द्वेषादिसे आकुलित है तो कितना भी श्रुताभ्यास किये जाओ उसके द्वारा आत्मदर्शन नहीं बन सकेगा । आत्मदर्शनकी पात्रताके लिए राग-द्वेषादिसे रहित होना आवश्यक है—मार्ग कोई भी हो सकता है : इन्द्रिय मनके व्यापारको रोककर देखना अथवा निर्मल भावश्रुतज्ञानके द्वारा देखना ।

जो भाव श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माके केवल शुद्ध स्वरूपका अनुभव करते हैं उन्हें 'श्रुत-केवली' कहा जाता है—जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।

तं सुयकेवलमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥९॥

—समयसार ।

१. इन्द्रियाणां प्रवृत्ती च निवृत्तौ च मनः प्रभु । मन एवं जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥७६॥
—रामसेन, तत्त्वानुशासन । २. आ निरवद्यं ।

इस गाथामें जिसे 'केवल शुद्ध' कहा गया है प्रवचनसारकी ३३वीं गाथामें उसे ही 'ज्ञायकस्वभाव' रूप बतलाया है।

जिनेन्द्र भगवान्‌के जिस श्रुतका—सूत्ररूप आगमका—यहाँ निर्देश किया है वह पौद्गलिक वचनोंके द्वारा निर्दिष्ट होनेसे 'द्रव्य श्रुत' है—स्वतः ज्ञानरूप न होकर पुद्गलके रूपमें है, उसकी जो ज्ञप्ति—जानकारी वह 'भाव-श्रुतज्ञान' कहलाती है। भाव-श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण पड़नेसे उस द्रव्य-श्रुतको भी उपचारसे—व्यवहार नयसे—श्रुतज्ञान कहा जाता है। सूत्र तो उपाधिरूपमें होनेसे छूट जाता है, ज्ञप्ति ही अवशिष्ट रह जाती है। वह ज्ञप्ति केवलज्ञानीकी और श्रुतकेवलीकी आत्माके सम्यक् अनुभवनमें समान ही होती है, वस्तुतः ज्ञानका श्रुतोपाधिरूप भेद नहीं है। ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी ३४वीं गाथाकी टीकामें व्यक्त किया है—

“अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते । सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्म-संचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ।”

स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनोंके सर्व-तत्त्व-प्रकाशनमें साक्षात्-असाक्षात्का—प्रत्यक्ष-परोक्षका—भेद है—जीवाजीवादि तरवों-के यथार्थरूपसे जाननेमें कोई अन्तर नहीं है; जैसा कि देवागमकी निम्न कारिकासे प्रकट है—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

आत्माके सम्यक्चारित्र कब होता है

रागद्वेषापराधीनं यदा ज्ञानं प्रवर्तते ।

तदाभ्यधायि चारित्रमात्मनो मलसूदनम् ॥३५॥

‘जब ज्ञान राग-द्वेषकी पराधीनतासे रहित हुआ प्रवर्तता है तब आत्माके वह चारित्र होता है जो कि मलका—कर्म-कालिमाका—नाशक है।’

व्याख्या—जिस समय ज्ञान राग-द्वेषके अधीन नहीं प्रवर्तता—जिस ज्ञेयको जानता है उसमें राग-द्वेष रूपसे प्रवृत्त न होकर मध्यस्थभाव बनाये रखता है—उस समय सम्यक् चारित्रकी प्रादुर्भूति आत्मामें स्वतः हो जाती है, उसके लिए किसी प्रयत्न-विशेषकी जरूरत नहीं रहती। और यह सच्चरित्र ही आत्मामें लगे कर्ममलको धो डालनेमें समर्थ होता है—कर्ममल इस चारित्रके प्रभावसे स्वतः घुल जाता है, उसको आत्मासे पृथक् होना ही पड़ता है। इससे सार यह निकला कि यदि अपने आत्माको निर्मल करना अथवा रखना है तो अपने ज्ञानको राग-द्वेषरूप कषायके अधीन नहीं होने देना चाहिए। मोह-जनित राग-द्वेषमें सभी कषायोंका समावेश है। रागमें माया, लोभ इन दो कषायों और हास्य, रति तथा काम (वेद) इन तीन नोकषायोंका समावेश है और द्वेषमें क्रोध, मान इन दो कषायोंका तथा

१. जो हि सुदेण विजाणदि अप्पप्पाणं जाणगं सहावेण । तं सुयकेवलमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥ —प्रवचनसार । २. सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदब्बप्पगेहि वयणे हिं । तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन चार नोकषायोंका अन्तर्भाव है। जो राग मिथ्यादर्शनसे युक्त होता है उसे 'मोह' कहते हैं।

ज्ञानके कषायवश होनेपर अहिंसादि कोई व्रत नहीं ठहरता

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म सङ्गविवर्जनम् ।

कषाय-विकले ज्ञाने समस्तं नैव तिष्ठति ॥३६॥

'ज्ञानके कषायसे विकल—विह्वल अथवा स्वभावच्युत—होनेपर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह यह सब (व्रत-समूह) स्थिर नहीं रहता—इसमें-से कोई भी व्रत नहीं बनता।'

व्याख्या—इस पद्यमें चारित्रिके प्रसिद्ध अंगभूत अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-रूपसे जिन पाँच महाव्रतोंका उल्लेख है उनके विषयमें एक बड़ी ही महत्त्वकी बात सुझायी है और वह यह कि ज्ञानके कषायसे—राग-द्वेषसे—व्याकुल एवं दूषित होनेकी अवस्थामें एक भी महाव्रत स्थिर रहने नहीं पाता—सब आत्मासे कूच कर जाते हैं। अतः जो महाव्रती हैं—जिन्होंने मुनिदीक्षा धारण करते समय पंच महाव्रतोंके पालनकी प्रतिज्ञा ली है तथा जो उनका पालन कर रहे हैं—उन्हें समझना चाहिए कि जिस किसी समय भी हम अपने ज्ञानके कषायसे आकुलित होने देंगे उसी समय हमारे पाँचों महाव्रत भंग हो जायेंगे और उस वक्त तक भंग रहेंगे जबतक ज्ञानमें कषायकी वह उद्विग्नता अथवा राग-द्वेषकी वह परिणति स्थिर रहेगी। और इसलिए व्रतभंगसे भयभीत मुनियों तथा योगीजनोंको बहुत ही सावधानीसे वर्तना चाहिए—यों ही अपनेको हर समय महाव्रती न समझ लेना चाहिए। जो ज्ञानी जिस समय भी कषायके वश होता है वह उसी समय असंयत हो जाता है, जैसा कि रयणसार और परमात्मप्रकाशके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

णाणी कसायवसगो असंजदो होदि सो ताव ॥७१॥ -रयणसार

जावइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।

होइ कसायहं वसि गयउ जोउ असंजदु सोइ ॥ -परमात्मप्रकाश २-४१

ज्ञानके आत्मरूप-रत होनेपर हिंसादिक पापोंका पलायन

हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं सङ्गसंग्रहः ।

आत्मरूपगते ज्ञाने निःशेषं प्रपलायते ॥३७॥

'ज्ञानके आत्मरूपमें परिणत होनेपर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह (यह) सब (पाप-समूह) भाग जाता है—इनमें-से कोई भी पाप नहीं बनता।'

व्याख्या—इस पद्यमें भी पूर्वपद्य-जैसी ही महत्त्वकी बात सुझायी है। इसमें हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह नामके पाँचों पापोंका उल्लेख करके लिखा है कि 'जब ज्ञान आत्मरूपमें रत हुआ उसका चिन्तन करता है तब ये पाँचों पाप स्वतः भाग जाते हैं—कोई भी पाप पास फटकने नहीं पाता। इससे आत्माकी शुद्धि स्वतः बनी रहती है—उसको शुद्ध

१. रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पञ्चधा । मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादिषट् ॥

—अध्यात्मरहस्य २७ । २. भा समस्ते नैव तिष्ठते ।

करने तथा शुद्ध रखनेका दूसरा कोई खास प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं रहती। यह सब आत्मध्यानकी महिमा है।

आत्माके निर्मल ज्ञानादिरूप-ध्यानसे कर्मच्युति

चारित्रं दर्शनं ज्ञानमात्मरूपं निरञ्जनम् ।

कर्मभिर्मुच्यते योगी ध्यायमानो न संशयः ॥३८॥

‘निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र (यह) आत्माका स्वरूप है। इस आत्मरूपको ध्याता हुआ योगी कर्मोंसे छूट जाता है, इसमें सन्देहकी कोई बात नहीं है।’

व्याख्या—जिस आत्मरूपकी पिछले पद्यमें सूचना की गयी है उसे इस पद्यमें निर्मल दर्शन, ज्ञान तथा चारित्ररूप निर्दिष्ट किया है। साथ ही यह बतलाया है कि इस (रत्नत्रय) रूपका ध्यान करता हुआ योगी कर्मोंसे अवश्य ही छुटकारा पाता है—ध्यानमें जितनी-जितनी एकाग्रता होती है उतने-उतने ही कर्मोंके बन्धन टूटते जाते हैं। अतः इससे कर्मबन्धनोंसे छुटकारा पाना अपने अधीन है—पराधीन कुछ भी नहीं। अपने आत्मध्यानकी शक्तिको बढ़ाना चाहिए।

पर-द्रव्य-रत-योगीकी स्थिति

यः करोति पर-द्रव्ये रागमात्म-पराङ्मुखः ।

रत्नत्रय-मयो नासौ न चारित्र-चरो यतिः ॥३९॥

‘जो योगी आत्मासे पराङ्मुख हुआ पर-द्रव्यमें राग करता है वह योगी न तो रत्नत्रयमय है और न (शुद्ध) चारित्रपर चलनेवाला है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें यह बतलाया है कि आत्मस्वरूपका ध्यान करता हुआ योगी कर्मबन्धनसे छूटता है। इस पद्यमें उस योगीका उल्लेख है जो आत्मध्यानसे मुख मोड़े हुए परद्रव्यमें राग रखता है। उसके विषयमें लिखा है कि वह न तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयका धारक है और न (शुद्ध) चारित्रपर ही चलनेवाला है। वस्तुतः परद्रव्यमें आसक्त वही होता है जो आत्मस्वरूपसे विमुख होता है और जो आत्मस्वरूपसे विमुख है उसके रत्नत्रयकी बात तो दूर, शुद्धचारित्रका आचरण भी नहीं बनता।

निश्चय-चारित्रका स्वरूप

अभिन्नमात्मनः शुद्धं ज्ञानदृष्टिमयं स्फुटम् ।

चारित्रं चर्यते शश्वच्चारु-चारित्रवेदिभिः ॥४०॥

‘जो सम्यक् चारित्रके अनुभवी हैं वे आत्मासे अभिन्न स्पष्ट शुद्ध दर्शन-ज्ञान-मय चारित्रका सदा आचरण करते हैं।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस चारित्रका उल्लेख है उसके दो भेद हैं : एक निश्चय और दूसरा व्यवहार। इस पद्यमें निश्चय चारित्रके स्वरूपका उल्लेख है और उसे आत्मासे अभिन्न शुद्ध स्पष्ट ज्ञानदर्शनमय बतलाया है—अर्थात् अपने आत्माके शुद्ध-स्पष्ट ज्ञान-दर्शनको लिये हुए जो आत्मचर्या है—आत्मामें रमण है—उसे निश्चयचारित्र निर्दिष्ट किया है। और साथ ही यह सूचित किया है कि जो सम्यक् चारित्रके मर्मज्ञ हैं वे सदा इस निश्चयचारित्रपर चलते हैं—अपनी परिणतिको सदा शुद्ध ज्ञान-दर्शन-रूप बनाये रखते हैं।

व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यका रूप

‘आचार-वेदनं ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्व-रोचनम् ।

चारित्र्यं च तपश्चर्या व्यवहारेण गद्यते ॥४१॥

‘व्यवहारसे—व्यवहारनयकी अपेक्षासे—तत्त्वरुचिको सम्यग्दर्शन, आचारवेदनको—आचारांगादि-श्रुतके जाननेको—अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप और वीर्यके भेदरूप पाँच प्रकारका जो आचार है उसके अधिगमको सम्यग्ज्ञान और तपरूप प्रवृत्तिको सम्यक्चारित्र्य कहा जाता है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यका निर्देश है, तत्त्वों-पदार्थोंकी रुचि-प्रतीति अथवा श्रद्धाको सम्यग्दर्शन बतलाया है और उसके लिए कुन्दकुन्दाचार्यके पंचास्तिकाय (गा० १०७) तथा समयसार (गा० १५५) ग्रन्थोंकी तरह ‘सम्यक्त्व’ शब्दका प्रयोग किया है, जो कि सम्यग्दर्शनका पर्याय-नाम है और जिसे समयसारकी २७६वीं गाथामें ‘दंसण’ शब्दसे भी उल्लिखित किया है^१ । आचार-वेदन (ज्ञान)को सम्यग्ज्ञानके रूपमें निर्दिष्ट किया है । इस ‘आचार-वेदन’ पदमें ‘आचार’ शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है—एक तो द्वादशांग-श्रुतके प्रथम अंग आचारांगके अर्थमें । इस अर्थमें इसे ग्रहण करनेसे शेष अंगोंके ज्ञानको भी उपलक्षणसे साथमें ग्रहण करना होगा । इसीसे कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारकी २७६वीं गाथामें ‘आयारादीणाणं’ इस वाक्यमें आचार (आचार) के साथ ‘आदि’ शब्दको जोड़ा है और पंचास्तिकायकी १६०वीं गाथामें ‘णाणमंगपुब्बगदं’ वाक्यके द्वारा स्पष्ट ही अंगों तथा पूर्वोंके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान बतलाया है । दूसरा अर्थ मूलाचार-वर्णित दर्शनाचारादि रूप पाँच प्रकारके आचार-ज्ञानसे सम्बन्ध रखता है, जिसमें प्रकारान्तर-से सारे श्रुतज्ञानका समावेश हो जाता है । ‘तपश्चर्या’ का नाम यहाँ ‘सम्यक्चारित्र्य’ बतलाया है, जो कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यके ‘चेट्टा तवं म्हि चरिया’ इस वाक्यके समकक्ष है और जिसका आशय समभाव (समता) अथवा रागादिकके परित्यागसे है ।^३

स्वभाव-परिणत आत्मा ही वस्तुतः मुक्तिमार्ग

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र्य-स्वभावः परमार्थतः ।

आत्मा राग-विनिर्मुक्तो मुक्ति-मार्गो विनिर्मलः ॥४२॥

‘परमार्थसे—निश्चय नयकी अपेक्षासे—रागरहित विगतकर्ममल एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-स्वभावमें स्थित आत्मा मोक्षमार्ग है ।’

व्याख्या—पारमार्थिक दृष्टिसे आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप स्वभावको लिये हुए है । इस स्वभावको ही ‘वत्थुसहावो धम्मो’ इस सूत्रके अनुसार ‘धर्म’ कहा जाता है; जैसा कि

१. धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुब्बगदं । चेट्टा तवं म्हि चरिया व्यवहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६०॥
—पञ्चास्ति० । २. सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं । चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं । रायादीपरिहरणं चरणं एत्तो दु मोक्खपहो ॥१५५॥ आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णोयं । छज्जीवणिकं च तथा भणइ चरित्तं तु व्यवहारो ॥२७६॥ ३. चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं —पञ्चास्ति० १०७ । रायादी परिहरणं चरणं—समयसार १५५ । चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिहिट्ठो । मोह-क्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हू समो ॥—प्रवचनसार ७

स्वामी समन्तभद्रके 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः' इस वाक्यसे जाना जाता है। यह स्वभाव जब विभाव-परिणमनमें कारणभूत कर्ममलके दूर होनेसे निर्मलताको प्राप्त होता है तब आत्मा स्वयं रागसे विमुक्त हुआ मुक्तिमार्गरूप परिणत होता है।

मुक्तिका मार्ग या कारण आत्मासे भिन्न कोई पर-पदार्थ नहीं है। आत्माका स्वभाव यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बतलाया है और इसीको 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि आगम-वाक्योंके द्वारा मोक्षमार्ग निर्दिष्ट किया गया है। इससे दोनों अभिन्न हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। आत्मा अपनी मुक्ति स्वयं न करके कोई दूसरा उसे करने आयेगा, यह धारणा बिल्कुल गलत और भ्रान्त है। अतः मुमुक्षु आत्मा अपने बन्धनकी स्थितिको भली प्रकार जानकर उससे छूटनेका स्वयं उपाय करता है। यह छूटनेका उपाय जिसे 'मोक्षमार्ग' कहते हैं, अपने आत्मस्वरूपमें स्थितिके सिवाय और कुछ नहीं है। जिस समय यह स्वरूपस्थिति पूर्णताको प्राप्त होती है उसके उत्तरक्षणमें ही मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

जिस कर्ममलके निमित्तसे आत्माका अपनी वैभाविकी शक्तिके कारण विभाव-परिणमन होता है वह मुख्यतः द्रव्य और भाव मलके भेदसे दो प्रकारका है। ज्ञानावरणादि-द्रव्य-कर्मरूप परिणत होकर आत्माके साथ सम्बन्धको प्राप्त हुए जो पुद्गलपरमाणु हैं उन्हें 'द्रव्य-कर्ममल' कहते हैं। और द्रव्यकर्ममलके उदयका निमित्त पाकर जो राग-द्वेष-मोहादिरूप विकारभाव उत्पन्न होते तथा नवीन कर्मबन्धका कारण बनते हैं उन्हें 'भावकर्ममल' समझना चाहिए।

निश्चयसे आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

यश्चरत्यात्मनात्मानमात्मा जानाति पश्यति ।

निश्चयेन स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमुच्यते ॥४३॥

'जो आत्माको निश्चयसे—निश्चय नयकी दृष्टिसे—देखता, जानता और आचरता (स्वरूपमें प्रवृत्त करता) है वह आत्मा ही (स्वयं) दर्शनरूप (स्वयं) ज्ञानरूप और (स्वयं) चारित्ररूप कहा जाता है।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें मुक्तिमार्गको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप त्रितयात्मक निर्दिष्ट किया है; इस पद्यमें बतलाया है कि ये तीन रूप तीन भिन्न वस्तुओंका कोई समुदाय नहीं है, निश्चयनयकी दृष्टिसे ये दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों एक ही आत्माके रूप हैं; क्योंकि निश्चय नय अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि-विषयक होता है—जो आत्मा जिसको देखता, जानता अथवा जिस रूप आचरण करता है वह निश्चय नयकी अपेक्षा स्वसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं होती।

१. निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः । नैवादत्ते किञ्चिन्न मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥
—तत्त्वानु० ३१ ॥ सम्मदंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाण । ववहारा णिच्छयदो
तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥—द्रव्यसं० ३९ । २. जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं
अप्पणा अणणमयं । सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥१६२॥—पञ्चास्ति० ।
३. अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नयः । व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥—तत्त्वानु० २९ ।

आत्मोपासनासे भिन्न शिव-सुख-प्राप्तिका कोई उपाय नहीं

तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभिः ।

लब्धुपायः परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मणः ॥४४॥

‘अतः मुमुक्षुओंको उक्त प्रकारसे आत्माको जानकर श्रद्धाके साथ उसका सेवन करना चाहिए, क्योंकि मोक्षसुखकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है ।’

व्याख्या—जिस दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मुक्तिमार्ग कहा गया है वह जब पूर्व-पद्यानुसार स्वात्मासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है तब मुमुक्षुओंको—मुक्तिप्राप्तिके इच्छुकोंको—स्वात्माको उसके शुद्ध स्वरूपमें भले प्रकार जानकर श्रद्धाके साथ उसका सेवन करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध-स्वात्माका सेवन छोड़कर मुक्तिसुखकी प्राप्तिका दूसरा कोई भी उपाय नहीं है । मुक्तिकी प्राप्ति मुक्तिसुखके लिए ही चाही जाती है, जो सर्व प्रकारसे निराकुल, अबाधित एवं परतन्त्रतासे रहित होता है । यदि वह सुख लक्ष्यमें नहीं तो मुक्तिप्राप्तिकी इच्छाका कोई अर्थ ही नहीं ।

आत्मस्वरूपकी अनुभूतिका उपाय

‘निषिध्य स्वार्थतोऽच्चाणि विकल्पातीत-चेतसः ।

तद्रूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः ॥४५॥

‘इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे रोककर आत्मध्यानका अभ्यास करनेवाले निर्विकल्प-चित्त ध्याताको आत्माका वह रूप वस्तुतः स्पष्ट प्रतिभासित होता है—साक्षात् अनुभवमें आता है ।’

व्याख्या—यहाँ आत्माके उस शुद्ध स्वरूपका अनुभव कैसे किया जाय इसके उपायकी वह सूचना और स्पष्ट रूपसे की गयी है जिसे आचार्य महोदय ग्रन्थके ३३वें पद्यमें बतला आये हैं और इसलिए उसे उक्त पद्यकी व्याख्यासे जानना चाहिए । इस पद्यमें ‘तद्रूपं स्पष्टमाभाति’ इस वाक्यके द्वारा यह ख़ास घोषणा की गयी है कि उक्त उपायसे अच्छे अभ्यासीको आत्माका वह शुद्ध स्वरूप स्पष्ट-साक्षात् प्रतिभासित होता है—उसमें कुछ परोक्ष नहीं रहता, भले ही वह एक क्षणके लिए ही क्यों न हो ।

आचार्य देवसेनने तो आराधनासारमें इस विषयको और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ‘मन मन्दिरके उजाड़ होनेपर—उसमें किसी भी संकल्प-विकल्पका वास न रहनेपर—और समस्त इन्द्रियोंका व्यापार नष्ट हो जानेपर आत्माका स्वभाव अवश्य आविर्भूत होता है और उस स्वभावके आविर्भूत होनेपर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है :—

उव्वसिए मणगेहे णट्टे णिस्सेस-करण-वावारे ।

विस्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवदि ॥८५॥

विवक्षित केवलज्ञानसे भिन्न आत्माका कोई परमरूप नहीं

स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलम् ।

नास्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितुः^३ परम् ॥४६॥

१. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना । यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

—समाधितन्त्र । २. आ निषिध्यः, व्या निषिध्यः । ३. आ स्वसंवेद्यतमत्यक्ष । ४. व्या नयतु ।

‘जो अतीन्द्रिय है—इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है—अव्यभिचारी है—जिसका कभी भी संशय-विपर्ययादि-रूप अन्यथा परिणमन नहीं होता—और स्वतः संविदित है—स्वयं अपने द्वारा आपको जानता है—उस केवलज्ञानको छोड़कर आत्माका दूसरा कोई परम-रूप नहीं ।’

व्याख्या—यहाँ आत्माके उस परमरूपके विषयमें यह घोषणा की गयी है कि वह केवल-ज्ञानको छोड़कर दूसरा और कुछ नहीं है। साथ ही केवलज्ञानको स्पष्ट करनेके लिए उसके तीन विशेषण दिये गये हैं—१ अत्यक्ष, २ अव्यभिचारी, ३ स्वसंविदित। अत्यक्ष अतीन्द्रियको कहते हैं—जो ज्ञान स्पर्शनादि किसी भी इन्द्रियकी सहायताके बिना जानता है वह ‘अत्यक्ष’ (अतीन्द्रिय) ज्ञान कहलाता है। जिस ज्ञानमें कभी भी अन्यथा परिणामरूप व्यभिचार-दोष नहीं आता उसे ‘अव्यभिचारी’ समझना चाहिए। और जो ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा सम्यक्ज्ञात होता है—भानु-मण्डलकी तरह परके द्वारा अप्रकाशित होता है—उसे ‘स्वसं-विदित’ कहा जाता है।

परवस्तुमें अणुमात्र भी राग रखनेका परिणाम

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि ।
आत्मतत्त्व-परिज्ञानी^१ बध्यते^२ कलिलैरपि ॥४७॥

‘जिसके पर-वस्तुमें अणुमात्र—सूक्ष्मसे सूक्ष्म—भी राग विद्यमान है वह आत्म-तत्त्वका ज्ञाता होनेपर भी पापोंसे—कर्म प्रकृतियोंसे—बंधता है ।’

व्याख्या—पीछे ३६वें पद्यमें यह बतला आये हैं कि जो योगी आत्मज्ञानसे विमुख हुआ परद्रव्यमें राग करता है वह न तो रत्नत्रयरूप है और न चारित्रपर चलनेवाला ही है। इस पद्यमें यह बतलाया है कि जो योगी आत्मतत्त्वसे विमुख न होकर उसका परिज्ञाता तो है परन्तु परवस्तुमें बहुत थोड़ा-सा राग भी यदि रखता है तो वह कर्म-बन्धनसे अवश्य बन्धको प्राप्त होता है—मात्र सम्यग्ज्ञानका होना कर्मबन्धको रोकनेमें समर्थ नहीं है। उसके लिए राग-द्वेषके अभावरूप सम्यक् चारित्रका होना भी जरूरी है।

परमेष्ठिरूपकी उपासना परमपुण्य-बन्धका हेतु

यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः ।
स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते ॥४८॥

‘जो आत्माके रूपको छोड़कर परमेष्ठीकी सेवा करता है—अरहन्तादि परमेष्ठियोंके रूपको ध्याता है—वह उत्कृष्ट पुण्यको बांधता है, किन्तु कर्मक्षयको पूर्णतः प्राप्त नहीं होता—आत्मामें शुभकर्मोंका आगमन (आस्रव-बन्ध) बना रहता है ।’

व्याख्या—४४वें पद्यमें मुमुक्षुके लिए मुक्तिप्राप्तिके अर्थ एकमात्र आत्म-सेवाकी बात कही गयी है और यहाँतक लिखा है कि दूसरा कोई भी उपाय मुक्तिकी प्राप्ति नहीं है। इसपर यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अरहन्तादि परमेष्ठियोंकी सेवा-भक्तिसे मुक्तिकी प्राप्ति

१. सु परिज्ञानो; व्या परिज्ञा तो। २. आ बध्यते। ३. अरहंत-सिद्ध-चेदिय-पवयण-गण-गाण-भक्ति-संपण्णो। बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥१६६॥—पञ्चास्ति० ।

नहीं होती ? इसके उत्तरमें ही इस पद्यका अवतार हुआ जान पड़ता है । इसमें बतलाया है । कि जो आत्मरूपको छोड़कर परमेश्वररूपकी उपासना करता है वह उत्कृष्ट पुण्यका बन्ध करता है और इसीलिए कर्मका सर्वथा क्षय नहीं कर पाता । कर्मोंका सर्वथा क्षय हुए बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती । मुक्तिकी प्राप्तिके लिए उसे अर्हन्तादिके प्रति भक्ति-रागको भी छोड़ना पड़ेगा । यद्यपि यह राग शुभ होता है, इसमें अशुभ कर्मके बन्धको अवसर नहीं, प्रत्युत इसके पूर्व बंधा हुआ अशुभ कर्म छूट जाता है; फिर भी यह राग नये पुण्य बन्धका कारण तो है ही, जिसके फलस्वरूप भक्तको देवलोककी—स्वर्गादिकी—प्राप्ति होती है; जैसा कि पंचास्तिकायकी निम्न गाथासे प्रकट है :—

अरहंत-सिद्ध-चेदिय-पवयण-भक्तो परेण णियमेण ।

जो कुण्दि तवोकम्मं सो सुरलोगे समादियदि ॥१७१॥

इसमें बतलाया गया है कि जो अर्हन्त, सिद्ध, चैत्य तथा प्रवचनका भक्त हुआ उत्कृष्ट (भक्ति) रूपसे तपश्चरण-कार्य करता है वह नियमसे देवलोकको प्राप्त करता है ।

कर्मास्रवको रोकनेका अनन्य उपाय

नागच्छच्छक्यते कर्म रोद्धुं केनापि निश्चितम् ।

निराकृत्य परद्रव्याण्यात्मतत्त्वरतिं विना ॥४६॥

‘परद्रव्योंको छोड़कर आत्मतत्त्वमें रति-लीनता किये बिना आते हुए कर्मको—आत्मामें प्रविष्ट एवं संश्लिष्ट (आस्रव-बन्धको प्राप्त) होते हुए कर्म-समूहको—किसी भी उपायसे रोकना सम्भव नहीं; यह निश्चित है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें परद्रव्योंकी उपासना छोड़नेकी बातको और दृढ़ किया गया है । लिखा है कि परद्रव्योंको—परद्रव्योंमें रतिको—छोड़कर आत्म-तत्त्वमें रति किये बिना दूसरे किसी भी उपायसे आत्मामें कर्मोंके आगमनको—आस्रवको—रोका नहीं जा सकता, यह असन्दिग्ध है । अतः मोक्षप्राप्तिके अभिलाषियोंको कर्मोंके आस्रव-बन्धसे छूटनेके लिए परद्रव्योंकी उपासनाको छोड़कर आत्मध्यानमें रतिको अपनाना चाहिए ।

परद्रव्योपासक-मुमुक्षुओंकी स्थिति

ये मूढा लिप्सवो मोक्षं परद्रव्यमुपासते ।

ते यान्ति सागरं मन्ये हिमवन्तं यियासवः ॥५०॥

‘जो मोक्षकी लालसा रखते हुए परद्रव्यकी उपासना करते हैं—पर-द्रव्योंके भक्त एवं सेवक बने हुए उन्हींके पीछे डोलते हैं—वे मूढजन हिमवान पर्वतपर चढ़नेके इच्छुक होते हुए समुद्रकी ओर चले जाते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ।’

व्याख्या—यहाँ उन लोगोंको मूढ—महामूर्ख मिथ्यादृष्टि—बतलाया गया है जो लालसा तो रखते हैं मोक्षकी और उपासना करते हैं पर-पदार्थोंकी । पर-पदार्थोंके बन्धनसे सर्वथा छूटनेका नाम ही तो ‘मोक्ष’ है, जब पर-पदार्थोंमें अनुराग रखा जाता है तब उनके बन्धनसे छूटना कैसा ? ऐसे लोगोंकी स्थिति उन यात्रियों-जैसी है जो जाना तो चाहते हैं हिमालय पर्वतपर और चले जा रहे हैं समुद्रकी तरफ !

१. आ, व्या निराकृतापरद्रव्यामात्मतत्त्वरति ।

परद्रव्य-विचिन्तक और विविक्तात्म-विचिन्तककी स्थिति

परद्रव्यीभवत्यात्मा परद्रव्यविचिन्तकः ।

क्षिप्रमात्मत्वमायाति विविक्तात्मविचिन्तकः ॥५१॥

‘पर-द्रव्योंकी चिन्तामें मग्न रहनेवाला आत्मा परद्रव्य-जैसा हो जाता है और शुद्ध आत्मा-के ध्यानमें मग्न आत्मा शीघ्र आत्मतत्त्वको—अपने शुद्धस्वरूपको—प्राप्त कर लेता है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें परपदार्थोंकी चिन्ताके दोषको और स्वात्मचिन्ताके गुणको दर्शाया है : लिखा है कि जो निरन्तर परद्रव्योंकी चिन्तामें रत रहता है वह परद्रव्य-जैसा हो जाता है और जो शुद्ध आत्माके चिन्तनमें लीन रहता है वह शीघ्र ही अपने आत्म-स्वरूपको प्राप्त होता है—परद्रव्यरूप अथवा बहिरात्मा नहीं रहता ।

विविक्तात्माका स्वरूप

कर्म-नोकर्म-निर्मुक्तममूर्तमजरामरम ।

निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदुः ॥५२॥

‘योगी-जन आत्माको कर्म-नोकर्म-विमुक्त—ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों, रागद्वेषादिभाव-कर्मों और शरीरादि नोकर्मसे रहित—अमूर्तिक—स्पर्श, रस-गन्ध-वर्ण-विहीन—अजर-अमर—जन्म-जरा-मरणसे अतिक्रान्त—निर्विशेष—विशेष अथवा गुण-भेदसे शून्य सामान्य-स्वरूप—और असम्बद्ध—सब प्रकारके सम्बन्धों एवं बन्धनोंसे रहित स्वतन्त्र (स्वाधीन)—बतलाते हैं ।’

व्याख्या—जिस शुद्धात्माके चिन्तनका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसे यहाँ एक दूसरे ही ढंगसे स्पष्ट किया गया है—यह बतलाया गया है कि वह आत्मा (द्रव्य-भावरूप) कर्मोंसे, (शरीरादि रूप) नोकर्मोंसे विमुक्त है, (स्पर्श-रस, गन्ध-वर्णकी व्यवस्थारूप, मूर्तिसे रहित) अमूर्तिक है (कभी जरासे व्याप्त न होनेवाला) अजर है, (कभी मरणको प्राप्त न होनेवाला) अमर है, सब विशेषोंसे रहित अविशेष और सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित असम्बद्ध है । योगिजनोंने इसी रूपमें शुद्धात्माका अनुभव करके उसका निर्देश किया है ।

आत्माके स्वभावसे वर्ण-गन्धादिका अभाव

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-देहेन्द्रियादयः ।

चेतनस्य न विद्यन्ते निसर्गेण कदाचन ॥५३॥

१. आ क्षिप्रमात्मात्व । २. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं अणणयं णियदं । अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥ —समयसार । ३. जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो । णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं च संहणणं ॥५०॥ जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो । णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥ जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई । णो अज्झप्पट्टाणा णेव य अणुभाय ठाणा वा ॥५२॥ जीवस्स णत्थि केई जीवट्टाणा ण बंधठाणा वा । णेव य उदयट्टाणा ण मग्गणट्टाणया केई ॥५३॥ णो ठिदिबंधट्टाणा जीवस्स ण संकिलेस-ठाणा वा । णेव विसोहिट्टाणा णो संजमलद्धि-ठाणा वा ॥५४॥ णेव य जीवट्टाणा ण गुणट्टाणा य णत्थि जीवस्स । जेण दु एदे सव्वे पुग्गलद्वस्स परिणामा ॥५५॥—समयसार ।

‘चेतन-आत्माके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, देह, इन्द्रियाँ आदिक स्वभावसे किसी समय भी विद्यमान नहीं होते ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें शुद्धात्माके जो ‘कर्मनोकर्मनिर्मुक्त’ और ‘अमूर्त’ विशेषण दिये गये हैं उनके विषयको यहाँ स्पष्ट किया गया है : लिखा है कि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, देह और इन्द्रियादिक ये सब कभी भी स्वभावसे चेतनात्माके रूप नहीं होते, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं । ‘आदि’ शब्दसे रूप, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मार्गणा, तथा कर्मवर्गणादि गुणस्थान-पर्यन्त उन सब भावोंका ग्रहण है जिनका समयसारमें (गाथा ५० से ५५ तक) उल्लेख है । यह सब कथन निश्चयनयकी दृष्टिसे है, जिसका सूचन ‘निसर्गण’ पदसे होता है, जो स्वभावका वाचक है—विभावका नहीं । पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धसे जो कुछ परिणाम आत्मामें होता है वह सब विभाव-परिणाम है और इसलिए जीवके वर्णादिकका होना यह सब व्यवहार-नयकी दृष्टिसे है, निश्चय-नयकी दृष्टिसे नहीं; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारकी निम्न गाथामें प्रकट किया है :—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमाईया ।

गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

शरीर-योगसे वर्णादिकी स्थितिका स्पष्टीकरण

शरीर-योगतः सन्ति वर्ण-गन्ध-रसादयः ।

स्फटिकस्यैव शुद्धस्य रक्त-पुष्पादि-योगतः ॥५४॥

‘शुद्ध आत्माके वर्ण गन्ध रस आदिक शरीरके सम्बन्धसे होते हैं; जैसे शुद्ध-श्वेत स्फटिकके लाल-पीले-हरे आदि पुष्पोंके योगसे लाल-पीले-हरे आदि वर्ण (रंग) होते हैं ।’

व्याख्या—इस पद्यमें आत्माका वर्णादिक विकाररूप विभाव-परिणमन निश्चयसे नहीं होता किन्तु व्यवहारसे कहा जाता है, इस बातको एक उदाहरण-द्वारा दर्शाया गया है । लिखा है कि जिस प्रकार लाल-पीले-हरे आदि पुष्पोंके योगसे शुद्ध स्फटिकको लाल-पीले-हरे आदि रंगका कहा जाता है उसी प्रकार जीवात्माको शरीरके योगसे वर्ण-गन्ध-रसादि-रूप कहा जाता है—वास्तवमें ये उसके रूप नहीं, रक्त-पुष्पादि-जैसी शरीरकी उपाधिसे सम्बन्ध रखते हैं ।

रागादिक औदयिक भावोंको आत्माके स्वभाव माननेपर आपत्ति

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-पुरस्सराः ।

भवन्त्यौदयिका दोषाः सर्वे संसारिणः सतः ॥५५॥

यदि चेतयितुः सन्ति स्वभावेन क्रुधादयः ।

भवन्तस्ते विमुक्तस्य निवार्यन्ते तदा कथम् ॥५६॥

‘संसारी जीवके जो राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-आदि दोष होते हैं वे सब औदयिक हैं—कर्मोंके उदयवश होते (स्वभावसे नहीं होते) । यदि चेतन आत्माके क्रोधादिक दोषोंका होना स्वभावसे माना जाय तो उन दोषोंका मुक्त-आत्माके होनेका निषेध कैसे किया जा सकता है ?—नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभावका कभी अभाव नहीं होता ।’

व्याख्या—कर्मोंके उदयके निमित्तसे सब संसारी आत्माओंमें जो दोष-विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें औदयिक भाव कहते हैं और वे मुख्यतः इक्कीस प्रकारके माने गये हैं।^१ उनमेंसे यहाँ प्रथम पद्यमें राग, द्वेष, मद (मान), क्रोध, लोभ, मोह (मिथ्यादर्शन) इन नामोंसे छहका तो उल्लेख किया है, शेष सबका आदि अर्थवाचक 'पुरस्सराः' पदके द्वारा संग्रह किया गया है, जिनमें नर-नारक-तिर्यक्-देव ऐसे चार गतियोंके भावका, माया कषायका, पुरुष-स्त्री-नपुंसक-भावरूप तीन लिंगों (वेदों) का, कृष्ण-नील-कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल-रूप छह भाव लेश्याओंका, एक अज्ञान, एक असंयम और एक असिद्ध-भावका समावेश है। इस तरह संख्या २१ के स्थानपर २३ हो जाती है, जिसका कारण राग और द्वेषको प्रसिद्धिके कारण अलगसे गिननेका है, जबकि वे कषाय-नोकषायमें आ जाते हैं; क्योंकि राग लोभ, माया, हास्य, रति, काम इन पाँच रूप और द्वेष, क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह रूप होता है।^२ दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि राग, द्वेष और मोहमें यद्यपि सारा मोहनीय कर्म आ जाता है फिर भी क्रोध, मान और लोभादिकका जो यहाँ अलगसे ग्रहण किया है उसे स्पष्टताकी दृष्टिसे समझना चाहिए। औदयिक भाव सब विभाव होते हैं—स्वभाव नहीं; इसीसे उन्हें 'दोष' पदके द्वारा उल्लिखित किया है, जो कि विकार-वाचक है।

दूसरे पद्यमें यह बतलाया है कि यदि चेतनात्माके इन क्रोधादिक औदयिक भावोंका चेतनात्माके स्वभावसे होना माना जाय तो मुक्तात्माके उनके होनेका निषेध कैसे किया जा सकता है?—नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभावका तो कभी अभाव नहीं होता, अतः संसारावस्थासे मुक्ति अवस्थाके प्राप्त होनेपर भी उनका अस्तित्व बना रहना चाहिए; जबकि वैसा नहीं है। वैसा माननेपर संसारी और मुक्त जीवोंमें फिर कोई भेद नहीं रहता और 'संसारिणो मुक्ताश्च' (जीवाः) इस सूत्रका विरोध घटित होता है।

जीवके गुणस्थानादि २० प्ररूपणाओंकी स्थिति

^३ गुणजीवादयः सन्ति विंशतिर्याः प्ररूपणाः ।

कर्मसंबन्धनिष्पन्नास्ता जीवस्य न लक्षणम् ॥५७॥

'गुणस्थान-जीवसमास-मार्गणास्थान आदि जो बीस प्ररूपणाएँ हैं वे जीवके कर्म-संबन्धसे निष्पन्न होती हैं; जीवके लक्षणरूप नहीं हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'जीवस्य' पद उसी शुद्ध स्वभावस्थ जीवात्माका वाचक है जिसका कथन पहलेसे चला आ रहा है और जिसके लिए अगले पद्यमें 'विशुद्धस्य' इस विशेषण-पदका प्रयोग किया गया है और जो कर्मोंके सम्बन्धसे रहित विविक्त (विमुक्त) निष्कल परमात्मा होता है। उसीको यहाँ यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि गुणस्थान, जीवसमास आदि जो बीस प्ररूपणाएँ हैं वे भी उसका कोई लक्षण नहीं हैं। उन बीस प्ररूपणाओंके नाम हैं:—१. गुणस्थान, २. जीवसमास, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संज्ञा, ६-१९ गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व, आहार नामकी १४ मार्गणाएँ, २० उपयोग; जैसा कि आगम-प्रसिद्ध इन दो गाथाओंसे जाना जाता है:—

१. गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्येकैकैकषड्भेदाः ।—त० सूत्र २-६
२. रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पञ्चधा । मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादिषट् ॥
—अध्यात्म रहस्य २७ । ३. णेव य जीवदृणा ण गुणदृणा य अत्थि जीवस्य । जेण दु एदे सब्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥ —समयसार ।

गुण-जीवा-पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।
 उवओगो विसभेदे बीसं तु परूवणा भणिया ॥
 गइ इंदिये य काये जोए वेये, कसायणाणे य ।
 संजम-दंसण-लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

इन सबके अवान्तर भेदों और उनके स्वरूपको षट्खण्डागम, गोम्मटसार, पंच-संग्रहादि सिद्धान्त ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है। यहाँ संक्षेपमें इतना ही कह दिया है कि जो कोई भी जीव-विषयक प्ररूपणा किसी भी कर्मके अस्तित्वसे सम्बन्ध रखती है वह शुद्ध (मुक्त) जीवकी प्ररूपणा नहीं है और इसीलिए उसे संसारी जीवकी प्ररूपणा समझना चाहिए।

क्षायोपशमिकभाव भी शुद्धजीवके रूप नहीं

क्षायोपशमिकाः सन्ति भावा ज्ञानादयोऽपि ये ।
 स्वरूपं तेऽपि जीवस्य विशुद्धस्य न तत्त्वतः ॥५८॥

‘जो ज्ञान आदिके भी रूपमें क्षायोपशमिक भाव हैं वे भी तत्त्व-दृष्टिसे विशुद्ध-जीवका स्वरूप नहीं हैं।’

व्याख्या—शुद्ध-आत्माके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए जिस प्रकार पिछले पद्योंमें यह बतला आये हैं कि गुणस्थानादिरूप बीस प्ररूपणाएँ और जितने भी औद्यिक भाव हैं वे सब कर्म-जन्य तथा कर्मोंके सम्बन्धसे निष्पन्न होनेके कारण आत्माके निजभाव अथवा स्वभाव न होकर विभाव-भाव हैं, उसी प्रकार इस पद्यमें क्षायोपशमिक भावोंके विषयमें भी लिखा है कि वे भी तात्त्विकदृष्टिसे विशुद्धात्माके भाव नहीं हैं; क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें भी कर्मोंके क्षयोपशमका सम्बन्ध है : देशघाति स्पर्द्धकों (कर्मवर्गणा-समूहों) का उदय रहते सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और उन्हींका (आगामी कालमें उदय आनेकी अपेक्षा) सदवस्था-रूप उपशम होनेसे क्षायोपशमिक भाव होता है।^१ क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद^२ हैं : मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययरूप चार ज्ञान; कुमति-कुश्रुत-कुअवधि-रूप तीन अज्ञान; चक्षु-अचक्षु-अवधिरूप तीन दर्शन; दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यरूप पाँच लब्धियाँ; एक सम्यक्त्व, जिसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं, एक चारित्र (संयम) और एक संयमासंयम। इन १८ भेदोंमें ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लब्धियों रूप भाव अपने-अपने आवरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे होते हैं ?^३

यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानादिकको शुद्धात्माका स्वरूप न बतलानेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वे आत्माके स्वभाव न होकर विभाव हैं। ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग स्वभाव-विभावके भेदसे दो-दो भेद रूप हैं। स्वभाव ज्ञान-दर्शन केवलज्ञान और केवलदर्शन है, जो इन्द्रिय-रहित और परकी सहायतासे शून्य असहाय होते हैं। शेष सब ज्ञान-दर्शन विभाव-रूप है; जैसा कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है :—

केवलमिदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति ।
 सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे डुविहं ॥११॥

१. सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति ।—सर्वार्थसिद्धि । २. ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमा-संयमाश्च ।—त० सूत्र २-५ । ३. तत्र ज्ञानादीनां वृत्तिः स्वावरणान्तराय-क्षयोपशमाद्ब्याख्यातव्या ।—सर्वार्थसिद्धि ।

योगसार-प्राभृत

तहं दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवल्मिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥—नियमसार

कौन योगी कब किसका कैसे चिन्तन करता हुआ मुक्तिको प्राप्त होता है ?

गलित-निखिल-राग-द्वेष-मोहादि-दोषः
सततमिति विभक्तं चिन्तयन्नात्मतत्त्वम् ।
गतमलमविकारं ज्ञान-दृष्टि-स्वभावं
जनन-मरण-मुक्तं मुक्तिमाप्नोति योगी ॥५९॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते जीवाधिकारः ॥१॥

‘जो गतमल है—ज्ञानावरणादि-कर्ममलसे रहित है—अविकार है—रागादि-विकार-भावोंसे शून्य है—जन्म-मरणसे मुक्त है और ज्ञान-दर्शन-स्वभाव-मय है, ऐसे विभक्त—परपदार्थोंसे भिन्न—आत्मतत्त्वको निरन्तर ध्याता हुआ जो योगी पूर्णतः राग-द्वेष-मोह-आदि दोषोंसे रहित हो जाता है वह मुक्तिको प्राप्त करता है।’

व्याख्या—यह प्रथम अधिकारका उपसंहारात्मक पद्य है, जिसमें सारे अधिकारका सार खींचकर रखा गया है। इसमें बतलाया है—जिससे द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरूप मल-विकार दूर हो गया है और इसलिए जो निर्विकार-निर्दोष है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-स्वभावरूप है, जन्म-मरणसे रहित-मुक्त है उस शरीरादि परपदार्थोंसे विभिन्न हुए शुद्ध आत्म-तत्त्वका जो योगी निरन्तर ध्यान करता हुआ अपने सब राग-द्वेष-मोहादि-दोषोंको गला देता है—सुवर्णमें लगे किट्टकालिमाकी तरह भस्म कर अपने आत्मासे अलग कर देता है—वह स्वात्मोपलब्धि-रूप मुक्तिको प्राप्त होता है।

इसमें मुक्ति-प्राप्तिका अति संक्षेपसे बड़ा ही सुन्दर कार्यक्रम सूचित किया गया है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसारप्राभृतमें जीवाधिकार नामका प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥१॥

अजीवाधिकार

अजीव-द्रव्योंके नाम

धर्माधर्म-नभः-काल-पुद्गलाः परिकीर्तिताः ।

अजीवा जीवतत्त्वज्ञैर्जीवलक्षणवर्जिताः ॥१॥

‘जीव-तत्त्वके ज्ञाताओं (आत्मज्ञों) द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये अजीव कहे गये हैं; क्योंकि ये जीव-लक्षणसे रहित हैं।’

व्याख्या—अजीवाधिकारके इस प्रथम पद्यमें अजीव-तत्त्वके भेदरूप पाँच मूल नाम दिये हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इन्हें ‘अजीव’ इसलिए कहा है कि ये जीवके उक्त लक्षणसे रहित हैं जो कि पिछले अधिकारमें ‘उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः’ (६) इत्यादि वाक्योंके द्वारा निर्दिष्ट है। यहाँ धर्म और अधर्म ये दो शब्द गुणवाचक अथवा पुण्य-पापके वाचक न होकर द्रव्य-वाचक हैं और उनकी जैनसिद्धान्त-मान्य छह द्रव्योंमें गणना है। इनका स्वरूपादि ग्रन्थमें आगे दिया है।

पाँचों अजीव-द्रव्योंकी सदा स्वस्वभावमें स्थिति

अवकाशं प्रयच्छन्तः प्रविशन्तः परस्परम् ।

मिलन्तश्च न मुञ्चन्ति स्व-स्वभावं कदाचन ॥२॥

‘(ये अजीव) एक दूसरेको अवकाश—अवगाह प्रदान करते हुए, एक दूसरेमें प्रवेश करते हुए और एक दूसरेके साथ मिलते हुए भी अपने निजस्वभावको कभी नहीं छोड़ते हैं।’

व्याख्या—यहाँ उक्त पाँचों अजीवोंकी स्थितिका निर्देश किया है : लिखा है कि ये पाँचों परस्परमें मिलते-जुलते, एक दूसरेमें प्रवेश करते और एक दूसरेको अवकाश देते हुए भी अपने-अपने स्वभावको कभी भी नहीं छोड़ते। धर्म अधर्मका, अधर्म धर्मका, धर्म-अधर्म आकाशका और आकाश धर्म-अधर्मका, धर्मधर्म-आकाश कालका, काल धर्म-अधर्म आकाशका, धर्म-अधर्म-आकाश-काल पुद्गलका और पुद्गल धर्म-अधर्म-आकाश-कालका रूप कभी नहीं ग्रहण करता।

१. धर्माधर्मविथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः । अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥२॥
—तत्त्वार्थसार । अजीवकायाधर्माधर्मिकाशपुद्गलाः ॥१॥ द्रव्याणि ॥२॥ कालश्च । ३९ ।—त०
सूत्र । एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा । लब्भन्ति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं
॥१०२॥ आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा । तेसि अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स
चेदणदा ॥१२४॥ —पञ्चास्ति० । २. अण्णोण्णं पविसन्ता दिता ओगासमण्णमण्णस्स । मेलन्ता वि
य णिच्चं सगं सभावं ण वि जहन्ति ॥७॥ —पञ्चास्ति० । ३. आ, ब्या मोलन्तश्च ।

अजीवोंमें कौन अमूर्तिक, कौन मूर्तिक और मूर्तिलक्षण

**अमूर्ता निष्क्रियाः^१ सर्वे मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्गलाः^२ ।
रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-व्यवस्था मूर्तिरुच्यते ॥३॥**

‘इन अजीवोंमें पुद्गल मूर्तिक है। शेष सब अमूर्तिक-मूर्तिरहित-और निष्क्रिय-क्रिया विहीन हैं। रूप (वर्ण) रस-गन्ध-स्पर्शकी व्यवस्था (तरतीव्र Arrangement) को ‘मूर्ति’ कहते हैं।’

व्याख्या—इस पद्यमें उक्त पाँचों अजीवोंकी स्थितिको और स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि पुद्गलको छोड़कर शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों अजीव तत्त्व अमूर्तिक तथा निष्क्रिय हैं, केवल पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और वह सक्रिय भी है। साथ ही मूर्तिका लक्षण भी दिया है : जो अपने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शकी व्यवस्थाको लिये हुए उसे ‘मूर्ति’ बतलाया है। वर्णके पाँच—रक्त, पीत, कृष्ण, नील, शुक्ल; गन्धके दो—सुगन्ध, दुर्गन्ध; रसके पाँच—तिक्त (चर्परा), कटु, अम्ल, मधुर, कषैला; और स्पर्शके आठ—कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ये आठ मूल भेद होते हैं। पुद्गलके इन बीस मूल गुणोंमें-से मूर्तिमें कोई एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष इन चार युगलोंमें-से कोई एक युगल रूप दो स्पर्श कमसे कम होने ही चाहिए। इसीसे पंचास्तिकायमें परमाणुका, जो सबसे सूक्ष्म पुद्गल है, स्वरूप बतलाते हुए ‘एयरसवण्णगंधं दो फासं’ (गाथा ८१) के द्वारा उसमें अनिवार्य-रूपसे पाँच गुणोंका होना बतलाया है। साथ ही पुद्गल द्रव्यको समझने, पहचाननेके लिए उसके कुछ भेदात्मक स्वरूपका भी निम्न गाथा-द्वारा संसूचन किया है :—

उवभोज्जमिदिह्य इंदिय काया मणो य कम्माणि ।

जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुगलं जाणे ॥८२॥ (पञ्चा०)

इसमें बतलाया गया है कि जो स्पर्शनादि इन्द्रियोंमें-से किसीके भी द्वारा भोगा जाता है—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्दरूप परिणत विषय—(स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्ररूप) पाँचों द्रव्येन्द्रियाँ, (औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस तथा कार्माण रूप पाँच प्रकारके) शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप कर्म और अन्य जो कोई भी मूर्तिक पदार्थ है वह सब पुद्गल है। अन्यमूर्तिक पदार्थोंमें उन सब पदार्थोंका समावेश है जो अमूर्तिकके लक्षणसे विपरीत हैं और नाना प्रकारकी पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कारणभूत जो असंख्यात संख्यात अणुओंके भेदसे अनन्तानन्त अणु-वर्गणाँ द्रव्यणुक स्कन्ध पर्यन्त हैं और जो परमाणुरूप हैं वे सब पुद्गल हैं।

मूर्तिक-अमूर्तिकका एक लक्षण यह भी किया जाता है कि जो विषय-पदार्थ जीवसे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं वे सब मूर्तिक और शेष सब अमूर्तिक हैं।^३ इसमें ‘ग्रहण किये जानेकी योग्यता’के रूपमें जो बात कही गयी है वह खास तौरसे ध्यानमें रखनेके योग्य है; क्योंकि संख्यात-असंख्यात अणुओंके सूक्ष्म परिणमनको लिये हुए कितनी ही वस्तुएँ तथा पुद्गल वर्गणाँ ऐसी होती हैं जो वर्तमान कालमें इन्द्रियगोचर नहीं हो पातीं;

१. आ निःक्रियाः । २. आगास-काल-जीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा । मुत्तं पुगलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेमु ॥ - पञ्चास्ति० ९७ । ३. जे खलु इंदियगेज्जा विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता । सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि ॥ - पञ्चास्ति० ९९ ।

परन्तु कालान्तरमें स्थूल-परिणमनके अवसरपर इन्द्रियगोचर होती हैं अतः इन्द्रियगोचर होनेकी योग्यताके सद्भावके कारण उन्हें इन्द्रियगोचर न होनेके अवसरपर भी मूर्तिक ही समझना चाहिए । परमाणु भी अपने शुद्धरूपमें अतिसूक्ष्मताके कारण इन्द्रियगोचर नहीं होते; परन्तु स्कन्धरूपमें परिणत होकर जब स्थूलरूप धारण करते हैं तब इन्द्रियोंके ग्रहणमें आते हैं, इसलिए वे भी मूर्तिक हैं । इसीसे 'मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्गलाः' इस सूत्रके द्वारा पुद्गल-मात्रको 'मूर्तिक' कहा गया है । तत्त्वार्थसूत्रमें भी 'रूपिणः पुद्गलाः' इस सूत्रके द्वारा उन्हें रूपी-मूर्तिक निर्दिष्ट किया गया है, चाहे वे सूक्ष्म-स्थूल किसी भी अवस्थामें क्यों न हों ।

यहाँ एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि मूर्तिकमें रूप, गन्ध, रस, स्पर्शकी व्यवस्थाका जो उल्लेख किया गया है, जो क्रमशः चक्षु-घ्राण-रसना-स्पर्शन इन चार इन्द्रियोंके विषय हैं; परन्तु पाँचवीं श्रोत्र इन्द्रियका विषय जो शब्द है उसका कोई उल्लेख नहीं किया गया, इसका कारण यह है कि शब्द पुद्गलका कोई गुण-स्वभाव नहीं है, जो स्थायी रूपसे उसमें पाया जाय । चार इन्द्रियोंके विषय स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णके रूपमें हैं वे ही शब्द-रूप परिणत होकर श्रोत्र-इन्द्रियके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं ।^१ इसीसे शुद्ध पुद्गल-रूपमें जो जो परमाणु है उसे 'अशब्द'—शब्दरहित—कहा गया है—एक प्रदेशी होनेके कारण उसमें शब्द-पर्याय रूप परिणतिवृत्तिका अभाव है; परन्तु शब्दमें स्कन्धरूप परिणति-शक्तिका सद्भाव होनेसे वह शब्दका कारण होता है ।

जीवसहित पाँचों अजीवोंकी द्रव्य-संज्ञा

जीवेन सह पञ्चापि द्रव्याण्येते निवेदिताः ।

गुण-पर्ययवद्द्रव्यमिति लक्षण-योगतः ॥४॥

'ये पाँच अजीव जीवसहित 'द्रव्य' कहे गये हैं; क्योंकि ये 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इस द्रव्य-लक्षणको लिये हुए हैं ।'

व्याख्या—पूर्वोक्त पाँचों अजीव जीव सहित 'द्रव्य' कहे जाते हैं; और इसलिए द्रव्योंकी मूलसंख्या छह है : छह प्रकारके द्रव्य हैं, जिनकी यह छहकी संख्या कभी घट-बढ़ नहीं होती । ये छहों गुण-पर्यायवान हैं, इसीसे 'गुण-पर्यय-वद् द्रव्यम्' इस सूत्रके अनुसार इन्हें द्रव्य कहा जाता है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने पंचास्तिकायमें द्रव्यका निरूपण तीन प्रकारसे किया है—एक सल्लाक्षणिक, दूसरा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त और तीसरा गुण-पर्यायाश्रय (गुण-पर्यायोंका आधारभूत); जैसा कि उसकी निम्न गाथासे जाना जाता है :—

द्वं सल्लखणियं उत्पादव्ययधुवत्तसंजुतं ।

गुणपज्जासयं वा जं तं भणति सव्वण्ह ॥१०॥

इनमें-से तीसरा लक्षण तत्त्वार्थसूत्रके 'गुण-पर्ययवद्-द्रव्यं' सूत्रके साथ तथा पहला लक्षण 'सद्द्रव्यलक्षणं' सूत्रके साथ एकता रखता है और दूसरे लक्षणके लिए तत्त्वार्थसूत्रमें

१. श्रोत्रेन्द्रियेण तु त एव तद्विषयहेतुभूतशब्दाकारपरिणता गृह्यन्ते ।—पञ्चास्ति० टीका, अमृतचन्द्राचार्य । २. परमाणुः शब्दस्कन्ध-परिणति-शक्ति-स्वभावात् शब्दकारणं एकप्रदेशत्वेन शब्दपरिणति-वृत्त्यभावादशब्दः ।—अमृतचन्द्राचार्य, पञ्चास्ति० ८१ टीका । ३. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ५-१ । द्रव्याणि ५-२, जीवाश्च ५-३, कालश्च ५-३९ ।—त० सूत्र ।

‘उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्’ इस सूत्रकी सृष्टि की गयी है, जो कि सत्का लक्षण है। सत् द्रव्यका लक्षण होनेसे सत्का जो लक्षण वह भी द्रव्यका लक्षण हो जाता है। इन तीनों लक्षणोंमें सामान्यतः भेदका कुछ दर्शन होते हुए भी विशेषतः कोई भेद नहीं है—तीनों एक ही आशयके द्योतक हैं, यह बात ग्रन्थके अगले पद्योंसे स्पष्ट हो जाती है।

द्रव्यका व्युत्पत्तिपरक लक्षण और सदा सत्तामय स्वरूप

द्रूयते गुणपर्यायैर्यद्यद् द्रवति तानथ ।

तद् द्रव्यं भण्यते षोढा सत्तामयमनश्चरम् ॥५॥

‘जो गुण-पर्यायोंके द्वारा द्रवित होता है अथवा उन गुण-पर्यायोंको द्रवित करता है वह ‘द्रव्य’ कहा जाता है (यह द्रव्यका निर्युक्ति-परक लक्षण है)। वह द्रव्य (उक्त जीवादि) छह भेदरूप है, सत्तामय है—उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त है—और अविनश्चर है—कभी नष्ट न होने-वाला है।’

व्याख्या—इस पद्यमें ‘द्रव्य’ शब्दकी व्याकरण-सम्मत निर्युक्ति-द्वारा द्रव्यके पूर्व पद्य वर्णित लक्षणका स्पष्टीकरण किया गया है : लिखा है कि जो गुण-पर्यायोंके द्वारा द्रवित होता है अथवा गुण-पर्यायोंको द्रवित करता है—प्राप्त होता है—उसे ‘द्रव्य’ कहा जाता है और वह छह भेदरूप है। यह छह भेद रूप द्रव्य सत्तामय है, इसीसे ‘सद् द्रव्यलक्षणं’ इस सूत्रके अनुसार द्रव्यका लक्षण सत् भी है और इस सत् तथा सत् लक्षणके कारण द्रव्यको ‘अनश्चर’ कभी नाश न होनेवाला—कहा जाता है।

सर्वपदार्थगत-सत्ताका स्वरूप

ध्रौव्योत्पादलयालीढा सत्ता सर्वपदार्थगा ।

एकशोऽनन्तपर्याया प्रतिपक्षसमन्विता ॥६॥

‘सत्ता ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मिका, एकसे लेकर सब पदार्थोंमें व्यापनेवाली, अनन्त-पर्यायोंकी धारिका और प्रतिपक्ष-समन्विता—असत्ता आदिके साथ विरोध न रखनेवाली—होती है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस सत्ताका उल्लेख है उसका इस पद्यमें लक्षण दिया है और उसे ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मक बतलाया है तथा सर्व-पदार्थोंमें व्याप्त लिखा है—कोई भी पदार्थ चाहे वह उत्पादरूप, व्ययरूप या ध्रौव्यरूप हो सत्तासे शून्य नहीं है—और उस सत्ताकी एकसे लेकर अनन्त पर्यायें हैं। सत्तारूप द्रव्यकी पर्यायोंका कभी कहीं अन्त नहीं आता, यदि अन्त आ जाय तो द्रव्य ही समाप्त हो जाय और द्रव्य सत्तरूप होनेसे और सत् ध्रौव्यरूप होनेसे उसका कभी नाश नहीं होता। उत्पाद-व्यय द्रव्यकी पर्यायोंमें हुआ करता है, द्रव्यमें अथवा ध्रौव्यरूप गुणोंमें नहीं। साथ ही सत्ताको ‘प्रतिपक्षसमन्विता’—प्रतिपक्षके साथ विरोध न रखनेवाली—लिखा है। सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। सत्ता उत्पाद-व्ययकी दृष्टिसे दोनों रूप है अतः असत्ताके साथ उसका विरोध नहीं बनता।

१. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सन्भावपज्जयाइं जं । दवियं तं भण्णंते अण्णभूदं तु सत्तादो ॥१॥
—पञ्चास्ति० । २. सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया । भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिबक्खा हवदि एक्का ॥८॥ —पञ्चास्ति० ।

इस सर्वपदार्थस्थिता और सविश्वरूपा सत्ताको पंचास्तिकायमें एक बतलाया है और इसलिए वह 'महासत्ता' है। पदार्थोंके भेदकी दृष्टिसे महासत्ताकी अवान्तर-सत्ताएँ उसी प्रकार अनेकानेक तथा अनन्त होती हैं जिस प्रकार कि अखण्ड एक आकाश-द्रव्यमें अंशकल्पनाके द्वारा उसकी अनन्त अवान्तर-सत्ताएँ होती हैं। सत्ताका प्रतिपक्ष जिस प्रकार असत्ता है उसी प्रकार एकरूपताका प्रतिपक्ष नानारूपता, एक-पदार्थ-स्थितिका प्रतिपक्ष नाना-पदार्थस्थिति, ध्रौव्योत्पत्ति विनाशरूप त्रिलक्षणा सत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव, एकका प्रतिपक्ष अनेक और अनन्तपर्यायका प्रतिपक्ष एकपर्याय है।

द्रव्यका उत्पाद-व्यय पर्यायकी अपेक्षासे

नश्यत्युत्पद्यते भावः पर्यायापेक्षयाखिलः ।

नश्यत्युत्पद्यते कश्चिन्न द्रव्यापेक्षया पुनः ॥७॥

'सम्पूर्ण पदार्थ-समूह पर्यायकी अपेक्षासे नष्ट होता है तथा उत्पन्न होता है किन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे न कोई पदार्थ नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस ध्रौव्योत्पत्तिव्ययरूप त्रिलक्षणा सत्ताका उल्लेख है उसको यहाँ उत्पाद और व्ययकी दृष्टिसे स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि यह उत्पाद और व्यय समस्त पदार्थोंमें पर्यायकी अपेक्षासे होता है, द्रव्यकी अपेक्षासे न कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और न कभी नाशको प्राप्त होता है। सब द्रव्य अनादि-निधन सद्भावरूप हैं। पंचास्तिकायमें द्रव्यका व्यय, उत्पाद और ध्रुवपना पर्यायें करती हैं, ऐसा लिखा है वहाँ पर्यायका आशय सहभावी और क्रमभावी दोनों प्रकारकी पर्यायोंसे है, सहभावी पर्यायोंको 'गुण' कहते हैं जिससे द्रव्यमें ध्रुवपना होता है और क्रमभावी पर्यायोंको 'पर्याय' कहते हैं, जिनसे द्रव्यमें उत्पाद-व्यय घटित होता है।

गुण-पर्यायके बिना द्रव्य और द्रव्यके बिना गुण-पर्याय नहीं

किंचित् संभवति द्रव्यं न विना गुण-पर्यायैः ।

संभवन्ति विना द्रव्यं न गुणा न च पर्यायाः ॥८॥

'गुण-पर्यायोंके बिना कोई द्रव्य नहीं हो सकता और न द्रव्यके बिना कोई गुण या पर्याय हो सकते हैं।'

व्याख्या—जिस प्रकार दूध, दही, मक्खन और घृतादिसे रहित गोरस नहीं होता उसी प्रकार पर्यायोंसे रहित कोई द्रव्य नहीं होता। जिस प्रकार गोरससे शून्य दूध-दही-घृतादि नहीं होते उसी प्रकार द्रव्यसे शून्य कोई पर्याय नहीं होती। और जिस प्रकार पुद्गल-से रहित स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण नहीं होते उसी प्रकार द्रव्यसे रहित गुण नहीं होते और जिस

१. प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् । नानारूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥२०॥ एकपदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम् । ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥२१॥ एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददोहानेकत्वम् । स्यादप्यनन्त-पर्यायप्रतिपक्षस्त्वेक-पर्यायत्वं स्यात् ॥२२॥ - पञ्चाध्यायी । २. उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो । विगमुप्पादधुवत्तं करेत्ति तस्सेव पज्जाया ॥११॥ - पञ्चास्ति० । ३. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वदिजुत्ता य पज्जया णत्थि । दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परुवित्ति ॥१२॥ दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहि दव्वं विणा ष् संभवदि । अव्वदिरित्तो भावो दव्व-गुणाणं हवदि तम्हा ॥१३॥ - पञ्चास्ति० ।

प्रकार स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णसे शून्य पुद्गल नहीं होता उसी प्रकार गुणोंसे शून्य द्रव्य नहीं होता। इस तरह पर्यायोंका द्रव्यके साथ और द्रव्यका पर्यायोंके साथ जिस प्रकार अनन्य-भूत (अभिन्न) भाव है उसी प्रकार द्रव्यका गुणोंके साथ और गुणोंका द्रव्यके साथ अव्यतिरिक्त (अभेद) भाव है। इसी बातको अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारके निम्न पद्योंमें व्यक्त किया है, जो श्री कुन्दकुन्दाचार्यके अनुकरणको लिये हुए हैं :—

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः ।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता ॥११॥
न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः ।
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः ॥१२॥

धर्माधर्मादि-द्रव्योंकी प्रदेश-व्यवस्था

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशानामसंख्यया ।

अवष्टब्धो नभोदेशः प्रदेशः परमाणुना ॥६॥

‘धर्म, अधर्म और एक जीव इन द्रव्योंके प्रदेशोंकी असंख्याततासे—प्रत्येकके असंख्यात प्रदेशोंसे—आकाशका देश—लोकाकाश—अवरुद्ध है और परमाणुसे—पुद्गलपरमाणु तथा कालाणुसे आकाशका—लोकाकाशका—प्रदेश अवरुद्ध है।’

व्याख्या—जिन धर्मादि छह द्रव्योंका ऊपर उल्लेख है उनके प्रदेशोंकी संख्या आदिका वर्णन करते हुए उनमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवके प्रदेशोंकी संख्या यहाँ असंख्यात बतलायी है और यह भी बतलाया है कि उनमेंसे प्रत्येकके असंख्यात असंख्यात प्रदेशोंसे आकाशका देश जो लोकाकाश है वह अवरुद्ध है—घिरा हुआ है—और पुद्गलपरमाणु तथा कालाणुसे लोकाकाशका प्रदेश घिरा हुआ है।

परमाणुका लक्षण

द्रव्यमात्मादिमध्यान्तमविभागमतीन्द्रियम् ।

अविनाश्यग्निशस्त्राद्यैः परमाणुरुदाहृतम् ॥१०॥

‘जो (स्वयं) आदि मध्य और अन्तरूप है—जिसका आदि मध्य और अन्त एक दूसरेसे भिन्न नहीं है—अविभागी है—जिसका विभाजन-खण्ड अथवा अंशविकल्प नहीं हो सकता—अतीन्द्रिय है—इन्द्रियों-द्वारा ग्राह्य नहीं—और अग्नि-शस्त्र-आदि-द्वारा विनाशको प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा द्रव्य ‘परमाणु’ कहा गया है।’

व्याख्या—जिस परमाणुका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसका इस पद्यमें लक्षण दिया है। उस लक्षण-द्वारा उसे स्वयं आदि-मध्य-अन्तरूप अर्थात् आदि-मध्य-अन्तसे रहित, विभाग-विहीन, इन्द्रियोंके अगोचर और अग्नि-शस्त्रादि किसी भी पदार्थके द्वारा नाशको प्राप्त न होनेवाला अविनाशी बतलाया है। जिसमें ये सब लक्षण घटित न हों उसे परमाणु न समझना चाहिए।

१. आ प्रदेशपरमाणुना । २. अत्तादि अत्तमज्जं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्जं । अविभागी जं दब्बं परमाणु तं वियाणाहि ॥२६॥ —नियमसार ।

परमाणुकी स्वरूप-विषयक अच्छी जानकारीके लिए कुछ दूसरी बातों अथवा परमाणु-के अन्य विशेषणोंको भी जान लेना चाहिए जिन्हें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने पंचास्तिकायमें व्यक्त किया है और वे हैं—सर्वस्कन्धान्त्य, शाश्वत, अशब्द, अविभागी, एक, मूर्तिभव, आदेशमात्रमूर्त, धातुचतुष्क-कारण, परिणाम-गुण, एकरस-वर्ण-गन्ध, द्विस्पर्श, शब्द-कारण, स्कन्धान्तरित । जैसा कि उसकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है :—

सर्वेति खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू ।
 सो सस्सदो असदो एक्को अविभागि मुत्तिमवो ॥७७॥
 आदेशमत्तमुत्तो धातुचदुष्कस्स कारणं जो दु ।
 सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसदो ॥७८॥
 एयरसवण्णगंधं दो फासं सहकारणमसहं ।
 खंधंतरिवं दव्वं परमाणू तं वियाणीहि ॥८१॥

पुद्गलकी किसी भी स्कन्धपर्यायका भेद (खण्ड) होते-होते जो अन्तिम भेद अवशिष्ट रहता है उसे 'स्कन्धान्त्य' कहते हैं । उसका फिर कोई भेद न हो सकनेसे उसे 'अविभागी' कहते हैं । जो निर्विभागी होता है वह एकप्रदेशी है और एकप्रदेशी होनेसे 'एक' कहा जाता है—द्वयणुकादि स्कन्धरूप एक नहीं । मूर्त-द्रव्यरूपसे उसका कभी नाश नहीं होता इसलिए उसको 'शाश्वत' (नित्य) कहते हैं । अनादि-निधन-रूपरसगन्धस्पर्शवन्ती जो मूर्ति है उसके परिणामसे उत्पन्न होनेके कारण वह 'मूर्तिमय' कहलाता है । रूपादि रूपमूर्तिके परिणामसे उत्पन्न होनेपर भी शब्दके परमाणुगुणपनेका अभाव होने तथा पुद्गलकी स्कन्ध-पर्यायके रूपमें व्यपदिष्ट होनेके कारण परमाणु 'अशब्द' रूपको लिये हुए है । परमाणु मूर्तिक है ऐसा कहा जाता है, परन्तु दृष्टिसे दिखलाई नहीं देता इसलिए उसे 'आदेशमात्र-मूर्त' कहते हैं अथवा परमाणुमें मूर्तत्वके कारणभूत जो स्पर्शादि चार गुण हैं वे आदेशमात्रसे—कथन-मात्रकी दृष्टिसे—भेदको प्राप्त हैं—पृथक् रूपसे कथन किये जाते हैं—सत्तारूप प्रदेशभेदकी दृष्टिसे नहीं; क्योंकि वास्तवमें परमाणुका जो आदि-मध्य और अन्तरूप एक प्रदेश है वही स्पर्शादि-गुणोंका भी प्रदेश है—द्रव्य और गुणोंमें प्रदेशभेद नहीं होता । पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायुरूप जो चार धातु हैं—भूतचतुष्टय हैं—उनके निर्माणका कारण होनेसे परमाणुको 'धातुचतुष्क-कारण' कहते हैं । गन्धादि गुणोंमें व्यक्ताव्यक्त रूप विचित्र परिणमनके कारण परमाणुको 'परिणामगुण' कहा जाता है । एकप्रदेशी होनेसे परमाणु शब्दरूप परिणत नहीं होता; क्योंकि शब्द अनेकानेक परमाणुओंका पिण्ड होता है और वह पुद्गलका कोई गुण भी नहीं है, इसीसे परमाणु 'स्वयमशब्द' कहलाता है । रस तथा वर्णकी पाँच-पाँच पर्यायोंमें-से किसी एक-एक पर्यायको और गन्धकी दो पर्यायोंमें-से किसी एक पर्यायको एक समयमें अवश्य लिये हुए होनेके कारण परमाणुकी 'एकरस-वर्ण-गन्ध' संज्ञा है और शीत-स्निग्ध, शीतरूक्ष, उष्णस्निग्ध, उष्णरूक्षरूप जो चार स्पर्शगुणके जोड़े हैं उनमें-से एक समयमें किसी एक ही जोड़े रूप परिणत होनेके कारण परमाणुको 'द्विस्पर्श' भी कहते हैं । परमाणु स्वयं शब्दरूप न होनेपर भी स्कन्धरूप परिणत होनेकी शक्तिको लिये हुए होनेके कारण 'शब्द-कारण' कहा जाता है । और अनेक परमाणुओंकी एकत्व-परिणतिरूप जो स्कन्ध है उससे अन्तरित-स्वभावसे भेदरूप जुदा द्रव्य होनेके कारण परमाणुको 'स्कन्धान्तरित' भी कहते हैं । जो धातुचतुष्कका कारण होता है उसे 'कारणपरमाणु' और जो स्कन्धोंका अन्त्य होता है उसे 'कार्यपरमाणु' कहते हैं । एकरस-वर्ण-गन्ध-द्विस्पर्शगुणपरमाणु 'स्वभावगुण' कहलाता

है, शेष 'विभावगुण-परमाणु' 'द्वयणुकादि स्कन्धरूप होता है' । और उसके विभावगुण सर्व-न्द्रियग्राह्य होते हैं ।

आकाश और पुद्गलोंकी प्रदेश-संख्या

प्रदेशा नभसोऽनन्ता अनन्तानन्तमानकाः ।

पुद्गलानां जिनैरुक्ताः परमाणुरनंशकः ॥११॥

'जिनोके द्वारा आकाशके अनन्त और पुद्गलोंके अनन्तानन्त प्रमाण प्रदेश कहे गये हैं । परमाणु अनंशक—अप्रदेशी (प्रदेशमात्र)—कहा गया है ।'

व्याख्या—यहाँ आकाश और पुद्गल-द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्याका निर्देश करते हुए उन्हें क्रमशः अनन्त तथा अनन्तानन्त बतलाया है, और पुद्गल-परमाणुको अंशरहित लिखा है, जिसका आशय है अप्रदेशी अथवा प्रदेशमात्र—एक ही प्रदेशके रूपमें । परमाणुसे यहाँ कालाणुका भी ग्रहण है अतः कालाणुको भी अंशरहित अप्रदेशी अथवा प्रदेशमात्र समझना चाहिए ।

कालाणुओंकी संख्या और अवस्थिति

असंख्या भुवनाकाशे कालस्य परमाणवः ।

एकैशा व्यतिरिक्तास्ते रत्नानामिव राशयः ॥१२॥

'लोकाकाशमें कालके परमाणु असंख्यात कहे गये हैं और वे रत्नोंकी राशियोंमें रत्नोंके समान एक-एक और भिन्न-भिन्न हैं—आकाशके एक-एक प्रदेशमें एक-एक कालाणु स्थित है ।'

व्याख्या—इस पद्यमें छठे काल द्रव्यकी संख्या और उसकी स्थितिका निर्देश है । लिखा है कि कालके परमाणु—कालाणुरूप कालद्रव्य—असंख्यात हैं और वे लोकाकाशमें—लोकके असंख्यातप्रदेशोंमें—रत्नोंकी राशियोंमें रत्नोंकी तरह एक-एक करके एक दूसरेसे भिन्न स्थित हैं । यहाँ आकाशका 'लोकाकाश' नाम इस बातको सूचित करता है कि अखण्ड एक आकाशके दो भेद हैं—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश । कालद्रव्य लोकाकाशमें ही स्थित हैं—अलोकाकाशमें नहीं ।

धर्म-अधर्म तथा पुद्गलोंकी अवस्थिति

धर्माधर्मौ स्थितौ व्याप्य लोकाकाशमशेषकम् ।

व्योमैकांशादिषु ज्ञेया पुद्गलानामवस्थितिः ॥१३॥

१. धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं त्ति तं णेयो । खंधाणं अवसाणो णादब्बो कज्जपरमाणू ॥२५॥

२. एयरसख्वगंधं दो फासं तं हवे सहावगुणं । विभावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्व पयउत्तं ॥२७॥

—नियमसार । ३. लोयायासपदेसे एक्केक्के जे द्विया हु एक्केक्का । रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंख-दब्बाणि ॥२२॥ — लघुद्रव्यसंग्रह १२, बृहद्रव्यसं० २२; गो० जी० गा० ५८८ । ४. आ व्यतिष्ठन्ते ।

५. लोकाकाशेऽवगाहः धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

—त० सूत्र अ० ५, सू० १२, १३, १४ ।

‘धर्म-अधर्म दोनों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशको व्याप्त कर तिष्ठते हैं। पुद्गलोंका अवस्थान आकाशके एक अंश आदिमें—एक प्रदेशसे लेकर एक-एक प्रदेश बढ़ाते हुए सम्पूर्ण लोकाकाशमें—जानना चाहिए।’

व्याख्या—इस पद्यमें धर्म-अधर्म और पुद्गल इन तीन द्रव्योंकी स्थितिका उल्लेख है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य तो सारे लोकाकाशको व्याप्त करके स्थित हैं—लोकाकाशका कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं जो इनसे व्याप्त न हो। इनमें-से प्रत्येककी प्रदेशसंख्या, असंख्यात होनेसे लोकाकाश भी असंख्यातप्रदेशी है यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। पुद्गलोंकी अवस्थिति लोकके एक प्रदेशको आदि लेकर असंख्यात प्रदेशों तकमें है।

संसारि जीवोंकी लोकस्थिति और उनमें संकोच-विस्तार

‘लोकासंख्येयभागादाववस्थानं शरीरिणाम् ।

अंशा विसर्प-संहारौ दीपानामिव कुर्वते ॥१४॥

‘शरीरधारी जीवोंका अवस्थान (स्थिति) लोकके असंख्येय-भागादिकोंमें है—लोकके असंख्यातवें भागसे लेकर एक-एक प्रदेश बढ़ाते हुए पूर्ण लोकाकाश तक है। संसारि जीवोंके अंश-प्रदेश दीपकोंके समान संकोच-विस्तार करते रहते हैं—शरीरके आकारानुसार संकोच तथा विस्तारको प्राप्त होते रहते हैं।’

व्याख्या—इस पद्यमें देहधारी संसारि जीवोंके लोकाकाशमें अवस्थानका निरूपण करते हुए बतलाया है कि असंख्यात-प्रदेशी लोकका असंख्यातवाँ भाग जो एक प्रदेश है उससे लेकर असंख्यात-प्रदेश-रूप पूरे लोक-पर्यन्त जीवोंकी अवस्थिति सम्भव है। एक जीवकी पूरे लोकमें अवस्थिति लोकपूर्ण-समुद्घातके समय बनती है, उससे कम प्रदेशोंमें स्थिति दूसरे समुद्घातोंके समय तथा मूल-शरीरके आकार-प्रमाण हुआ करती है। इसीसे संसारि जीवको स्वदेह-परिमाण बतलाया है और मुक्त-जीवको अन्तिम-देहाकारसे किंचित् ऊन (हीन) लिखा है। मूल-शरीर जो औदारिक आदिके रूपमें होता है उसे न छोड़कर उत्तर-देह तैजसादिके प्रदेशों-सहित आत्म-प्रदेशोंका जो बाहर निकलना-फैलना है उसे ‘समुद्घात’ कहते हैं।^१ उसके छह भेद हैं। उनकी स्थितिके अनुसार मूलशरीरसे आत्म-प्रदेश उत्तर-देहके साथ बाहर निकलते हैं, निकलकर जितने लोकाकाशके प्रदेशोंमें वे व्याप्त होते हैं उतने लोकाकाशमें उनकी स्थिति कही जाती है। जीवके प्रदेशोंमें यह संकोच और विस्तार दीपकके प्रदेशोंके समान होता है। और संसारि जीवोंमें ही होता है—मुक्त जीवोंमें नहीं; क्योंकि यह संकोच-विस्तार कर्मके निमित्तसे होता है, मुक्तात्माओंमें कर्मोंका अभाव हो जानेसे वह नहीं बनता; जैसा कि तत्त्वानुशासनके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मितौ ।

मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्वेतु-कर्मणाम् ॥२३॥

१. असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥ प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥—त० सूत्र अ० ५। २. मूलशरीरमच्छंडिय उत्तरदेहस्य जीवपिंडस्य । णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घाद णामं तु ॥

जीव-पुद्गलोंका अन्यद्रव्यकृत उपकार

‘जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मौ गतिस्थिति ।’

अवकाशं नभः कालो वर्तनां कुरुते सदा ॥१५॥

‘धर्मद्रव्य सदा जीवों और पुद्गलोंकी गतिको—गतिमें उपकारको—अधर्मद्रव्य स्थितिको—स्थितिमें उपकारको—करता है। आकाश सदा (सब द्रव्योंके) अवकाश—अवगाहन-कार्यको और काल सब द्रव्योंके सदा वर्तना—परिवर्तन-कार्यको करता है—उस कार्यके करनेमें सहायक होता है।’

व्याख्या—इस पद्यमें तथा आगेके तीन पद्योंमें द्रव्योंका द्रव्योंके प्रति उपकारका वर्णन है, जिसे गुण, उपग्रह, सहाय तथा सहयोग भी कहते हैं। जीव तथा पुद्गल द्रव्योंके प्रति धर्म-द्रव्य उनकी गतिमें, अधर्मद्रव्य स्थितिमें, आकाशद्रव्य अवगाहनमें, कालद्रव्य वर्तना-परिवृत्तिमें उदासीनरूपसे सहायक होता है—किसी इच्छाकी पूर्ति अथवा प्रेरणाके रूपमें नहीं। क्योंकि ये चारों ही द्रव्य अचेतन तथा निष्क्रिय हैं, इनमें इच्छा तथा प्रेरणादिका भाव नहीं बनता। ये तो उदासीन रहकर जीवों तथा पुद्गलोंके गति आदिरूप परिणाम-कार्योंमें उसी प्रकार सहायक होते हैं जिस प्रकार कि मत्स्योंके गति-कार्यमें जल, पथिकके स्थिति-कार्यमें मार्गस्थित वृक्ष आदि।

संसारी और मुक्त जीवका उपकार

‘संसारवर्तिनोऽन्योन्यमुपकारं वितन्वते ।

मुक्तास्तद्रव्यतिरेकेण न कस्याप्युपकुर्वते ॥१६॥

‘संसारवर्ती जीव परस्पर एक दूसरेका उपकार करते हैं। मुक्तजीव उस संसारसे पृथक् हो जानेके कारण किसीका भी उपकार नहीं करते हैं।’

व्याख्या—इस पद्यमें संसारी तथा मुक्त दोनों प्रकारके जीवोंके उपकारका उल्लेख किया है। संसारी जीवोंके विषयमें लिखा है कि वे परस्परमें एक दूसरेका उपकार करते हैं। यहाँ उपकार शब्दमें उपलक्षणसे अपकारका भी ग्रहण है; संसारी जीव एक दूसरेका उपकार ही नहीं करते अपकार भी करते हैं, और इसलिए कहना चाहिए कि जीव एक-दूसरेके उपकार-अपकार या सुख-दुःखमें सहयोग करते अथवा निमित्तकारण बनते हैं। मुक्तजीव किसीका भी उपकार नहीं करते; क्योंकि जिसका उपकार किया जाता है या किया जा सकता है वे संसारी जीव होते हैं, मुक्तजीव संसारसे सदाके लिए अलग हो गये हैं, इसलिए संसारी जीवोंका वे कोई उपकार या अपकार नहीं करते।

१. (क) गमणनिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलानं च । अवगहणं आयासं जीवादी-सव्वदव्वाणं ॥३०॥—नियमसार । (ख) जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो ॥३१॥—नियमसार । (ग) आगासस्सवगाहो धम्मद्वस्स गमणहेदुत्तं । धम्मदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥३२॥—प्रवचन० । (घ) कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो । णेया संखेवादो गुणेहि मुत्तिप्पहीणाणं ॥३४॥—प्रवचन० । गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१३॥ आकाशस्यावगाहः ॥१८॥—त० सूत्र अ० ५ । २. आ गतिस्थितिः । ३. परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥—त० सूत्र अ० ५ ।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब मुक्तात्मा किसीका उपकार नहीं करते तो फिर उनकी उपासना-पूजा-वन्दना क्यों की जाती है ? क्यों ग्रन्थकार महोदयने ग्रन्थके आदिमें उनकी स्तुति की है ? इसका उत्तर इतना ही है कि एक तो मुक्तजीवोंके द्वारा उनकी पूर्वकी अर्हन्तादि अवस्थाओंमें हमारा उपकार हुआ है इसलिए हम उनके ऋणी हैं, 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' जो साधुजन होते हैं वे किये हुए उपकारको कभी भूलते नहीं। दूसरे, जिस आत्म-विकासरूप सिद्धिको वे प्राप्त हुए हैं उसे हमें भी प्राप्त करना इष्ट है और वह उनके आदर्शको सामने रखकर—उनके नकशे-कदमपर चलकर—तथा उनके प्रति भक्तिभावका संचार करके प्राप्त की जा सकती है अतः उनकी उपासना हमारी सिद्धिमें सहायक होनेसे करणीय है और इसीलिए की जाती है।

संसारी जीवोंका पुद्गलकृत उपकार

जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वन्ति पुद्गलाः ।

उपकारेण जीवानां भ्रमतां भवकानने ॥१७॥

'संसाररूपी वनमें भ्रमण करते हुए जीवोंके पुद्गल अपने उपकार-सहकार-द्वारा जीना, मरना, सुख तथा दुःख करते हैं—जीवोंके इन कार्यरूप परिणमनमें सहायक होते हैं।'

व्याख्या—इस पद्यमें पुद्गलोंका संसारी जीवोंके प्रति उपकार-अपकारका संसूचन किया गया है, जिसे वे अपने सहकार-सहयोगके द्वारा सम्पन्न करते हैं अथवा यों कहिए कि उनके निमित्तसे देहधारियोंको जीवन, मरण, सुख-दुःखादि प्राप्त होते हैं। मूलमें यद्यपि 'आदि' शब्द नहीं है फिर भी जीवनादिके साथ शरीर-वचन-मन-श्वासोच्छ्वास तथा इन्द्रियादिका ग्रहण उपलक्षणसे होता है, वे भी पुद्गलकृत उपकार हैं,^१ उनकी सूचनाके लिए यहाँ 'आदि' शब्द दिया गया है। और भी बहुत-से उपकार-अपकार शरीरके सम्बन्धको लेकर पुद्गलकृत होते हैं, उन सबका भी 'आदि' शब्द-द्वारा ग्रहण हो जाता है, जिनके लिए मोक्षशास्त्रके 'सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च' इस सूत्रमें 'च' शब्द जोड़ा गया है।

परमार्थसे कोई पदार्थ किसीका कुछ नहीं करता

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थतः ।

करोति कोऽपि कस्यापि न किंचन कदाचन ॥१८॥

'वस्तुतः (निश्चय-दृष्टिसे) जो पदार्थ अपने स्वरूपमें निमग्न हैं—स्वभाव-परिणमनको लिये हुए हैं—उनमें-से कोई भी किसीका कभी रंचमात्र उपकार-अपकार नहीं करता।'

व्याख्या—इस पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'परमार्थतः' पद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि पिछले पद्यमें द्रव्योंका द्रव्योंके प्रति जिस उपकारका निर्देश है वह सब व्यवहार-नयकी अपेक्षासे है। निश्चय-नयकी दृष्टिसे तो अपने-अपने स्वरूपमें निमग्न होकर स्वभाव-परिणमन करते हुए द्रव्योंमें-से कोई भी द्रव्य किसी भी परद्रव्यका

१. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥५-२०॥ —त० सूत्र । २. शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥५-१९॥ —त० सूत्र । पुद्गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः । उपकारं सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ —तत्त्वार्थसार ३-३१ ।

कभी कुछ—उपकार या अपकार—नहीं करता है। धर्म-अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वरूपमें स्थित हुए स्वभाव-परिणमन करते हैं और इसलिए निश्चयसे किसीका भी उपकारादि नहीं करते। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य वैभाविकी शक्तिको लिये हुए हैं और इसलिए इनमें स्वभाव-विभाव दोनों प्रकारका परिणमन होता है। जीवोंमें विभाव-परिणमन संसारावस्था तक कर्म तथा शरीरादिके संयोगसे होता है—मुक्तावस्थामें विभाव-परिणमन न होकर केवल स्वभाव-परिणमन ही हुआ करता है। पुद्गलोंका स्वभाव-परिणमन परमाणुरूपमें और विभाव-परिणमन स्कन्धके रूपमें होता है। परमाणुरूपमें रहता हुआ पुद्गल किसीका भी उपकार अथवा अपकार नहीं करता, यह समझ लेना चाहिए।

यदि कोई भोला प्राणी यह कहे कि बमके रूपमें परमाणु तो बड़ा विध्वंस-कार्य करता है, बहुतेकोंका अपकार करता है तो किसी-किसीका उपकार भी करता है, तब उसे उपकार-अपकारसे रहित कैसे कहा जावे ? इसका उत्तर इतना ही है कि जिसे परमाणु-बम कहते हैं वह तो नामका परमाणु है—किसी अपेक्षासे उसे परमाणु नाम दिया जाता है, अन्यथा वह तो विस्फोटक-पदार्थके रूपमें अनेक द्वयणुक आदि छोटे बड़े स्कन्धोंको लिये हुए एक बड़ा स्कन्ध होता है; उसे वस्तुतः परमाणु नहीं कह सकते। परमाणु तो वह होता है जिसका आदि-मध्य-अन्त नहीं होता, विभाग नहीं हो सकता और जो इन्द्रियगोचर नहीं होता; जैसा कि इससे पूर्वके एक पद्यमें और नियमसारकी २६वीं गाथामें दिये हुए उसके लक्षणसे प्रकट है।

पुद्गलके चार भेद और उनकी स्वरूप-व्यवस्था

‘स्कन्धो देशः प्रदेशोऽणुश्चतुर्धा पुद्गलो मतः ।

समस्तमर्धमर्धार्धमविभागिमं विदुः ॥१६॥

‘पुद्गलद्रव्य स्कन्ध, देश, प्रदेश, और अणु इस तरह चार प्रकारका माना गया है। इस (चतुर्विध) पुद्गलको (क्रमशः) सकल, अर्ध, अर्धार्ध और अविभागी कहते हैं।’

व्याख्या—संख्यात असंख्यात अनन्त अथवा अनन्तानन्त परमाणुओंके पिण्डरूप जो कोई भी एक वस्तु है उसको ‘स्कन्ध’ कहते हैं। स्कन्धका एक-एक परमाणु करके खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब उस आधे स्कन्धको ‘देश-स्कन्ध’ कहते हैं। देश-स्कन्धका खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब उस आधेको अथवा मूल स्कन्धके चतुर्थ भागको ‘प्रदेश-स्कन्ध’ कहते हैं। प्रदेश-स्कन्धके खण्ड होते-होते जब फिर कोई खण्ड नहीं बन सकता अणुमात्र रह जाता है तब उसे ‘परमाणु’ कहते हैं। ऐसी स्थितिमें मूलस्कन्धके उत्तरवर्ती और देश-स्कन्धके पूर्ववर्ती जितने भी खण्ड होंगे उन सबकी भी ‘स्कन्ध’ संज्ञा, तथा देश-स्कन्धके उत्तरवर्ती और प्रदेश-स्कन्धके पूर्ववर्ती सभी खण्डोंकी भी ‘देश-स्कन्ध’ संज्ञा और प्रदेश-स्कन्धके उत्तरवर्ती एवं परमाणुके पूर्ववर्ती सभी खण्डोंकी भी ‘प्रदेश-संज्ञा’ होती है, ऐसा समझना चाहिए।

१. खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू । इदि ते चतुर्विद्यप्या पुग्गलकाया मुण्येव्वा ॥७४॥ खंधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति । अद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू ॥७५॥—पञ्चास्ति० ।

श्री अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारमें तत्त्वार्थसूत्र-सम्मत पुद्गलोंके अणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद करके फिर स्कन्धोंके स्कन्ध, देश और प्रदेश ऐसे तीन भेद किये हैं और तदनन्तर उनका जो स्वरूप दिया है वह उक्त पद्य तथा पंचास्तिकायसे मिलता-जुलता है।

किस प्रकारके पुद्गलोंसे लोक कैसे भरा हुआ है

सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैर्लोकः स्थूलैः स्थूलतरैश्चितः ।

अनन्तैः पुद्गलैश्चितैः कुम्भो धूमैरिवाभितः ॥२०॥

‘लोक सर्व ओरसे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर, स्थूल-स्थूलतर अनेक प्रकारके अनन्त पुद्गलोंसे धूमसे घटके समान (ठसाठस) भरा हुआ है ।

व्याख्या—पिछले पद्यमें पुद्गलद्रव्यके स्कन्धादिके भेदसे चार भेदोंका उल्लेख किया गया है, इस पद्यमें दूसरी दृष्टिसे चार भेदोंका निर्देश है और वे हैं १ सूक्ष्म, २ सूक्ष्मतर, ३ स्थूल, ४ स्थूलतर । ये भेद कर्मरूप होने योग्य पुद्गलोंसे सम्बन्ध रखते हैं । इनके विषयमें लिखा है कि इन चारों प्रकारोंके पुद्गलोंसे लोकाकाश धूमसे घड़ेके समान ठसाठस भरा हुआ है—जहाँ लोकमें सर्वत्र आत्म-द्रव्यका अवस्थान है वहीं कर्मरूप होने योग्य इन चिबिध पुद्गलोंका भी अवस्थान है और इसलिए बन्धकी अवस्थामें इन्हें जीव कहीं बाहरसे लाता नहीं । काय, वचन तथा मनकी क्रियारूप योगका संचालन होते ही ये पुद्गल स्वयं कर्मरूप होकर आत्म-प्रवेश करते हैं । यहाँ सूक्ष्मतम (अतीव सूक्ष्म) और स्थूलतम (अतीव स्थूल) पुद्गलोंका उल्लेख नहीं है; क्योंकि ये दोनों प्रकारके पुद्गल कर्म-वर्गणाकी योग्यतासे रहित होते हैं । इसीसे प्रवचनसारमें ‘अप्पाओगोहिं जोगोहिं’ इन दो विशेषणोंका साथमें प्रयोग किया गया है ।

द्रव्यके मूर्तमूर्त दो भेद और उनके लक्षण

मूर्तामूर्त द्विधा द्रव्यं मूर्तामूर्तैर्गुणैर्युतम् ।

अक्षग्राह्या गुणा मूर्ता अमूर्ता सन्त्यतीन्द्रियाः ॥२१॥

‘द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकारका है । मूर्त-गुणोंसे जो युक्त वह मूर्तिक और जो अमूर्त-गुणोंसे युक्त वह अमूर्तिक है । जो गुण इन्द्रियों-द्वारा ग्राह्य हैं वे मूर्त और जो गुण इन्द्रियों-द्वारा ग्राह्य नहीं वे अमूर्त कहलाते हैं ।’

व्याख्या—इससे पहले (१-४) जीव-अजीवकी दृष्टिसे द्रव्योंके छह भेद बतलाये गये हैं—एक जीव और पाँच धर्मादिक अजीव । यहाँ मूर्त-अमूर्त-गुणोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा द्रव्यके दो भेद किये गये हैं—एक मूर्तिक, दूसरा अमूर्तिक, जिससे धर्म, अधर्म, आकाश,

१. अणु-स्कन्ध-विभेदेन द्विविधाः खलु पुद्गलाः । स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो मतः ॥३-५६॥ अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध उच्यते । देशस्तस्याधर्मधर्माधं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥३-५७॥ २. ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकार्येहिं सव्वदो लोगो । सुहुमेहिं वादरेहिं य अप्पाओगोहिं जोगोहिं ॥१६८॥ - प्रवचनसार । ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकार्येहिं सव्वदो लोगो । सुहुमेहिं वादरेहिं य गंताणंतेहिं विविधेहिं ॥६४॥ - पञ्चास्तिकाय । ३. मुत्ता इंदियगेज्जा पुग्गलदव्वप्पगा अणेगविघा । दव्वाणममुत्ताणं गुष्पा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥१३१॥ - प्रवचनसार ।

काल और जीव ये पाँच तो अमूर्तिक द्रव्यकी कोटिमें आते हैं और एक मात्र पुद्गल मूर्तिक द्रव्य ठहरता है। कहा भी है। 'मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्गलाः' (३)—इन छह द्रव्योंमें केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है; क्योंकि वह मूर्तिके लक्षण रूप (वर्ण), गन्ध, रस और स्पर्शकी व्यवस्थाको अपनेमें लिये हुए होता है।^१ और ये चार मूल-गुण ही, जिनके उत्तर-गुण बीस होते हैं, इन्द्रिय-ग्राह्य हैं—चक्षु, नासिका, रसना और त्वचा (स्पर्शन) इन्द्रियोंके विषय हैं। इन्द्रिय-ग्राह्य-गुणोंको ही यहाँ 'मूर्त' और ज्ञान-दर्शनादि अतीन्द्रिय-गुणोंको 'अमूर्त' कहा गया है।

इस पद्यमें अतीन्द्रियको 'अमूर्त' बतलाया है और गत १०वें पद्यमें परमाणुको भी अतीन्द्रिय लिखा है; तब पुद्गल-परमाणु भी अमूर्त ठहरता है। परन्तु पुद्गलद्रव्य मूर्तिक होता है। इससे परमाणु भी मूर्तिक होना चाहिए अतः परमाणुको अतीन्द्रिय और अमूर्त कहना विरोधको लिये हुए जान पड़ता है, यदि ऐसा कहा जाय तो वह एक प्रकारसे ठीक है; क्योंकि वस्तुतः पुद्गलद्रव्य मूर्तिक ही होता है—भले ही अपनी किसी सूक्ष्म या सूक्ष्मतर अवस्थामें वह इन्द्रियग्राह्य न हो। परन्तु इन्द्रियग्राह्य न होनेसे ही यदि पुद्गल परमाणुको अतीन्द्रिय माना जाय तो हजारों परमाणुओंके स्कन्धरूप जो कार्माण-वर्गणाएँ हैं वे भी इन्द्रिय-ग्राह्य न होनेसे अतीन्द्रिय तथा अमूर्तिक ठहरेंगी और इससे पुद्गलका एक अविभागी परमाणु ही नहीं बल्कि वर्गणाओंके रूपमें सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्ध भी अमूर्तिक ठहरेंगे। अमूर्तिक ठहरनेपर उनमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णका अभाव मानना होगा और इन पुद्गल-गुणोंका अभाव होनेपर पुद्गल-द्रव्यके ही अभावका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः परमाणुको अतीन्द्रिय और अतीन्द्रियको अमूर्तिक कहना व्यवहार-नयकी दृष्टिसे कथन है, निश्चय-नयकी दृष्टिसे नहीं। कितने ही सूक्ष्म पदार्थ ऐसे हैं जो स्वभावतः तो इन्द्रिय-गोचर नहीं हैं परन्तु यन्त्रोंकी सहायतासे इन्द्रिय-गोचर हो जाते हैं, आजकल ऐसे शक्तिशाली यन्त्र तैयार हो गये हैं जो एक सूक्ष्म-वस्तुको हजारों गुणी बड़ी करके दिखला सकते हैं। ऐसी स्थितिमें परमाणु भी यन्त्रकी सहायतासे बड़ा दिखाई दे सकता है। परन्तु कैसी भी शक्तिशालिनी आँख हो उससे स्वतन्त्रतापूर्वक वह देखा नहीं जा सकता। इसीसे वह अतीन्द्रिय होते हुए भी पुद्गलद्रव्यकी दृष्टिसे मूर्तिक है।

कौन पुद्गल किसके साथ कर्म-भावको प्राप्त होते हैं

कर्म वेद्यमानस्य भावाः सन्ति शुभाशुभाः ।

कर्मभावं प्रपद्यन्ते ^३संसक्तास्तेषु पुद्गलाः ॥२२॥

'कर्म-फलको भोगते हुए जीवके शुभ या अशुभ भाव होते हैं। उन भावोंके होनेपर सम्बन्धित-आस्रवित हुए पुद्गल कर्म-भावको प्राप्त होते हैं—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमते हैं।'

व्याख्या—गत २०वें पद्यके अनुसार जो पुद्गल द्रव्य लोकमें ठसाठस भरे हुए हैं वे किसी जीवके साथ कर्मभावको कब प्राप्त होते हैं इसी विषयके सिद्धान्तका इस पद्यमें निरूपण किया गया है—लिखा है कि जब कोई जीव उदयमें आये कर्मको भोगता है तब उसके भाव (मन-वचन-कायरूप योगोंके परिणमन) शुभ या अशुभ रूप होते हैं। और उन भावों

१. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः । - त० सूत्र अ० ५ । २. अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोगला सभावोहि । गच्छन्ति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा॥६५॥ - पञ्चास्ति० । ३. भा संसक्तास्तेषु ।

अथवा परिणामोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त हुए पुद्गल (स्वतः) कर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं— उन्हें कर्मरूप परिणत करनेकी दूसरी कोई प्रक्रिया नहीं है, तत्कालीन योगोंके शुभ-अशुभ परिणमन ही उन संसक्त पुद्गलोंको शुभाशुभ कर्मके रूपमें परिणत कर देते हैं।

योग-द्वारा समायात पुद्गलोंके कर्मरूप परिणमनमें हेतु

योगेन ये समायान्ति शस्ताशस्तेन पुद्गलाः ।

तेऽष्टकर्मत्वमिच्छन्ति कषाय-परिणामतः ॥२३॥

‘प्रशस्त-अप्रशस्त-योगसे—मन-वचन-कायकी शुभ या अशुभ प्रवृत्तिसे—जो पुद्गल आत्मामें प्रवेश पाते हैं वे कषायपरिणामके कारण अष्टकर्मरूप परिणत होते हैं—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका रूप धारण करते हैं।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिन पुद्गलोंका कर्मभावको प्राप्त होना लिखा है वे मन-वचन-कायरूप योगोंके शुभाशुभ परिणमन-द्वारसे आत्म-प्रविष्ट हुए पुद्गल कषाय-भावके कारण आठ कर्मोंके रूपमें परिणत होते हैं—कर्मसामान्यसे कर्मविशेष बन जाते हैं। यहाँ ‘कषाय-परिणामतः’ यह पद हेतुरूपमें प्रयुक्त हुआ है, जिसका आशय है ‘कषायरूप परिणमनके निमित्तको पाकर अष्टकर्मरूप होना’। जबतक कषाय-परिणाम नहीं होता तबतक सारे कर्म स्थिति और अनुभागसे रहित होते हैं और इसीलिए कुछ भी फल देनेमें समर्थ नहीं होते—जैसे जिस समय आये वैसे उसी समय निकल गये। अतः ‘कषायपरिणामतः’ यह पद यहाँ अपना खास महत्त्व रखता है।

आठ कर्मोंके नाम

ज्ञानदृष्ट्यावृत्ती वेद्यं मोहनीयायुषी विदुः ।

नाम गोत्रान्तरायौ च कर्माण्यष्टेति सूरयः ॥२४॥

‘ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठको आचार्य (द्रव्य-) कर्म कहते हैं।’

व्याख्या—पूर्वपद्यमें आत्म-प्रविष्ट हुए पुद्गलोंके जिन आठ कर्मरूप परिणत होनेकी बात कही गयी है उनके इस पद्यमें नाम दिये गये हैं। पुद्गलात्मक होनेसे ये आठों द्रव्यकर्म हैं। इन कर्मोंमें अपने-अपने नामानुकूल कार्य करनेकी शक्ति होती है, जिसे ‘प्रकृति’ कहते हैं और इसलिए ये आठ मूलकर्म प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद १४८ हैं। इन कर्म-प्रकृतियोंका विशेष वर्णन षट्खण्डागम, गोम्मटसार, कम्मपयडि, पंचसंग्रह आदि कर्म-साहित्य-विषयक ग्रन्थोंसे जाना जाता है।

जीव कल्मषोदय-जनित भावका कर्ता न कि कर्मका

कल्मषोदयतः भावो यो जीवस्य प्रजायते ।

स कर्ता तस्य भावस्य कर्मणो न कदाचन ॥२५॥

१. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ - त० सूत्र ८-४ । २. एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण । पुगलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥
- समयसार ।

‘कल्मषके उदयसे—मिथ्यात्वादि कर्मोंके उदय-वश—जीवका जो भाव उत्पन्न होता है उसी भावका वह जीव कर्ता होता है द्रव्यकर्मका कर्ता कभी नहीं होता है ।’

व्याख्या—‘कल्मष’ शब्द कर्ममलका वाचक है। यद्यपि उसमें सारा ही कर्ममल आ जाता है फिर भी जिस कर्ममलके उदयसे जीवके औदयिक भाव उत्पन्न होते हैं वही कर्ममल यहाँपर विवक्षित जान पड़ता है। विवक्षित-कर्ममलके उदयका निमित्त पाकर जीवका जो भाव उत्पन्न होता है उस अपने भावका कर्ता वह जीव होता है, न कि उस पुद्गलद्रव्यके कर्मरूप परिणमनका कर्ता, जो जीवके परिणामका निमित्त पाकर स्वतः कर्मरूप परिणत होता है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है :—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥ (पुरुषार्थसि०)

इस वाक्यमें प्रयुक्त हुआ पुद्गलोंका ‘अन्ये’ (दूसरे) विशेषण-पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस बातको स्पष्ट सूचित करता है कि जिस जीवकृत-परिणामका इस पद्यमें उल्लेख है वह संसारी जीवका विभाव-परिणाम है और विभाव-परिणाम जीवमें बिना पुद्गलके सम्पर्कके नहीं हुआ करता। अतः जिन पुद्गलोंके सम्बन्धको पाकर जीवका विभाव-परिणाम बना उन पुद्गलोंसे भिन्न जो दूसरे पुद्गल हैं और वहीं—परिणामके पास ही—मौजूद हैं वे उस परिणामका निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मभावको प्राप्त हो जाते हैं—द्रव्यकर्म बन जाते हैं। नतीजा यह निकला कि पहलेसे जीवके परिणाममें पुद्गलके सम्पर्क बिना नया कोई पुद्गल कर्मरूप नहीं परिणमता। और इस तरह पूर्वबद्ध कर्मके उदय-निमित्तको पाकर जीवका परिणाम और जीवके परिणाम-निमित्तको पाकर नये पुद्गलोंका कर्मरूपसे बन्धनको प्राप्त होना, यह सिलसिला अनादिकालसे चला आता है। प्रत्येक द्रव्यका परिणाम अपनेमें ही होता है, और इसलिए वही अपने उस परिणामका कर्ता होता है, दूसरे द्रव्यके परिणामका दूसरा कोई द्रव्य कर्ता नहीं होता—निमित्तकारण होना दूसरी बात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके कार्यका निमित्तकारण तो होता है पर उपादानकारण नहीं। उपादानकारण उसे कहते हैं जो कारण ही कार्यरूप परिणत होवे। मिट्टीका घड़ा बननेमें मिट्टी ही घटरूप परिणत होती है कुम्भकारादि नहीं, इसलिए मिट्टी उपादानकारण और कुम्भकारादि उसके निमित्तकारण कहे जाते हैं।

कर्मोंकी विविधरूपसे उत्पत्ति कैसे होती है

‘विविधाः पुद्गलाः स्कन्धाः संपद्यन्ते यथा स्वयम् ।

कर्मणामपि निष्पत्तिरपरैरकृता तथा ॥२६॥

‘जिस प्रकार विविध पुद्गल स्वयं स्कन्ध बन जाते हैं उसी प्रकार (पुद्गलात्मक) कर्मोंकी निष्पत्ति (निर्मिति) भी दूसरोंके द्वारा नहीं होती—स्वतः होती है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें यह बतलाया गया है कि जीव अपने भावोंका कर्ता है, द्रव्यकर्मका कर्ता कदाचित् नहीं है; तब द्रव्यकर्मोंका वर्गीकरण अथवा ज्ञानावरणादिके रूपमें

१. जह पुगलदव्वाणं बहुप्पयारेहि खंधणिव्वत्ती । अकदा परेहि दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥ - पञ्चास्ति० ।

विविध कर्मवर्गणाओंकी निष्पत्ति बिना दूसरेके किये कैसे होती है ? यह एक प्रश्न पैदा होता है। इसका उत्तर यहाँ विविध-पुद्गल-स्कन्धोंको स्वतः उत्पत्तिके दृष्टान्त-द्वारा दिया गया है, जिसका यह आशय है कि जिस प्रकार आकाशमें अपने योग्य सूर्य-चन्द्रमाकी प्रभाको पाकर बादल, सन्ध्याराग, इन्द्रधनुष, परिमण्डलादि अनेक प्रकारके पुद्गल-स्कन्ध बिना दूसरेके किये स्वयं बनते-बिगड़ते देखे जाते हैं, उसी प्रकार अपने योग्य मिथ्यात्व-रागादिरूप जीव-परिणामोंको पाकर ज्ञानावरण-दर्शनावरण आदि बहुत प्रकारके कर्म बिना किसी दूसरे कर्ताकी अपेक्षाके स्वयं उत्पन्न होते हैं और समयादिकको पाकर स्वयं ही विघटित हो जाते हैं।

जीव कभी कर्मरूप और कर्म जीवरूप नहीं होते

कर्मभावं प्रपद्यन्ते न कदाचन चेतनाः ।

कर्म चैतन्यभावं वा स्वस्वभावव्यवस्थितैः ॥२७॥

‘अपने-अपने स्वभावमें (सदा) व्यवस्थित रहनेके कारण चेतन (जीव) कभी कर्मरूप नहीं होते और न कर्म कभी चेतनरूप होते हैं ।’

व्याख्या—जीव और पौद्गलिक कर्मोंका एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होनेपर भी जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होते; क्योंकि दोनों सदा अपने-अपने स्वभावमें स्थित रहते हैं—स्वभावका त्याग कोई भी द्रव्य कभी नहीं कर सकता। इसीसे जैनागममें आत्माको स्वभावसे निजभावका कर्ता कहा गया है—पुद्गलकर्मादिकका कर्ता नहीं बतलाया। इसी तरह कर्मको भी स्वभावसे अपने भावका कर्ता कहा गया है—जीवके स्वभावका कर्ता नहीं; जैसा कि पंचास्तिकायकी निम्न गाथाओंसे जाना जाता है:—

कुर्व्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।

ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६१॥

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं ।

जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥६२॥

जीवके उपादानभावसे कर्मोंके करनेपर आपत्ति

जीवः करोति कर्माणि यद्युपादानभावतः ।

चेतनत्वं तदा नूनं कर्मणो वार्यते कथम् ॥२८॥

‘यदि जीव निश्चय ही उपादान-भावसे कर्मोंका कर्ता है तब कर्मके चेतनपनेका निषेध कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपादान-कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है। जीवके चेतन होनेपर उसके उपादानसे निर्मित हुआ कर्म भी चेतन ठहरता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जीव तथा पुद्गल-कर्मकी जिस स्वभाव-व्यवस्थितिका उल्लेख किया गया है उसे न मानकर यदि यह कहा जाय कि जीव अपने उपादान-भावसे कर्मोंका कर्ता है—निमित्त रूपसे नहीं—तो फिर कर्मोंके चेतनत्वका निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपादान-कारण जब चेतन होगा तो उसके कार्यको भी चेतन मानना पड़ेगा।

कर्मके उपादानभावसे जीवके करनेपर आपत्ति

यद्युपादानभावेन विधत्ते कर्म चेतनम् ।

अचेतनत्वमेतस्य तदा केन निषिध्यते ॥२६॥

‘यदि कर्म अपने उपादानभावसे चेतन (जीव) का निर्माण करता है तो इस-चेतनरूप जीवके अचेतनपने (जड़पने) के प्रसंगका निषेध कैसे किया जा सकता है?—नहीं किया जा सकता । कर्मका उपादान अचेतन होनेसे तन्निर्मित जीवात्मा भी तब चेतना-रहित जड़ ठहरता है ।’

व्याख्या—यदि उस स्वभाव व्यवस्थितिको न मानकर यह कहा जाय कि कर्म अपने उपादानसे जीवके भावोंका कर्ता है—निमित्तरूपसे नहीं—तो फिर जीवके अचेतनत्वका निषेध नहीं किया जा सकता है ? क्योंकि उपादान जब अचेतन होगा तो उसके कार्यको भी अचेतन मानना पड़ेगा ।

उक्त दोनों मान्यताओंपर अनिवार्य दोषापत्ति

एवं संपद्यते दोषः सर्वथापि दुरुत्तरः ।

चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षणः ॥३०॥

‘इस प्रकार (चेतनको अचेतनका और अचेतनको चेतनका उपादान-कारण माननेसे) चेतन और अचेतन द्रव्यमें कोई भेद न रहनेरूप वह दोष भी उपस्थित होता है जो सर्वथा दुरुत्तर है—किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता और उससे अनिष्टके घटित होनेका प्रसंग आता है ।’

व्याख्या—चेतनात्मक जीवको अपने उपादानसे कर्मोंका और अचेतनात्मक कर्मको अपने उपादानसे जीवका कर्ता माननेपर जिन दोषोंकी आपत्ति पिछले दो पद्योंमें दर्शायी गयी है उनसे फिर एक बड़ा दोष और उत्पन्न होता है जो किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता और उसे इस पद्यमें बतलाया है । वह महान् दोष है चेतन-अचेतन-द्रव्य-विशेषका अभाव—अर्थात् कोई द्रव्य चेतन और कोई अचेतन, यह भेद तब किसी तरह भी नहीं बन सकेगा । सबको चेतन और सबको अचेतन भी नहीं कह सकते; क्योंकि कोई भी विधि या निषेध प्रतिपक्षीके बिना नहीं होता । विधिके निषेधके साथ निषेधका विधिके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है । जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्योंसे जाना जाता है :—

अस्तित्वं प्रतिषेधेनाविनाव्येकधर्मिणि ।

विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥

नास्तित्वं प्रतिषेधेनाविनाव्येकधर्मिणि ।

विशेषणत्वाद्द्वैधर्म्यं यथाभेदविवक्षया ॥१८॥

—आप्तमीमांसा

पुद्गलोंके कर्मरूप और जीवोंके सरागरूप परिणामके हेतु

**सरागं जीवमाश्रित्य कर्मत्वं यान्ति पुद्गलाः ।
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि सरागत्वं प्रपद्यते ॥३१॥**

‘सरागी जीवका आश्रय-निमित्त पाकर पुद्गल कर्मभावको प्राप्त होते हैं । और कर्मोंका आश्रय-निमित्त पाकर जीव भी सराग-भावको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें जीव और पुद्गलकी एक-दूसरेके निमित्तसे परिणमनकी स्थिति-को स्पष्ट किया गया है और वह यह है कि जीवके रागादि रूप परिणमनका निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादि-कर्मरूप परिणत होते हैं और अपने-अपने कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीव राग-द्वेषादिरूप परिणत होते हैं । परन्तु सभी जीवोंका कर्मोंके उदयवश राग-द्वेषादिरूप परिणत होना लाजमी (अवश्यंभावी) नहीं है; कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो कर्मोंका उदय आनेपर समताभाव धारण करते हैं—कर्मजनित पदार्थोंमें राग-द्वेषादिरूप परिणत नहीं होते अथवा मोहनीय-कर्मका अभाव हो जानेपर राग-द्वेषादिरूप परिणत होने-की जिनमें योग्यता ही नहीं रहती—ऐसे जीवोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणत नहीं होते अथवा यों कहिए कि उन जीवोंके कर्मोंका उदय आनेपर भी तथा कुछ औदयिक भावों-के होनेपर भी नये कर्मोंका बन्ध नहीं होता । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो बन्धकी परम्परा कभी समाप्त नहीं हो सकती । और न कभी मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेपर भी अर्हन्तों-भगवन्तोंके बिना किसी इच्छा तथा प्रयत्नके तथा-विध योग्यताके सद्भावसे यथासमय उठना-बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश देना-जैसी क्रियाएँ तो नियमितरूप स्वभावसे उसी प्रकार होती हैं जिस प्रकार कि मेघाकार-परिणत पुद्गलोंका चलना, ठहरना, गर्जना और जल बरसाना आदि क्रियाएँ बिना किसी पुरुष-प्रयत्नके स्वतः होती देखनेमें आती हैं । परन्तु उनसे मोहके उदय-पूर्वक न होनेके कारण क्रिया-फलके रूपमें नये कर्मका कोई बन्धन नहीं होता । अरहन्तोंकी ये क्रियाएँ औदयिकी हैं; क्योंकि अर्हन्त-पद महापुण्यकल्पवृक्षसम ‘तीर्थंकर प्रकृति’ नामक नामकर्मके उदयसे होता है । साथ ही मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे ये क्रियाएँ क्षायिकी भी हैं और इस-लिए शुद्धचेतनामें कोई विकार उत्पन्न नहीं करतीं; जैसा कि प्रवचनसारकी निम्न गाथाओं-से प्रकट है :—

ठाण-णिसेज्ज-विहारा धम्मवदेसो वि णियदयो तेसि ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥४४॥
पुण्णफला अरहंता तेसि किरिया पुणोवि ओदइआ ।
मोहादीहि विरहिया तम्हा सा खाइगि ति मदा ॥४५॥

कर्मकृतभावका कर्तृत्व और जीवका अकर्तृत्व

**‘कर्म चेतकुरुते भावो जीवः कर्ता तदा कथम् ।
न किंचित् कुरुते जीवो हित्वा भावं निजं परम् ॥३२॥**

१. जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमन्ति । पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥ — समयसार । २. भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता । ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं ॥५९॥ — पञ्चास्ति० ।

‘(रागादि) भाव कर्मका कर्ता है—कर्मसमूहका निर्माता है—यदि ऐसा माना जाय तो फिर जीव कर्मोंका कर्ता कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता। जीव तो अपने (ज्ञानादिरूप) निज-भावको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता—रागादिक जीवके निज भाव न होकर परके निमित्तसे होनेवाले परभाव हैं, अतः जीव वस्तुतः उनका कर्ता नहीं।’

व्याख्या—यहाँ प्रयुक्त हुआ ‘भावः’ पद रागादिरूप विभाव-भावका वाचक है—स्वभावका नहीं। पिछले पद्यमें जब यह कहा गया है कि रागादिरूप परिणत हुए जीवका आश्रय-निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादि-कर्मरूप परिणत होते हैं तब उससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जीवके रागादिरूप परिणत न होनेपर कर्म उत्पन्न नहीं होते। ऐसी स्थितिमें जीवका रागादिभाव, जो परके सम्पर्कसे उत्पन्न हुआ कर्मकृत विभाव-भाव है, द्रव्यकर्मका कर्ता ठहरा; तब जीवको द्रव्यकर्मका कर्ता कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जिस प्रकार अग्निसे सन्तप्त हुए घृतने जो जलानेका काम किया वह वस्तुतः घृतका काम नहीं कहा जा सकता, घृतमें प्रविष्ट हुई अग्निका काम है। और इसलिए यहाँ इस बातको स्पष्ट किया गया है कि वास्तवमें जीव अपने ज्ञान-दर्शनादि चैतन्यभावको छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं करता। एक कविके शब्दोंमें ‘यह दिले बीमारकी सारी खता थी मैं न था’। संसारी जीवोंके साथ रागादिकी जो बीमारी लगी हुई है वही उनसे सब कुछ कर्म कराती है।

कर्मसे भाव और भावसे कर्म इस प्रकार एक दूसरेका कर्तृत्व

‘कर्मतो जायते भावो भावतः कर्म सर्वदा ।

इत्थं कर्तृत्वमन्योन्यं द्रष्टव्यं भाव-कर्मणोः ॥३३॥

‘कर्मके निमित्तसे सदा रागादिभाव और रागादिभावके निमित्तसे सदा कर्मसमूह उत्पन्न होता है। इस प्रकार रागादिकभावों और कर्मोंके परस्पर एक दूसरेका कर्तापना जानना चाहिए।’

व्याख्या—पिछले २८, २९, ३० नम्बरके पद्योंमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जीव अपने उपादानसे कर्मका और कर्म अपने उपादानसे जीवका कर्ता नहीं, कर्ता माननेपर बहुत बड़ा दुस्तर दोष उत्पन्न होता है—तब निमित्त-नैमित्तिक रूपमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था कैसे हो उसे इस पद्यमें स्पष्ट किया गया है और वह यह है कि द्रव्यकर्मसे—कर्मके उदय-निमित्तको पाकर—जीवके रागादिभाव उत्पन्न होता है—जीवत्व या चेतनभाव उत्पन्न नहीं होता—और जीवके रागादिभावसे कर्म उत्पन्न होता है—पुद्गल कर्मरूप परिणत होता है—न कि पुद्गल द्रव्य उत्पन्न होता है। इस तरह भाव और कर्मका सदा एक-दूसरेके प्रति नैमित्तिक रूपसे कर्तापना है। जीव-पुद्गल-द्रव्योंमें परस्पर एक दूसरेका कोई कर्तापना नहीं है—जीवसे पुद्गल या पुद्गलसे जीव कभी उत्पन्न नहीं होता।

क्रोधादिकृत कर्मको जीवकृत कैसे कहा जाता है

कोपादिभिः कृतं कर्म जीवेन कृतमुच्यते ।

पदातिभिर्जितं युद्धं जितं भूपतिना यथा ॥३४॥

१. भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि । ण दु तेसि खलु कत्ता ण विणाभूदा दु कत्तारं ॥ पञ्चास्ति० ६० ॥

‘जिस प्रकार योद्धाओंके द्वारा जीता गया युद्ध राजाके द्वारा जीता गया कहा जाता है, उसी प्रकार क्रोधादि-कषाप्रभावोंके द्वारा किया गया कर्म जीवके द्वारा किया गया कहा जाता है।’

व्याख्या—जब कर्ता रागादिभाव है तब जीवको कर्ता क्यों कहा जाता है? इस प्रश्नका यहाँ एक दृष्टान्त-द्वारा समाधान किया गया है जो अपनेमें स्पष्ट है। निश्चयसे तो संग्राममें लड़नेवाले योद्धाओंके द्वारा ही युद्ध किया जाता तथा जीता जाता है; परन्तु व्यवहारमें राजाके द्वारा, जिस प्रकार उसका किया जाना तथा जीता जाना कहा जाता है उसी प्रकार निश्चयसे क्रोधादि-द्वारा सम्पन्न होनेवाला कार्य भी—ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध भी—व्यवहारसे जीवके द्वारा किया गया कहा जाता है; जैसा कि समयसारकी निम्नगाथासे भी जाना जाता है :—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

कर्मजनित देहादिक सब विकार चैतन्य-रहित है

‘देह-संहति-संस्थान-गति-जाति-पुरोगमाः ।
विकाराः कर्मजाः सर्वे चैतन्येन विवर्जिताः ॥३५॥

‘जीवके शरीर, संहनन, संस्थान, गति, जाति आदि रूप जितने भी विकार हैं वे सब कर्मके निमित्तसे उत्पन्न एवं चेतना-रहित होते हैं।’

व्याख्या—इस पद्यमें शरीर-संहनन संस्थान-गति-जातिके रूपमें जिन विकारोंका उल्लेख है और ‘पुरोगमाः’ पदके द्वारा, जो कि ‘इत्यादि’ का वाचक है, पुद्गलके जिन स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण आदि गुणों तथा अवस्था-विशेषरूप-पर्यायोंका सूचन किया गया है वे सब प्रायः नाम-कर्म-जनित हैं और पौद्गलिक होनेसे चेतना-गुणसे रहित हैं। नामकर्मकी मुख्य ४२ प्रकृतियाँ हैं, उत्तर-भेद-सहित ९३; जैसा कि मोक्षशास्त्र-गत आठवें अध्यायके ‘गति-जाति-शरीराङ्गो-पाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण’ इत्यादि सूत्र नं० ११ और उसकी टीकाओं आदिसे जाना जाता है।

त्रयोदश गुणस्थान और उनकी पौद्गलिकता

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः ।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वस्तन्वज्ञैरनिवृत्तकः ॥३६॥
सूक्ष्मः शान्तः परः क्षीणो योगी चेति त्रयोदश ।
गुणाः पौद्गलिकाः प्रोक्ताः कर्मप्रकृतिनिर्मिताः ॥३७॥

‘तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, देश-संयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, ‘सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, परमक्षीणमोह, सयोगकेवली, ये तेरह गुणस्थान कर्म प्रकृतियोंसे निर्मित पौद्गलिक कहे गये हैं।’

१. संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंघसहा य । पोग्गलदब्बपभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ॥
पञ्चास्ति० १२६ ॥

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें तेरह गुणस्थानोंके नाम देकर यह सूचित किया है कि ये सब पौद्गलिक हैं, क्योंकि कर्मप्रकृतियाँ जो कि पौद्गलिक हैं उनके द्वारा निर्मित होते हैं। और इसलिए इन्हें जीव नहीं कहा जा सकता, जो कि नित्य अचेतन रूप हैं जैसा कि समय-सारकी निम्नगाथासे प्रकट है—

मोहनकम्मस्सुदया दु वणिण्या जे इमे गुणट्टाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उता ॥६८॥

उक्त गुणस्थानोंको कौन जीव कहते हैं और कौन नहीं

देहचेतनयोरैक्यं मन्यमानैविमोहितैः ।
एते जीवा निगद्यन्ते न विवेक-विशारदैः ॥३८॥

‘शरीर और आत्मा दोनोंको एक माननेवाले मोही जीवोंके द्वारा ये गुणस्थान जीव कहे जाते हैं किन्तु भेदविज्ञानमें निपुण विवेकी जनोके द्वारा नहीं—विवेकी जन उन्हें पुद्गलरूप अजीव बतलाते हैं।’

व्याख्या—उक्त तेरह गुणस्थानोंको कौन जीव कहते हैं और कौन नहीं कहते, इसीका इस पद्यमें स्पष्टीकरण किया गया है। अचेतन देह तथा चेतन आत्माको जो एक मानते हैं वे मोही—मिथ्यादृष्टि जीव उक्त गुणस्थानोंको जीवरूप मानते हैं, परन्तु जो विवेकी—भेदज्ञानी देहको जड़ पुद्गल रूप और जीवात्माको चेतनरूप अनुभव करते हैं वे इन गुणस्थानोंको जीवरूप नहीं मानते, जो कि पूर्व पद्यानुसार कर्म प्रकृतियोंके उदयादिकसे निर्मित होते हैं—जीवमें स्वतः स्वभावसे इनके कोई स्थान निर्दिष्ट नहीं हैं, ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं। इसीसे निश्चय नयके द्वारा देह तथा जीवको एक नहीं कहा जाता, दोनोंको एक कहनेवाला व्यवहार नय है; जैसा कि समयसारकी निम्न गाथासे जाना जाता है—

व्यवहारणओभासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदापि एकट्ठो ॥२७॥

अतः जो केवल व्यवहारनयावलम्बी हैं वे ही देह तथा जीवको एक मानते हैं, उन्हींको यहाँ विमोहित—मिथ्यादृष्टि कहा गया है और जिनके लिए ‘विवेकविशारद’ का प्रयोग किया गया है वे निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके स्वरूपको ठीक जाननेवाले भेद-विज्ञानी हैं और इसलिए वे देह तथा जीवको सर्वथा एक नहीं कहते—नयदृष्टिको लेकर कथंचित् एक और कथंचित् अनेक (भिन्न) रूपसे दोनोंका प्रतिपादन करते हैं; सर्वथा भिन्न कहना भी उनके द्वारा नहीं बनता, उससे निश्चय नयके एकान्तका दोष घटित होता है।

प्रमत्तादि-गुणस्थानोंकी वन्दनासे चेतन मुनि वन्दित नहीं

प्रमत्तादिगुणस्थानवन्दना या विधीयते ।
न तथा वन्दिता सन्ति मुनयश्चेतनात्मकाः ॥३६॥

‘प्रमत्त आदि गुणस्थानोंकी जो वन्दना की जाती है उस (वन्दना)से चेतनात्मक मुनि वन्दित नहीं होते—केवल देहकी वन्दना बनती है।’

१. णेव य जीवट्टाणा ण गुणट्टाणा य अत्थि जीवस्स । जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

—समयसार

व्याख्या—पिछले तीन पद्योंमें तेरह गुणस्थानोंको पौद्गलिक बतलाया है और यह निर्दिष्ट किया है कि वे निश्चय दृष्टिसे जीवरूप नहीं हैं; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि प्रमत्त नामक छठे गुणस्थानसे लेकर सयोग-केवली नामक १३वें गुणस्थानों तक, आठ गुणस्थानोंकी जो वन्दना देहकी स्तुति-रूपमें की जाती है उसके द्वारा वे गुणस्थानवर्ती मुनि वन्दित होते हैं या कि नहीं? यदि वन्दित होते हैं तो देह और जीव दोनों एक ठहरते हैं और यदि वन्दित नहीं होते तो वन्दना मिथ्या एवं व्यर्थ ठहरती है। प्रथम विकल्पका समाधान इस पद्यमें और दूसरे विकल्पका समाधान उत्तरवर्ती पद्यमें किया गया है। इस पद्यमें बतलाया है कि उस वन्दनासे वे गुणस्थानवर्ती चेतनात्मक मुनि वस्तुतः वन्दित नहीं होते हैं। ऐसी वन्दनाका एक रूप समयसार-कलशमें श्रीअमृतचन्द्राचार्यने इस प्रकार दिया है—

कान्त्येव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

इसमें बतलाया है—‘जो अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको व्यापकर उन्हें कान्तिमती बनाते हैं, अपने तेजसे महातेजस्वी सूर्यको भी परास्त करते हैं, अपने रूपसे लोगोंके मनको हरते हैं, अपनी दिव्यध्वनिसे सुननेवालोंके कानोंमें साक्षात् सुखामृतकी वर्षा करते हैं और एक हजार आठ (शरीर) लक्षणके धारक हैं, वे तीर्थेश्वर-आचार्य वन्दनीय हैं।

यहाँ वन्दना देहकी स्तुतिको लिये हुए है। ऐसी स्तुतिके सम्बन्धमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें लिखा है कि इस प्रकार जो उसे भिन्न पुद्गलात्मक शरीरकी स्तुति करके मुनि यह मानता है कि मेरे द्वारा केवली भगवान् स्तुति वन्दना किये गये, जो कि व्यवहार नयकी दृष्टिसे है। निश्चय नयकी दृष्टिसे यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि शरीरके जो गुण हैं वे केवलीके गुण नहीं होते, जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही वस्तुतः केवलीकी स्तुति करता है—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवलीभयवं ॥२८॥
तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणाहि होति केवलियो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलं थुणदि ॥२९॥

वन्दनाकी उपयोगिता

परं शुभोपयोगाय जायमाना शरीरिणाम् ।
ददाति विविधं पुण्यं संसारसुखकारणम् ॥४०॥

‘किन्तु वह वन्दना उत्कृष्ट शुभोपयोगके लिए निमित्त-भूत हुई प्राणियोंको नाना प्रकारका परमपुण्य प्रदान करती है, जो ऊँचे दर्जेके संसार-सुखोंका कारण होता है।’

व्याख्या—जिन गुणस्थानोंकी वन्दनाका पिछले पद्यमें उल्लेख है वे पद्य नं० ३६, ३७ के अनुसार पौद्गलिक होते हुए भी और उनकी उस वन्दनासे ज्ञानात्मक मुनिवन्दित न होते

१. जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरिय संथुदो चव । सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥—समयसार ॥

हुए भी वह देहधारियोंके उस पुण्यके उपार्जनमें एक बहुत बड़ी निमित्त कारण होती है जोकि संसारी जीवोंको ऊँचे दर्जेका सुख प्राप्त कराता है, और इसीलिए निरर्थक नहीं कही जाती है। अतः इस विषयमें—वन्दनाकी उपयोगिताके सम्बन्धमें—शंका करनेकी जरूरत नहीं है। व्यवहारनयकी दृष्टिसे, जो कि समयसारकी पूर्वोक्त गाथा २७ के अनुसार देह और जीवको एक रूपमें ग्रहण करता है, उक्त वन्दनासे चेतनात्मक मुनि वन्दित होते हैं और वह वन्दना वन्दनकर्ताके शुभोपयोगका निमित्तभूत होकर उसे नाना प्रकारके संसार-सुखोंका कारण पुण्य प्रदान करती है। ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनयाश्रित वन्दना सर्वथा मिथ्या तथा व्यर्थ नहीं होती।

अचेतनदेहके स्तुत होनेपर चेतनात्मा स्तुत नहीं होता

‘नाचेतने स्तुते देहे स्तुतोऽस्ति ज्ञानलक्षणः ।

न कोशे वर्णिते नूनं सायकस्यास्ति वर्णना ॥४१॥

‘अचेतन-देहके स्तुत होनेपर ज्ञान-लक्षण आत्मा स्तुत नहीं होता। (ठीक है) म्यानका वर्णन होनेपर (उस वर्णनसे) म्यानके भीतर रहनेवाली तलवारका वर्णन नहीं बनता ।’

व्याख्या—प्रमत्तादि गुणस्थान-वर्तियोंकी अचेतन देहके रूपमें जो वन्दना-स्तुति की जाती है उससे ज्ञानात्मक मुनि वन्दित-स्तुत नहीं होते, यह बात जो ३९वें पद्यमें कही गयी थी, उसीको यहाँ एक सुन्दर दृष्टान्तके द्वारा स्पष्ट किया गया है। वह है म्यान और तलवारका दृष्टान्त। म्यान लोहेका है या अन्य धातुका है उसपर सोने-चाँदीकी अमुक चित्रकारी है अथवा मखमल आदि चढ़ी है और उसपर सुन्दर सुनहरी-रूपहरी काम हो रहा और मूठ अमुक आकारकी बड़ी ही चित्ताकर्षक है, यह सब म्यानका वर्णन है, इस वर्णनसे तलवारके वर्णनका जैसे कोई सम्बन्ध नहीं है—उसके गुण, स्वभाव आदिका कोई वर्णन नहीं हो जाता—उसी प्रकार अचेतन देहके रंग-विरंगादि विविध रूपसे वर्णित होनेपर भी उसके भीतर रहनेवाले आत्माका वर्णन नहीं होता। और इसलिए देहकी स्तुतिसे देहधारीकी स्तुति नहीं बनती। इसी बातको समयसारमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने नगर और राजाके दृष्टान्त-द्वारा व्यक्त किया है—लिखा है कि ‘नगरका वर्णन होनेपर जिस प्रकार राजाका वर्णन नहीं हो जाता उसी प्रकार देह-गुणोंकी स्तुति होनेपर केवलीके गुणोंकी स्तुति नहीं हो जाती।’

विभिन्नताका एक सिद्धान्त और उससे चेतनकी देहसे भिन्नता

यत्र प्रतीयमानेऽपि न यो जातु प्रतीयते ।

स ततः सर्वथा भिन्नो रसाद् रूपमिव स्फुटम् ॥४२॥

काये प्रतीयमानेऽपि चेतनो न प्रतीयते ।

यतस्ततस्ततो भिन्नो न भिन्नो ज्ञानलक्षणात् ॥४३॥

‘जो जिसमें प्रतीयमान होनेपर भी कभी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता वह उससे जिसमें प्रतीयमान हो रहा है सर्वथा भिन्न होता है जैसे रससे रूप। चूँकि देहमें प्रतीयमान होनेपर भी चेत-

१. णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि । देहगुणे थुव्वंते ण केवल्लिगुणा थुदा होंति ॥३०॥—समयसार

नात्मा कभी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता इसलिए वह चेतनात्मा देहसे भिन्न है; किन्तु अपने ज्ञान-लक्षण-से भिन्न नहीं है।'

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें-से प्रथम पद्यमें विभिन्नताके एक सिद्धान्तका उदाहरण-सहित निर्देश किया गया है और दूसरे पद्यमें उसे देह तथा आत्मापर घटित किया गया है। जिस प्रकार रसमें रूप प्रतीयमान (प्रतिभासमान) होते हुए भी वहाँ कभी स्पष्ट प्रतीत (प्रतिभासित) नहीं होता और इसलिए रससे रूप भिन्न है—रस रसना इन्द्रियका विषय है और रूप चक्षु इन्द्रियका विषय है। उसी प्रकार जीवित शरीरमें जीवात्माके प्रतीयमान होने-पर भी जीवात्मा वहाँ कभी स्पष्ट रूपसे प्रतीत नहीं होता और इसीलिए पौद्गलिक शरीरसे जीवात्मा सर्वथा भिन्न है—शरीर इन्द्रियज्ञान गोचर है जबकि जीवात्मा अपौद्गलिक तथा स्वसवेद्य है—शरीरसे भिन्न होते हुए भी जीवात्मा अपने ज्ञानलक्षणसे, जो कि उसका आत्मभूत-लक्षण है, कभी भिन्न नहीं होता। ४२वें पद्यमें प्रयुक्त हुआ स्पष्टार्थका वाचक 'स्फुट' विशेषणपद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जो जहाँ प्रतीयमान होता है वह वहाँ अस्पष्ट झाँकीके रूपमें होता है, स्पष्ट प्रतीतिका विषय नहीं होता।

जो कुछ इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबाह्य

दृश्यते ज्ञायते किञ्चिद् यदचैरनुभूयते ।

तत्सर्वमात्मनो बाह्यं विनश्वरमचेतनम् ॥४४॥

'इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भी देखा जाता, जाना जाता और अनुभव किया जाता है वह आत्मासे बाह्य, नाशवान् तथा चेतना-रहित है।'

व्याख्या—इस पद्यमें इन्द्रियों-द्वारा दृष्ट, ज्ञात तथा अनुभूत पदार्थोंके विषयमें एक अटल नियमका निर्देश किया गया है, और वह यह कि ऐसे सब पदार्थ एक तो आत्मबाह्य होते हैं—शुद्ध आत्माका कोई गुण या पर्यायरूप नहीं होते, दूसरे विनश्वर-सदा स्थिर न रहनेवाले—होते हैं, तीसरे अचेतन होते हैं। इन्द्रियोंका जो कुछ भी विषय है वह सब पौद्गलिक—पुद्गलनिष्पन्न है और पुद्गल आत्मासे बाह्यकी वस्तु है, अचेतन है और पूरण-गलन-स्वभावके कारण सदा एक अवस्थामें स्थिर रहनेवाला नहीं है। परमाणु-रूपमें पुद्गल इन्द्रियोंका विषय ही नहीं और स्कन्धरूपमें पुद्गल सदा बनते और बिगड़ते रहते हैं। अतः उक्त नियम एक मात्र पौद्गलिक-द्रव्योंसे सम्बन्ध रखता है—दूसरे कोई भी द्रव्य इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं।

इन्द्रियगोचर रूपका स्वरूप

न निर्वृत्तिं^१ गतस्यास्ति तद्रूपं^२ किञ्चिदात्मनः ।

अचेतनमिदं प्रोक्तं सर्वं पौद्गलिकं जिनैः ॥४५॥

१. आ निर्वृत्तिगतस्यास्ति । २. आ यद्रूपं ।

‘जो इन्द्रियोंके द्वारा देखा जाता तथा अनुभव किया जाता है वह कुछ भी रूप मुक्ति-प्राप्त आत्माका नहीं है। इसीसे जिनदेवोंके द्वारा यह सब इन्द्रिय-ग्राह्य-रूप पुद्गलात्मक अचेतन कहा गया है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जो बात कही गयी है उसीको इस पद्यमें और स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि जो कुछ भी रूप इन्द्रियोंके द्वारा देखा जाता या अनुभव किया जाता है वह चूँकि मुक्तिप्राप्त आत्माका कुछ भी रूप नहीं है अतः उस सबको जिनदेवने अचेतन तथा पौद्गलिक कहा है।

राग-द्वेषादि विकार सब कर्मजनित

विकाराः सन्ति ये केचिद्राग-द्वेष-मदादयः ।

कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयास्तिग्मांशोरिव मेघजाः ॥४६॥

‘आत्माके राग, द्वेष और मद आदिक जो कुछ विकार हैं—विभावपरिणमन हैं—वे सब मेघ-जन्य सूर्यके विकारोंकी तरह कर्म-जनित हैं।’

व्याख्या—३५वें पद्यमें जिन विकारोंका उल्लेख तथा सूचन है वे प्रायः नामकर्म-जनित हैं और इस पद्यमें राग-द्वेष-मदके रूपमें जिन विकारोंका उल्लेख है और ‘आदयः’ पदके द्वारा जिन क्रोध-लोभ-माया-भय-हास्य-रति-अरति-शोक-भय जुगुप्सादि विकारोंका सूचन है वे सब प्रायः मोहनीयकर्म-जनित हैं—कर्मोंके उदयादि-निमित्तोंको पाकर उसी प्रकार आत्मामें उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार मेघोंके उदयादि-निमित्तको पाकर सूर्यमें विकार उत्पन्न होते हैं। कर्म चूँकि पौद्गलिक तथा अचेतन हैं अतः ये विकार भी पौद्गलिक तथा अचेतन हैं, अचेतन पौद्गलिकसे अचेतन्य पौद्गलिककी ही उत्पत्ति हो सकती है, चेतन तथा अपौद्गलिक आत्म-द्रव्यकी नहीं।

जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता

अनादावपि सम्बन्धे जीवस्य सह कर्मणा ।

न जीवो याति कर्मत्वं जीवत्वं कर्म वा स्फुटम् ॥४७॥

‘जीवका कर्मके साथ अनादिकालीन सम्बन्ध होनेपर भी न तो कभी जीव कर्मपनेको प्राप्त होता है—कर्म बनता या कर्मरूप परिणत होता है—और न कर्म जीवपनेको प्राप्त होता है—जीव बनता या जीवरूप परिणत होता है, यह स्पष्ट है।’

व्याख्या—कितनी ही वस्तुएँ संसारमें ऐसी हैं जो सम्बन्धके कारण एक दूसरे रूप परिणत होती हुई देखनेमें आती हैं। मोक्षशास्त्रमें भी ‘बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च’ नामका एक सूत्र है, जिसका आशय है दो गुण अधिक वस्तु दो हीनगुण वस्तुको अपने रूप कर लेती है। परन्तु यह सब पुद्गलके सम्बन्धकी बात है—एक द्रव्यके दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्धकी नहीं। जीव और पुद्गल दोनों अलग-अलग द्रव्य हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म पौद्गलिक होते हैं। इसीसे जीव तथा कर्मका अनादि सम्बन्ध होते हुए भी न तो जीव कभी कर्मरूप होता और न कर्म कभी जीवरूप ही परिणत होता है—द्रव्यदृष्टिसे दोनोंकी सदा अपने-अपने स्वभावमें व्यवस्थिति रहती है।

आत्माको द्रव्यकर्मका कर्ता माननेपर दोषापत्ति

‘आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा ।
कथं तस्य फलं भुङ्क्ते स दत्ते कर्म वा कथम् ॥४८॥

‘यदि यह निश्चितरूपसे माना जाय कि आत्मा आत्माके द्वारा—अपने ही उपादानसे—कर्मको करता है तो फिर वह उस कर्मके फलको कैसे भोगता है ? और वह कर्म (आत्माको) फल कैसे देता है ?’

व्याख्या—यदि पूर्व पद्य-वर्णित सिद्धान्तके विरुद्ध निश्चित-रूपसे यह माना जाय कि आत्मा अपने उपादानसे द्रव्यकर्मका कर्ता है—स्वयं ही ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणत होता है—तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह आत्मा उस कर्मफलको कैसे भोगता है और वह कर्म उस आत्माको फल कैसे देता है ? दोनोंके एक ही होनेपर फलदान और फलभोगकी बात नहीं बन सकती ।

कर्मोदयादि-संभव गुण सब अचेतन

कर्मणामुदयसंभवा गुणाः शामिकाः क्षयशमोद्भवाश्च ये ।
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्ते भवन्ति निखिला विचेतनाः ॥४९॥

‘जो गुण कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए—औद्यिक हैं, कर्मोंके उपशमजन्य औपशमिक हैं तथा कर्मोंके क्षयोपशमसे प्रादुर्भूत हुए क्षायोपशमिक हैं और जो विविध-शास्त्र-समूहके द्वारा वर्णित हुए हैं—अनेक शास्त्रोंमें जिनका वर्णन है—वे सब चेतना-रहित अचेतन हैं ।’

व्याख्या—द्रव्यकर्मोंके उदय-निमित्तको पाकर उत्पन्न होनेवाले गुण औद्यिक भाव, कर्मके उपशम-निमित्तको पाकर उद्भूत होनेवाले गुण औपशमिक भाव और कर्मोंके क्षयोपशम-निमित्तको पाकर प्रादुर्भूत होनेवाले गुण क्षायोपशमिक भाव, ये सब द्रव्यकर्मोंके चेतनारहित होनेके कारण चेतना-विहीन होते हैं । द्रव्य-कर्मके अस्तित्व बिना जीवके औद्यिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव नहीं बनते—द्रव्यकर्म ही नहीं तब उदयादि किसका ? इसीसे इन भावोंको कर्मकृत कहा गया है ।^१ यह व्यवहारनयकी दृष्टिसे कथन है ।

अन्यथा द्रव्यकर्मके उदयादि-निमित्तको पाकर उत्पन्न होनेवाले ये आत्माके विभाव भाव हैं—स्वभाव-भाव तो एक मात्र पारिणामिक भाव है, जो अनादि-निधन तथा निरुपाधि होता है । क्षायिकभाव स्वभावकी व्यक्ति रूप होनेसे अविनाशी होते हुए भी सादि है; क्योंकि कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है और इसीसे कर्मकृत कहा जाता है ।^३

१. कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं । किध तस्य फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥ पञ्चास्ति० ६३॥ २. कम्मेण विणा उदयं जीवस्स न विज्जदे उपसमं वा । खइयं खओवस-मियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥५८॥—पञ्चास्ति० । ३. पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधिः स्वाभाविक एव । क्षायिकस्तु स्वभाव-व्यक्तिरूपत्वादनन्तोऽपि कर्मणः क्षयेनोत्पद्यमानत्वात् सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः ।—अमृतचन्द्राचार्यः ।

अजीवतत्त्वको यथार्थ जाने बिना स्वस्वभावोपलब्धि नहीं बनती

अजीवतत्त्वं न विदन्ति सम्यग् ये' जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तम् ।
चारित्रवन्तोऽपि^१ न ते लभन्ते विविक्तात्मानमपास्तदोषम् ॥५०॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृतेऽजीवाधिकारः ॥२॥

‘जो लोग उस अजीवतत्त्वको, जो कि जीवतत्त्वसे विधि-द्वारा विभक्त है, यथार्थ रूपसे नहीं जानते हैं वे चारित्रवन्त होते हुए—सम्यक् चारित्रका अनुष्ठान करते हुए—भी उस विविक्त—शुद्ध एवं खालिस—आत्माको प्राप्त नहीं होते जो कि दोषोंसे रहित है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें, अजीवाधिकारका उपसंहार करते हुए, अजीव-तत्त्वके यथार्थ परिज्ञानका महत्त्व स्थापित किया गया है और वह यह है कि जबतक इस अजीवतत्त्वका यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तबतक आत्माको अपने शुद्धरूपकी उपलब्धि नहीं होती, चाहे वह कितना भी तपश्चरण क्यों न करे। यहाँ अजीव-तत्त्वका ‘जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तं’ यह विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि अजीव-तत्त्व जीव-तत्त्वके निषेधको लिये हुए कोई धर्म नहीं है किन्तु अपने अस्तित्वको लिये हुए एक पृथक् तत्त्व है, और वह मुख्यतः वह तत्त्व है जो जीवके साथ एक क्षेत्र-अवगाहरूप होते हुए भी उससे सदा पृथक् रहता है और जीवके विभाव-परिणमनमें निमित्तकारण पड़ता है। वह पुद्गलद्रव्य है जो कर्मके रूपमें जीवके साथ उक्त अनादि-सम्बन्धको लिये हुए है और शरीरके रूपमें अनेक स्वजनादिके सम्बन्धको लिये हुए है। उसको ठीक न समझने-से ही आत्माके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है और इसीसे उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती। विविक्तात्माके रूपमें स्वरूपकी उपलब्धि ही इस ग्रन्थका मुख्य ध्येय है, जिसे ग्रन्थके मंगलाचरणमें ‘स्वस्वभावोपलब्धये’ पदके द्वारा व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित-योगसारप्राभृतमें अजीव
अधिकार नामका दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

आस्रवाधिकार

आस्रवके सामान्य हेतु

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योग-वृत्तयः ।
सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्रव-हेतवः ॥१॥

‘शुभ तथा अशुभ उपयोगके द्वारा—ज्ञान-दर्शनके अच्छे-बुरे रूप परिणमनके निमित्तसे—वासनाको प्राप्त अथवा संस्कारित हुई जो योगोंकी—मन-वचन-कायकी कर्म-क्रियारूप प्रवृत्तियाँ हैं वे सामान्यसे दुरितोंके—शुभाशुभ-कर्मोंके—आस्रवकी—आत्मामें आगमन अथवा प्रवेशकी—हेतु होती हैं—कारण पड़ती हैं ।’

व्याख्या—यहाँ ‘योग’ शब्द मन-वचन-काय तीनोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। तीनों योगोंमें-से किसी भी योगकी क्रिया ‘योगवृत्ति’ कहलाती है। ये योगवृत्तियाँ जब शुभ या अशुभ किसी भी प्रकारके उपयोगसे—ज्ञान-दर्शनसे-वासित-संस्कारित होती हैं अथवा यों कहिए कि कोई भी प्रकारके ज्ञान-दर्शनकी पुटको साथमें लिये हुए होती हैं तो वे सामान्य-रूपसे दुरितास्रवकी हेतु होती हैं। योगवृत्तियोंके उक्त विशेषणसे यह फलित होता है कि यदि वे वृत्तियाँ शुभाशुभ उपयोगसे वासित नहीं तो दुरितास्रवकी हेतु भी नहीं होतीं।

‘दुरित’ शब्द आम तौरपर पाप या पापकर्मके अर्थमें प्रयुक्त होता है; परन्तु यहाँ वह कर्ममात्र अथवा आठों प्रकारकी कर्म प्रकृतियोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ग्रन्थ-भरमें यह शब्द कोई आठ स्थानोंपर पाया जाता है और सर्वत्र इसी आशयको लिये हुए है—कर्म-विशेष जो पाप उसके आशयको लिये हुए नहीं। इसके पर्याय नाम हैं अघ, कलिल, रजस्, एनस्, आगस्, रेफस्, अँहस् और पातक, जिन सबका प्रयोग भी ग्रन्थमें दुरितके उक्त आशयको लिये हुए है—केवल पापके आशयको लिये हुए नहीं; यद्यपि ये पापके अर्थमें भी प्रयुक्त होते हैं। ‘पाप’ शब्द ही ग्रन्थ-भरमें प्रायः पापकर्मके लिये प्रयुक्त हुआ है। ग्रन्थकारने स्वयं भी आगे चतुर्थ पद्यमें ‘दुरितास्रव’के स्थानपर ‘कर्मास्रव’ पदका प्रयोग किया है, जो दुरितके अभिप्रेत कर्म अर्थको स्पष्ट कर देता है। यहाँ मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्रमें—‘दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपम-योगबलेन निर्दहन्’ इत्यादि वाक्यके द्वारा ‘कर्माष्टक’को ‘दुरित’ शब्दके द्वारा उल्लेखित किया है। अतः ग्रन्थ-कारका आठों कर्मोंके अर्थमें—दुरित शब्दका उक्त प्रयोग बहुत प्राचीन और समीचीन है। वास्तवमें देखा जाय तो सारे ही कर्म पापरूप हैं जो आत्माको बन्धनमें बाँधकर—पराधीन बना कर—उसे संसार-भ्रमण कराते हैं। इसीसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें पुण्यकर्मको भी सुशील नहीं माना है, जो कि आत्माका संसारमें ही प्रवेश (भव-ग्रहणके रूपमें भ्रमण) कराता रहता है।

१. आ दुरिताश्रव (आगे भी सर्वत्र ‘आश्रव’) । २. कह तं होदि सुशीलं जं संसारे पवेसेदि॥१४५॥

आस्रवके विशेष हेतु

‘मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं कषायो योग इत्यमी ।

चत्वारः प्रत्ययाः सन्ति विशेषेणाघसंग्रहे ॥२॥

‘मिथ्यादर्शन, असंयम (अव्रत), कषाय और योग ये चार विशेषरूपसे अघ-संग्रहमें—कर्मोंके आत्मप्रवेश तथा ग्रहण-रूप बन्धमें—कारण हैं ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें सामान्यरूपसे कर्मोंके आस्रव-हेतुओंका निर्देश करके इस पद्यमें विशेषरूपसे कर्मोंके आस्रव-हेतुओंका निर्देश किया गया है । विशेषके साथ सामान्य अवश्य रहा करता है अतः पूर्वोक्त सामान्य-हेतुओंके अतिरिक्त जिन विशेष-कारणोंका यहाँ उल्लेख किया गया है उनमें योग तो बही जान पड़ता है जो सामान्य-हेतुओंमें प्रयुक्त हुआ है, तब उसका पुनर्ग्रहण क्या अर्थ रखता है ? इस प्रश्नका समाधान, जहाँतक मैं समझता हूँ, इतना ही है कि कर्मास्रवके विशेष हेतुओंमें जिस योगका ग्रहण है वह कषायानुरंजित योग है, जिस योगकी प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है ।

यहाँ पिछले पद्यमें प्रयुक्त ‘हेतवः’ पद्यके स्थानपर ‘प्रत्ययाः’ पदका और ‘दुरित’के स्थानपर ‘अघ’ शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह समानार्थक है। किन्तु ‘आस्रव’ शब्दके स्थानपर जो ‘संग्रह’ शब्दका प्रयोग किया गया है वह अपनी विशेषता रखता है, उसमें आस्रव और बन्ध दोनोंका ग्रहण हो जाता है; क्योंकि जिन चार प्रत्ययोंको विशेषास्रवका कारण बतलाया है वे ही बन्धके भी कारण हैं; जैसा कि समयसारकी पूर्वोद्धृत गाथा १०९ से और मोक्षशास्त्रके निम्न सूत्रसे भी जाना जाता है :—

मिथ्यादर्शनाविरसि-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ॥८-१॥

मोहको बढ़ानेवाली बुद्धि

सचित्ताचित्तयोर्यावद्द्रव्ययोः परयोरयम् ।

आत्मीयत्व-मतिं धत्ते तावन्मोहो विवर्धते ॥३॥

‘यह जीव जबतक चेतन-अचेतनरूप पर-पदार्थोंमें निजत्व-बुद्धि रखता है—परपदार्थोंको अपने समझता है तबतक (इसका) मोह—मिथ्यात्व—बढ़ता रहता है ।’

व्याख्या—आस्रव-हेतुओंमें जिस मिथ्यादर्शनका ऊपर उल्लेख आया है और जिसका कितना ही बर्णन पिछले दो अधिकारोंमें आ चुका है उसीकी आस्रवसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थितिको इस पद्यमें तथा अगले कुछ पद्योंमें स्पष्ट किया गया है । इस पद्यमें मिथ्यादर्शनका ‘मोह’, नामसे उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि जबतक यह जीव पर-पदार्थोंमें—चाहे वे चेतना-सहित हों या चेतना-रहित—अपनेपनकी बुद्धि रखता है—उन्हें आत्मीय मानता है—तबतक मोह बढ़ता रहता है ।

- १.(क) सामण्यपञ्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो । मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बौद्धव्वा ॥१०९॥—समयसार । (ख) मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।—गो० क० ७८६ ।
२. कषायानुरञ्जितयोगप्रवृत्तिलेश्या । कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति भावलेश्या ।—सर्वार्थ-सिद्धि । ३. मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ।—रामसेन, तत्त्वानुशासन ।

उक्त बुद्धिसे महाकर्मास्रव

तेषु प्रवर्तमानस्य कर्मणामास्रवः परः ।

कर्मास्रव-निमग्नस्य नोत्तारो जायते ततः ॥४॥

‘उक्त चेतन-अचेतन रूप पर-पदार्थोंमें (आत्मीयत्व मतिरूप) प्रवृत्तिको प्राप्त जीवके कर्मोंका महान् आस्रव होता रहता है और इसलिए जो कर्मास्रवमें डूबा रहता है उसका उद्धार नहीं बनता ।’

व्याख्या—जो जीव सचेतन तथा अचेतन पर-पदार्थोंमें उक्त आत्मीयत्व-मतिको लिये हुए प्रवृत्त होता है उसके कर्मोंका बहुत बड़ा आस्रव होता है और जिसे कर्मोंका बहुत बड़ा आस्रव निरन्तर होता रहता है, यहाँतक कि वह उसमें डूबा रहता है, उसका संसारसे उद्धार नहीं होता । संसारसे उद्धारके लिए नये कर्मोंका आना रुकना चाहिए और वह तभी बन सकेगा जबकि इस जीवकी मोहके उदयवश पर-पदार्थोंमें जो अपनेपनकी बुद्धि हो रही है वह दूर होगी । मोहने जीवकी दृष्टिमें विकार उत्पन्न कर रखा है, इसीसे जो आत्मीय (अपना) नहीं उसे यह भ्रमसे आत्मीय समझ रहा है । इसीसे मोहरूप जो मिथ्यादर्शन है वह कर्मोंके आस्रवका प्रधान हेतु है ।

एक दूसरी बुद्धि जिससे मिथ्यात्व नहीं छूट पाता

मयीदं कार्मणं द्रव्यं कारणेऽत्र भवाम्यहम् ।

यावदेषा मतिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते ॥५॥

‘वह कर्मजनित पदार्थसमूह मुझमें है, इसका कारण मैं हूँ, यह बुद्धि जबतक बनी रहती है तबतक मिथ्यात्व—मोह अथवा मिथ्या-दर्शन—नहीं छूटता ।

व्याख्या—इस पद्यमें तीसरे पद्यसे भिन्न एक दूसरी मति-बुद्धिका उल्लेख है और मिथ्यादर्शनको ‘मिथ्यात्व’ नामसे उल्लेखित करते हुए लिखा है कि ‘यह दृश्यमान कर्म-जनित पदार्थ शरीरादिक मुझमें हैं—मेरे साथ तादात्म्य-सम्बन्धको प्राप्त हैं—और इनका कारण (उपादान) मैं हूँ’ ऐसी बुद्धि जबतक इस जीवकी बनी रहती है तबतक मिथ्यादर्शन दूर होनेमें नहीं आता । और इसलिए मिथ्यात्वके कारणसे होनेवाला कर्मास्रव बराबर होता रहता है ।

कर्मास्रवकी हेतुभूत एक तीसरी बुद्धि

आसमस्मि भविष्यामि स्वामी देहादि-वस्तुनः ।

मिथ्या-दृष्टेरियं बुद्धिः कर्मागमन-कारिणी ॥६॥

‘मिथ्यादृष्टिकी यह बुद्धि कि मैं देहादि वस्तुका पहले स्वामी था, वर्तमानमें हूँ और आगे हूँगा, कर्मोंके आगमनकी कारणीभूत है—आत्मामें कर्मोंका द्रव्य तथा भावरूप आस्रव कराने-वाली है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें मिथ्यात्व-जन्य अथवा मिथ्या दर्शनरूप एक तीसरी बुद्धिका उल्लेख है और वह यह कि ‘मैं अमुक देहादि वस्तुका स्वामी था, स्वामी हूँ अथवा स्वामी

हूँगा' यह मिथ्यादृष्टि जीवकी जो बुद्धि है वह कर्मोंके आगमनकी—आत्मप्रवेशकी—कारणी-भूत है—ऐसी बुद्धिके निमित्तसे भी कर्मोंका आस्रव होता है ।

चौथी बुद्धि जिससे कर्मास्रव नहीं रुकता

चेतनेऽचेतने द्रव्ये यावदन्यत्र वर्तते ।

स्वकीयबुद्धितस्तावत्कर्मागच्छन् न वार्यते ॥७॥

'जबतक यह जीव चेतन या अचेतन किसी पर-पदार्थमें स्वकीय बुद्धिसे वर्तता है—पर-पदार्थको अपना मानता है—तबतक कर्मोंका आना (आत्मप्रवेश) रोका नहीं जाता ।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस देहादि वस्तुके स्वामित्वका उल्लेख है वह स्वदेहादिक है और इस पद्यमें जिस वस्तुके स्वामित्वका उल्लेख है वह परदेहादिक है जिसे 'अन्यत्र' शब्दके प्रयोग-द्वारा यहाँ व्यक्त किया गया है । और इसीलिए परके—स्त्री-पुत्रादिके शरीरा-दिकमें जो अपने स्वामित्वकी बुद्धि है वह एक चौथे प्रकारकी बुद्धि है । इस बुद्धिसे जबतक जीव प्रवर्तता है तबतक कर्मके आगमनको नहीं रोका जा सकता ।

निश्चय और व्यवहारसे आत्माका कर्तृत्व

शुभाशुभस्य भावस्य कर्तात्मीयस्य वस्तुतः^१

कर्तात्मा पुनरन्यस्य भावस्य व्यवहारतः ॥८॥

'आत्मा निश्चयसे अपने शुभ तथा अशुभ भावका—परिणामका—कर्ता है और व्यवहारसे परके—पुद्गलद्रव्यके—भावका—परिणामका—कर्ता है ।'

व्याख्या—यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंकी दृष्टिसे इस संसारी जीवके कर्तृत्वका निर्देश किया गया है और उसमें बतलाया है कि यह जीव निश्चयसे अपने शुभ-अशुभ भावोंका कर्ता है, जो कि कर्मोंके उदय-निमित्तवश उसके विभाव-परिणाम होते हैं, और व्यवहारसे परद्रव्य-पुद्गलके शुभ-अशुभ परिणामका कर्ता है, जो कि आत्माके शुभ-अशुभ परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मरूपमें परिणत होनेवाला उसका विभावपरिणाम है ।

जीव-परिणामाश्रित कर्मास्रव, कर्मोदयाश्रित जीव-परिणाम

श्रित्वा जीव-परिणामं कर्मास्रवति दारुणम् ।

श्रित्वादेति परिणामो दारुणः^२ कर्म दारुणम् ॥९॥

'जीवके परिणामको आश्रित करके—आत्माके शुभ-अशुभ भावका निमित्त पाकर—दारुणकर्म आस्रवको प्राप्त होता है—आत्मामें प्रवेश पाता है—(और) दारुणकर्मको आश्रित करके—दारुणकर्मके उदयका निमित्त पाकर—दारुणपरिणाम उदयको प्राप्त होता है—आत्मामें शुभ या अशुभरूप दारुणभावका उदय होता है ।

१. मु. कर्मोद्गच्छन् । २. यहाँ 'वस्तुतः' की जगह 'बन्धतः' पाठ पाया जाता है, जो समुचित प्रतीत नहीं होता । उत्तरार्धमें 'व्यवहारतः' पदका प्रयोग यहाँ उसके प्रतिपक्षी 'वस्तुतः' पदके अस्तित्वको सूचित करता है, इसीसे उसको यहाँ रखा गया है । ३. मु. दारुणं ।

व्याख्या—यहाँ जीवके जिस परिणामका उल्लेख है वह उसका स्वभाव-परिणाम न होकर विभाव-परिणाम है, जो एक तो कर्मके उदय-निमित्तको पाकर उत्पन्न होता है और दूसरे नये कर्मके आस्रवका निमित्तकारण बनता है। कर्म और कर्मजनित जीवपरिणाम दोनोंको यहाँ 'दारुण' विशेषणके साथ उल्लेखित किया है, जो दोनोंकी भयंकरता-कठोरताका द्योतक है।

किसका किसके साथ कार्य-कारण-भाव

कार्य-कारण-भावोऽयं परिणामस्य कर्मणा ।

कर्म-चेतनयोरेष विद्यते न कदाचन ॥१०॥

'जीवके परिणामका कर्मके साथ उक्त कार्य-कारण-भाव है, कर्म और चेतन (जीवात्मा) में यह कार्य-कारणभाव कदाचित् विद्यमान नहीं है।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस कार्य-कारण-भावका उल्लेख है उसको स्पष्ट करते हुए यहाँ यह बतलाया गया है कि यह कार्य-कारण-भाव जीवके विभावपरिणामका कर्मके साथ है, अचेतन कर्म और चेतन जीवमें यह कार्य-कारण-भाव कदाचित् भी नहीं है—अचेतन कर्मसे सचेतन जीवकी और सचेतन-जीवसे अचेतन-कर्मकी उत्पत्ति कभी नहीं होती।

कर्मको जीवका कर्ता माननेपर आपत्ति

आत्मानं कुरुते कर्म यदि, कर्म तदा कथम् ।

चेतनाय फलं दत्ते ? भुङ्क्ते वा चेतनः कथम् ॥११॥

'यदि कर्म (अपने उपादानसे) आत्माको करता है तो फिर कर्म चेतन-आत्माको फल कैसे देता है ? और चेतनात्मा उस फलको कैसे भोगता है ?—ये दोनों बातें तब बनती नहीं।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें यह बतलाया गया है कि सचेतन जीव और अचेतन द्रव्य कर्ममें परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं है। यदि दोनोंमें कार्य-कारण भाव माना जाय—जीवको अपने उपादानसे कर्मका और कर्मको अपने उपादानसे जीवका कर्ता माना जाय तो इन दोनों ही विकल्पोंमें यह प्रश्न पैदा होता है कि कर्म जीवको फल कैसे देता है और जीव उसके फलको कैसे भोगता है ? उपादानकी दृष्टिसे दोनोंके एक होनेपर फलदाता और फलभोक्ताकी बात नहीं बनती। इनमें-से एक विकल्पका उल्लेख करके यहाँ जो आपत्ति की गयी है वही दूसरे विकल्पका उल्लेख करके ग्रन्थके द्वितीय अधिकारमें पद्य नं० ४८ के द्वारा की गयी है।

एकके किये हुए कर्मके फलको दूसरेके भोगनेपर आपत्ति

परेण विहितं कर्म परेण यदि भुज्यते ।

न कोऽपि सुख-दुःखेभ्यस्तदानीं मुच्यते कथम् ॥१२॥

'परके किये हुए कर्मको—कर्मके फलको—यदि दूसरा भोगता है तो फिर कोई भी सुख-दुःखसे कैसे मुक्त हो सकता है ?—नहीं हो सकता।'

व्याख्या—यहाँ 'करे कोई और भरे कोई'के सिद्धान्तका उल्लेख करके उसे दूषित ठहराया गया है—लिखा है कि यदि एकके किये हुए कर्मका फल दूसरा भोगता है तो कोई भी

सांसारिक सुख-दुःखसे कभी मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि हम अपने सुख-दुःख-दाता कर्मका निरोध तो कर सकते हैं—न करें वैसा कोई कर्म; परन्तु दूसरे करें उन्हें हम कैसे रोक सकते हैं? जब उन दूसरोंके किये कर्मका फल भी हमें भोगना पड़े तो हमारा सांसारिक सुख-दुःखसे कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता, और इसलिए कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्म-फलका यह सिद्धान्त अज्ञान-मूलक और वस्तु-तत्त्वके विरुद्ध है।

कर्म कैसे जीवका आच्छादक होता है

जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य मलीमसम् ।

जायते भास्करस्येव शुद्धस्य घन-मण्डलम् ॥१३॥

‘कर्म जो मल रूप है वह निर्मल जीवात्माका उसी प्रकारसे आच्छादक होता है जिस प्रकार कि घनमण्डल—बादलोंका घटाटोप—निर्मलसूर्यका आच्छादक होता है।’

व्याख्या—जीव स्वभावसे निर्मल है—वस्तुतः सब प्रकारके मलसे रहित है—उसको मलिन करनेवाला एक मात्र कर्ममल है और वह द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म (शरीरादि) के भेदसे तीन प्रकारका है, जो उसे सब ओरसे उसी प्रकार आच्छादित किये हुए है जिस प्रकार कि घनघोर-घटा निर्मलसूर्यको आच्छादित करती है।

कषाय-स्रोतसे आया हुआ कर्म जीवमें ठहरता है

कषायस्रोतसागत्य जीवे कर्माऽवतिष्ठते ।

आगमेनेव पानीयं जाड्य-कारं^१ सरोवरे ॥१४॥

‘जीवमें कषाय-स्रोतसे आकर जडताकारक कर्म उसी प्रकार ठहरता है जिस प्रकार कि सरोवरमें स्रोतरूप नालीके द्वारा आकर शीतकारक जल ठहरता है।’

व्याख्या—यहाँ ‘अवतिष्ठते’ पदके द्वारा जीवमें कर्मास्रवके साथमें उसके उत्तरवर्ती परिणामका उल्लेख है, जिसे ‘बन्ध’ कहते हैं और वह प्रायः तभी होता है जब कर्म कषायके स्रोतसे आता है और इसलिए इस पद्यमें साम्परायिक आस्रवका उल्लेख है। जो कर्म कषाय-के स्रोतसे—साम्परायिक आस्रवके द्वारा—नहीं आता वह बन्धको प्राप्त नहीं होता। और साम्परायिक आस्रव उसी जीवके बनता है जो कषाय-सहित होता है—कषाय-रहितके नहीं। कषाय-रहितके योगद्वारासे जो स्थिति-अनुभाग-विहीन सामान्य आस्रव होता है, उसको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं^३। बन्धका कारण कषाय है, उसीसे ‘ठिदि अणुभागा कसाय-दो होंति’ इस सिद्धान्तके अनुसार स्थिति तथा अनुभागका बन्ध होता है।

निष्कषाय-जीवके कर्मास्रव माननेपर दोषापत्ति

जीवस्य निष्कषायस्य यद्यागच्छति कल्मषम् ।

तदा संपद्यते मुक्तिने कस्यापि कदाचन ॥१५॥

‘यदि कषाय-रहित जीवके भी कल्मषका आगमन होता है—कर्माका साम्परायिक आस्रव बनता है—तो फिर किसी भी जीवकी कभी मुक्ति नहीं हो सकती।’

१. सु स्रोतसा । २. व्या जाड्यकारे । ३. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।—त० सूत्र ६-४

व्याख्या—पिछले पद्यमें कषाय-सहित जीवके साम्परायिक आस्रवकी बात कही गयी है—कषाय-रहितकी नहीं। इस पद्यमें कषाय-रहित जीवके भी यदि बन्धकारक साम्परायिक-आस्रव माना जाय तो उसमें जो दोषापत्ति होती है उसे बतलाया है और वह यह है कि तब किसी भी जीवको कभी भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती—कषायसे भी बन्ध और बिना कषायके भी बन्ध, तो फिर छुटकारा कैसे मिल सकता है? नहीं मिल सकता। और यह बात वास्तविकताके भी विरुद्ध है; क्योंकि जो कारण बन्धके कहे गये हैं उनके दूर होनेपर मुक्ति होती ही है। बन्धका प्रधान कारण कषाय है; जैसा कि इसी ग्रन्थके बन्धाधिकारमें दिये हुए बन्धके लक्षणसे प्रकट है।

एक द्रव्यका परिणाम दूसरेको प्राप्त होनेपर दोषापत्ति

नान्यद्रव्य-परीणाममन्य-द्रव्यं प्रपद्यते ।

स्वान्य-द्रव्य-व्यवस्थेयं परस्य(था) घटते कथम् ॥१६॥

‘भिन्न द्रव्यका परिणाम भिन्न द्रव्यको प्राप्त नहीं होता—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी परिणामन नहीं करता—यदि ऐसा न माना जाय तो यह स्वद्रव्य-परद्रव्यकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती।’

व्याख्या—प्रत्येक परिणामन अपने-अपने उपादानके अनुरूप होता है, दूसरे द्रव्यके उपादानके अनुरूप नहीं। यदि एक द्रव्यका परिणामन दूसरे द्रव्यके उपादानरूप होने लगे तो दोनों द्रव्योंमें कोई भेद नहीं रहता। उदाहरणके तौरपर सन्तरेके बीजसे अमरूद और अमरूदके बीजसे सन्तरा भी उत्पन्न होने लगे तो यह सन्तरेका बीज और यह अमरूदका बीज है ऐसा भेद नहीं किया जा सकता और न यह आशा ही की जा सकती है कि सन्तरेका बीज बोनेसे सन्तरेका वृक्ष उगोगा और उसपर सन्तरे लगेंगे। अन्यथा परिणामन होनेकी हालतमें उस सन्तरेके बीजसे कोई दूसरा वृक्ष भी उग सकता है और दूसरे प्रकारके फल भी लग सकते हैं, परन्तु, ऐसा नहीं होता, इसीसे एक द्रव्यमें दूसरे सब द्रव्योंका अभाव माना गया है, तभी वस्तुकी व्यवस्था ठीक बैठती है, अन्यथा कोई भी वस्तु अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित नहीं कर सकती, तब हम सन्तरेको सन्तरा और अमरूदको अमरूद भी नहीं कह सकते।

पाँचवीं बुद्धि जिससे कर्मास्रव नहीं रुकता

परेभ्यः सुखदुःखानि द्रव्येभ्यो यावदिच्छति ।

तावदास्रव-विच्छेदो न मनागपि जायते ॥१७॥

‘जबतक (यह जीव) पर द्रव्योंसे सुख-दुःखादिकी इच्छा-अपेक्षा रखता है तबतक आस्रवका विच्छेद—आत्मामें कर्मोंके आगमनका निषेध—तनिक-सा भी नहीं बनता।’

व्याख्या—पर-द्रव्योंसे मुझे सुख-दुःख मिलता है ऐसी समझ जबतक बनी रहती है तबतक आस्रवका किंचित् भी निरोध नहीं हो सकता। यह एक पाँचवें प्रकारकी बुद्धि है जो कर्मास्रवकी हेतुभूत है।

१. पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायतः । योगतः स मतो बन्धो जीवास्वातन्त्र्यकारणम् ॥१॥

स्वदेह-परदेहके अचेतनत्वको न जाननेका फल

अचेतनत्वमज्ञात्वा स्वदेह-परदेहयोः ।

स्वकीय-परकीयात्मबुद्धितस्तत्र वर्तते ॥१८॥

‘(यह जीव) स्वदेह और परदेहके अचेतनपनेको न जानकर स्वदेहमें आत्मबुद्धिसे और परदेहमें परकीय आत्मबुद्धिसे प्रवृत्त होता है—अपने शरीरको अपना आत्मा और परके शरीरको परका आत्मा समझकर व्यवहार करता है ।’

व्याख्या—अपने देहको अपना आत्मा और स्त्री-पुत्रादि परके देहको परका आत्मा समझकर यह जीव जो प्रवृत्त होता है और उससे अपनेको सुख-दुःख होना मानता है उसका क्या कारण है ? इस प्रश्नके समाधानार्थ ही यह पद्य निर्मित हुआ जान पड़ता है । और वह समाधान है ‘अपने देह तथा परदेहके अचेतनत्वको न जानना’ । यदि निश्चित-रूपसे यह जाना हो कि मेरा या दूसरे किसी भी जीवका शरीर चेतन नहीं है—जड़ है—तो उसमें स्वात्मीय तथा परात्मीय बुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि आत्मा सबका वस्तुतः चेतनरूप अमूर्तीक है, अचेतन मूर्तीक पदार्थ स्वभावसे उसका अपना नहीं हो सकता—अपना मानना स्वरूप-पररूपकी अनभिज्ञताके कारण भूल है—भ्रान्ति है । इसके मिटनेसे बुद्धिका सुधार होता है और तब कर्मोंका आस्रव सहज ही रुक जाता है ।

परमें आत्मीयत्व-बुद्धिका कारण

यदात्मीयमनात्मीयं विनश्वरमनश्वरम् ।

सुखदं दुःखदं वेत्ति न चेतनमचेतनम् ॥१९॥

पुत्र-दारादिके द्रव्ये तदात्मीयत्व-शेषुषीम् २ ।

कर्मास्रवमजानानो विधत्ते मूढमानसः ॥२०॥

‘जबतक जीव आत्मीय-अनात्मीयको, विनाशक-अविनाशकको, सुखदायी-दुःखदायीको और चेतन-अचेतनको नहीं जानता है तबतक कर्मके आस्रवको न जानता हुआ यह मूढ प्राणी पुत्र-स्त्री आदि पदार्थोंमें आत्मीयत्वकी बुद्धि रखता है—उन्हें अपने समझता है ।

व्याख्या—पूर्वपद्य-विषयक अज्ञानको इन दोनों पद्योंमें और स्पष्ट करते हुए उसे स्त्री-पुत्रादिमें आत्मीयपनेकी बुद्धिका कारण बतलाया है—लिखा है कि जब यह मोहित चित्त मूढप्राणी आत्मीय-अनात्मीयको, विनश्वर-अविनश्वरको, सुखदायी-दुःखदायीको, चेतन-अचेतनको नहीं जानता—इनके स्वरूप-भेदको नहीं पहचानता—तब कर्मोंका आस्रव कैसे होता है इसको भी न जानता हुआ स्त्री-पुत्रादिकमें आत्मीयपनेकी बुद्धिको धारण करता है—उन्हें अपने आत्म-द्रव्यके साथ सम्बद्ध मानता है ।

कौन किससे उत्पन्न नहीं होता

कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगाः कषायतः ।

न मूर्तामूर्तयोरस्ति संभवो हि परस्परम् ॥२१॥

१. मु अचेतनत्वमज्ञात्वा । २. आ तदात्मीयसेमुखी ।

‘उपयोगोंसे कषाय और कषायसे उपयोग (उत्पन्न) नहीं होते और न मूर्तिक-अमूर्तिकका परस्पर एक-दूसरेसे उत्पाद-संभव है ।’

व्याख्या—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें हैं और ज्ञान तथा दर्शन ये दो मूल उपयोग हैं। इन दोनोंमें-से किसी भी उपयोगसे कषायोंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं और न मूर्तिकसे अमूर्तिक तथा अमूर्तिकसे मूर्तिक पदार्थकी उत्पत्ति बन सकती है, ये पदार्थोंकी उत्पत्ति-विषयक वस्तुतत्त्वके निदर्शक सिद्धान्त हैं। अमूर्तिक आत्माका उपयोग लक्षण है, लक्षण होनेसे ज्ञान-दर्शन अमूर्तिक हैं और कषायें मूर्त-पौद्गलिक-कर्म-जनितहोनेसे, मूर्तिक हैं। ऐसी स्थितिमें शुद्धोपयोगरूप आत्माका कषायरूप परिणमन नहीं होता।

कषाय-परिणाम किसके होते हैं और अपरिणामोका स्वरूप

कषाय-परिणामोऽस्ति जीवस्य परिणामिनः ।
कषायिणोऽकषायस्य सिद्धस्येव न सर्वथा ॥२२॥
न संसारो न मोक्षोऽस्ति यतोऽस्यापरिणामिनः ।
निरस्त-कर्म-सङ्गश्चापरिणामी ततो मतः ॥२३॥

‘कषाय-सहित परिणामी जीवके कषाय-परिणाम होता है, जो कषाय-रहित हो गया है उसके कषाय-परिणाम नहीं होता, जैसे कि सिद्धात्माके। चूँकि इस कषाय-रहित अपरिणामी जीवके न तो संसार है और न मोक्ष, अतः जिसके कर्मका अभाव हो गया है वह अपरिणामी माना गया है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यके कथनसे यह प्रश्न पैदा होता है कि तब कषायरूप परिणमन किस जीवका होता है ? उत्तरमें बतलाया है कि जो कषाय-सहित परिणामी जीव है—कषायकर्मके उदयको अपनेमें लिये हुए हैं—उसीका कषायरूप परिणाम होता है। जो कषायरहित है—कषायकर्मके उदयको अपनेमें लिये हुए नहीं है—उसका कषायरूप परिणमन नहीं होता; जैसे कि सिद्धोंका नहीं होता, जिनके कषायका कभी उदय ही नहीं किन्तु अस्तित्व भी नहीं। चूँकि इस कषायरूप-परिणत न होनेवाले जीवके न तो संसार है (कषाय-रूप परिणमन ही नहीं तो फिर संसार क्या ?) और न मोक्ष है (कर्म सत्तामें मौजूद हों तो मोक्ष कैसा ?) इसीसे जो कर्मके सम्पर्कसे बिल्कुल अलग हो गया है वह वस्तुतः अपरिणामी माना गया है।

परिणामको छोड़कर जीव-कर्मके एक-दूसरेके गुणोंका कर्तृत्व नहीं

नान्योन्य-गुण-कर्तृत्वं विद्यते जीव-कर्मणोः ।
अन्योन्यापेक्षयोत्पत्तिः परिणामस्य केवलम् ॥२४॥
स्वकीय-गुण-कर्तृत्वं तत्त्वतो जीव-कर्मणोः ।
क्रियते हि गुणस्ताभ्यां व्यवहारेण गद्यते ॥२५॥

‘जीव और (पुद्गल) कर्मके एक-दूसरेका गुणकर्तृत्व विद्यमान नहीं हैं—न जीवमें कर्मके गुणोंको करनेकी सामर्थ्य है और न कर्ममें जीवके गुणोंको उत्पन्न करनेकी शक्ति। एक-दूसरेकी अपेक्षासे—निमित्तसे—केवल परिणामकी उत्पत्ति होती है—जो जिसमें उत्पन्न होता है उसीमें

रहता है। वास्तवमें जीव और कर्मके अपने-अपने गुणोंका कर्तृत्व विद्यमान है—जीव अपने ज्ञानादि गुणोंका और पुद्गलकर्म अपने ज्ञानावरणादि गुणोंका कर्ता है। एकके द्वारा दूसरेके गुणोंका किया जाना जो कहा जाता है वह व्यवहारनयकी दृष्टिसे कहा जाता है।

व्याख्या—ज्ञान-दर्शन-लक्षण जीव पौद्गलिक कर्मके गुण-स्वभावका कर्ता नहीं, और न (कषाय तथा ज्ञानावरणादिरूप) पौद्गलिक कर्म जीवके गुण-स्वभावका कर्ता है। केवल एक-दूसरेके परिणामकी उत्पत्ति एक-दूसरेके निमित्तसे होती है—न कि गुणकी। जीव और कर्म दोनों वस्तुतः अपने-अपने गुण-स्वभावके कर्ता हैं। एकको दूसरेके गुण-स्वभावका कर्ता कहना यह व्यवहार-नयकी दृष्टिसे कथन है—व्यवहारनयकी अपेक्षा ऐसा ही कहनेमें आता है।

पुद्गलापेक्षिक जीवभावोंकी उत्पत्ति और औदयिकभावोंकी स्थिति

उत्पद्यन्ते यथा भावाः पुद्गलापेक्षयात्मनः ।

तथैवौदयिका भावा विद्यन्ते तदपेक्षया ॥२६॥

‘जिस प्रकार पुद्गलकी अपेक्षासे—पुद्गलका निमित्त पाकर—जीवके भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुद्गलकी अपेक्षासे—पौद्गलिक कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर—उत्पन्न हुए औदयिक भाव विद्यमान रहते हैं।’

व्याख्या—इस पद्यमें जीवके गति-कषायादिरूप औदयिक भावोंकी स्थितिका निर्देश है—यह बतलाया है कि जिस प्रकार पुद्गलोंका निमित्त पाकर संसारी जीवके भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुद्गलकर्मोंके उदयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो जीवके औदयिक भाव हैं वे स्थितिको प्राप्त होते हैं—उत्पन्न होते ही नाशको प्राप्त नहीं होते किन्तु उदयकी स्थितिके अनुसार बने रहते हैं।

निरन्तर रजोग्राही कौन ?

कुर्वाणः परमात्मानं सदात्मानं पुनः परम् ।

मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्तो रजोग्राही निरन्तरम् ॥२७॥

‘जो मिथ्यात्वसे मोहितचित्त हुआ सदा परको आत्मा और आत्माको पर बनाता है वह निरन्तर कर्मरजको संचय करता रहता है।’

व्याख्या—आस्रवके चार कारणोंमें-से मिथ्यादर्शनके कथनका उपसंहार करते हुए इस पद्यमें उक्त मिथ्यादृष्टिको जो मोहके उदयसे मोहित-चित्त हुआ दृष्टिविकारके कारण परको-आत्मा—शरीरादि पर-पदार्थोंको आत्मीय (अपने)—और आत्माको पर-शरीर तथा कायादि रूप—समझता है, निरन्तर कर्मोंका साम्परायिक आस्रवकर्ता बतलाया है।

कौन स्वपर-विवेकको प्राप्त नहीं होता

राग-मत्सर-विद्वेष-लोभ-मोह-मदादिषु ।

हृषीक-कर्म-नोकर्म-रूप-स्पर्श-रसादिषु ॥२८॥

एतेऽहमहमेतेषामिति तादात्म्यमात्मनः ।

विमूढः कल्पयन्नात्मा स्व-परत्वं न बुध्यते ॥२६॥

‘मूढ आत्मा—मिथ्यात्वसहित चित्त—राग-द्वेष-ईर्ष्या-लोभ-मोह-मदादिकमें तथा इन्द्रिय-कर्म-नोकर्म-रूप-रस-स्पर्शादिक-विषयोंमें ‘ये मैं हूँ, मैं इनका हूँ’ इस प्रकार आत्माके तादात्म्यकी—एकत्वकी—कल्पना करता हुआ स्व-पर-विवेकको—अपने और परके यथार्थ बोधको—प्राप्त नहीं होता ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें स्व-परकी नासमझका जो उल्लेख है उसे इस पद्यमें और स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि ‘राग-द्वेष-मोह-क्रोध-लोभ-मद-मत्सर आदिके रूपमें जो भी विभाव हैं, इन्द्रियोंके कर्म हैं, शरीरकी चेष्टाएँ हैं और रूप-रस-स्पर्शादिरूप पुद्गलके गुण हैं उन सबमें ‘ये मेरे, मैं इनका’ इत्यादि रूपसे तादात्म्य-सम्बन्धकी कल्पना करता हुआ यह मूढ-आत्मा न तो अपनेको ही समझ पाता है और न परको । यह तादात्म्य-भावकी कल्पना ही इस जीवके स्व-पर-विवेकमें बाधक है । इसीसे अनात्मीय-भावोंमें ममकार और कर्मजनित-भावोंमें अहंकार उत्पन्न होता है ।

कर्म-सन्तति-हेतु अचारित्रका स्वरूप

हिंसने वितथे स्तेये मैथुने च परिग्रहे ।

मनोवृत्तिरचारित्रं कारणं कर्मसंततेः ॥३०॥

‘हिंसामें, झूठमें, चोरीमें, मैथुनमें और परिग्रहमें जो मनको प्रवृत्ति है वह अचारित्र है—कुत्सित आचरण है—जोकि कर्मसन्ततिका—कर्मोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा परिपाटीका—कारण है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें आसूवके दूसरे विशेष कारण अचारित्रको लिया गया है और यह बतलाया है कि हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन (पंच पापों) में जो भाव मनकी प्रवृत्ति है उसे ‘अचारित्र’ कहते हैं—जिसके दूसरे नाम ‘अव्रत’ और ‘असंयम’ भी हैं । यह प्रवृत्ति आसूवादिरूपसे कर्म-सन्ततिको चलानेमें कारणीभूत है ।

राग-द्वेषसे शुभाशुभ-भावका कर्ता अचारित्रो

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम् ।

आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्व-चारित्र-पराङ्मुखः ॥३१॥

‘परद्रव्यमें रागसे अथवा द्वेषसे शुभ-अशुभ भाव (परिणाम) को करता हुआ आत्मा अचारित्रो—कुत्सिताचारी—होता है; क्योंकि वह उस समय अपने चारित्रसे—स्वरूपाचरणसे—विमुख होता है ।’

व्याख्या—जब यह जीव परद्रव्यमें रागसे शुभभावको और द्वेषके कारण अशुभभावको करता है—परद्रव्यको शुभ या अशुभरूप मान लेता है—तो यह अपने समताभावरूप स्वचारित्रसे विमुख-भ्रष्ट हुआ अचारित्रो अथवा असंयमी होता है । और ऐसा होता हुआ कर्मासूवका कारण बनता है ।

स्वचारित्रसे भ्रष्ट कौन ?

यतः संपद्यते पुण्यं पापं वा परिणामतः ।

वर्तमानो यत(तत)स्तत्र भ्रष्टोऽस्ति स्वचारित्रतः ॥३२॥

‘चूँकि शुभ-अशुभ परिणाम (भाव)से पुण्य-पापकी उत्पत्ति होती है अतः उस परिणाममें प्रवर्तमान आत्मा अपने चारित्रसे भ्रष्ट होता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जीवके जिन दो भावों-परिणामोंका उल्लेख है वे क्रमशः राग-द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभ भाव हैं । इनमें-से शुभभावोंसे पुण्यकर्मका और अशुभ भावोंसे पापकर्मका आस्रव होता है; जैसा कि मोक्षशास्त्रके ‘शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य’ इस सूत्रसे भी प्रकट है । इस पुण्य-पापमें जो सदा प्रवृत्तिमान रहता है उसे यहाँ स्वचारित्रसे भ्रष्ट बतलाया है—वह इन दोनोंके चक्करमें फँसा अपने स्वरूपसे विमुख हुआ उसे भुलाये रहता है ।

स्वचारित्रसे भ्रष्ट-चतुर्गतिके दुःख सहते हैं

श्वाध-तिर्यङ्-नर-स्वर्गि-गतिं जाताः शरीरिणः ।

शारीरं मानसं दुःखं सहन्ते कर्म-संभवम् ॥३३॥

‘(अपने चारित्रसे भ्रष्ट होकर शुभ-अशुभ परिणामोंके द्वारा पुण्य-पापका संचय करने-वाले) नरक, तिर्यच, मनुष्य तथा देवगतिको प्राप्त हुए जीव कर्मजन्य शारीरिक तथा मानसिक दुःखको सहन करते हैं ।’

व्याख्या—यहाँ स्वचारित्रसे भ्रष्ट होनेके फलका निर्देश किया है—लिखा है कि ऐसे स्वचारित्रभ्रष्ट प्राणी नरक, तिर्यच, मनुष्य तथा देवगतिको प्राप्त हुए कर्मजनित शारीरिक तथा मानसिक दुःखको सहते हैं ।

देवेन्द्रोंका विषय-सुख भी दुःख है

यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवम् ।

ददानं दाहिकां तृष्णां दुःखं तदवबुध्यताम् ॥३४॥

‘(यदि यह पूछा जाय कि देवगतिको प्राप्त देवेन्द्रोंको तो बहुत सुख होता है फिर देवगतिके सभी जीवोंको दुःख सहनेवाला क्यों लिखा है ? तो इसका समाधान यह है कि) देवेन्द्रोंको इन्द्रिय-विषयोंसे उत्पन्न जो सुख होता है वह दाह उत्पन्न करनेवाली तृष्णाको देनेवाला है इसलिए उसे (वस्तुतः) दुःख समझना चाहिए ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिन चतुर्गति-सम्बन्धी शारीरिक तथा मानसिक दुःखोंके सहनेका उल्लेख है उसपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुण्यकर्मसे जो देवगतिकी प्राप्ति होती है उसमें देवेन्द्रका सुख तो बहुत बड़ा-चढ़ा होता है; तब अन्य स्वर्गगति प्राप्त सभी जीवोंको भी दुःखोंके सहनेकी बात कैसे कहते हैं ? इसीका उत्तर इस पद्यमें देते हुए लिखा है कि—‘देवराजको स्वर्गमें जो सुख इन्द्रिय-विषयोंसे उत्पन्न हुआ प्राप्त होता है वह दाह

उत्पन्न करनेवाली भारी तृष्णाको देनेवाला होता है और इसीलिए उसे भी दुःख समझना चाहिए। हजारों-करोड़ों वर्षों तक जिस सुखको स्वर्गोंमें भोगते हुए तृप्तिकी प्राप्ति ही न हो—प्यासके रोगीके समान जलपानसे उलटी तृष्णा बढ़े—उसे सुख कैसे कह सकते हैं? सुख तो तृष्णाके अभावमें है।

इन्द्रियजन्य सुख-दुःख क्यों है ?

अनित्यं पीडकं तृष्णा-वर्धकं कर्मकारणम्
शर्माक्षजं^१ पराधीनमशर्मैव विदुर्जिनाः ॥३५॥

‘जो अस्थिर है, पीडाकारी है, तृष्णावर्धक है, कर्मबन्धका कारण है, पराधीन है उस इन्द्रिय-जन्य सुखको जिनराजोंने असुख (दुःख) ही कहा है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस इन्द्रियसुखका उल्लेख है उसके कुछ विशेषणोंको इस पद्यमें और स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि ‘वह एक तो क्षणभंगुर है—लगातार स्थिर रहनेवाला नहीं—पीडाकारक है—दुःखको साथमें लिये हुए है, तृष्णाको उत्पन्न ही नहीं करता किन्तु उसे बढ़ानेवाला है, कर्मके आस्रव-बन्धका कारण है और साथ ही स्वाधीन न होकर पराधीन है, इसीसे जिनेन्द्र भगवान् उसे वस्तुतः दुःख ही कहते हैं।’

सांसारिक सुखको दुःख न माननेवाला अचारित्री

सांसारिकं सुखं सर्वं दुःखतो न विशिष्यते ।
यो नैव बुध्यते मूढः स चारित्री न भण्यते ॥३६॥

‘संसारका सारा सुख दुःखसे कोई विशेषता नहीं रखता, जो इस तत्त्वको नहीं समझता वह मूढ चारित्री नहीं कहा जाता—उसे चारित्रवान् न समझना चाहिए।’

व्याख्या—इस पद्यमें पूर्वपद्यकी बातको पुष्ट करते हुए सारे ही सांसारिक सुखको वस्तुतः दुःख बतलाया है; उसे दुःखसे अविशिष्ट घोषित किया है और यहाँतक लिखा है कि जो मूढ मिथ्यादृष्टि इस तथ्यको नहीं समझता वह चारित्री-व्रती अथवा संयमी नहीं कहा जाता।

पुण्य-पापका भेद नहीं जाननेवाला चारित्रभ्रष्ट

यः पुण्यपापयोर्मूढो विशेषं नावबुध्यते^२ ।
स चारित्रपरिभ्रष्टः संसार-परिवर्धकः ॥३७॥

‘(इसी तरह) जो मूढ पुण्य-पाप दोनोंके विशेष—भेदको अथवा दोनोंमें अविशेष—अभेदको नहीं समझता वह चारित्रसे परिभ्रष्ट है और संसारका परिवर्धक है—भवभ्रमण करनेवाला दीर्घ-संसारी है।’

१. मु समक्षजं । २. आ विशेषमवबुध्यते ।

व्याख्या—यहाँ सांसारिक सुखके कारण पुण्यको ही नहीं किन्तु दुःखके कारण पापको भी साथमें लेकर कहा गया है कि जो इन पुण्य-पाप दोनोंके वास्तविक भेदको नहीं समझता वह अपने चारित्र्यसे भ्रष्ट और संसार-परिभ्रमणको बढ़ानेवाला है। पुण्यके प्रतापसे स्वर्गमें जाकर सागरों-पर्यन्त वह इन्द्रिय-सुख भोगते भी रहा, जिसे पिछले पद्यमें अस्थिर, पीड़क, तृष्णावर्धक और पराधीन आदि कहा गया है, तो उससे क्या होगा ? संसार तो बढ़ेगा ही, बन्धनसे कहीं मुक्ति तो नहीं हो सकेगी। यदि वह भी बन्धन ही रहा तो लोहे-सोनेकी बेड़ीकी तरह बन्धनमें विशेषता क्या रही ? दोनों ही प्रकारके बन्धन संसारमें बाँधे रखनेके लिए समर्थ हैं। इसीसे जो शुद्धबुद्धि-सम्यग्दृष्टि हैं वे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं समझते।

कोन सच्चारित्रका पालनकर्ता हुआ भी कर्मोंसे नहीं छूटता

पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन्नपि ।

वर्तमानः कषायेन कल्मषेभ्यो न मुच्यते ॥३८॥

‘पापारम्भको छोड़कर सच्चारित्ररूप आचरण करता हुआ भी आत्मा यदि कषायके साथ वर्त रहा है—क्रोध-मान-माया-लोभादिकके वशवर्ती होकर वह आचरण कर रहा है—तो वह कर्मोंसे नहीं छूटता—कषायके कारण, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, उसके बराबर कर्मोंका आस्रव-बन्ध होता रहता है।’

व्याख्या—हिंसा, झूठ, चोरी आदिकी जिस मनोवृत्तिको ३०वें पद्यमें अब्रत, अचारित्र कहा है वह सब पापरूप है; क्योंकि पापोंसे विरक्तिका नाम ‘व्रत’ है; जैसा कि मोक्षशास्त्रके ‘हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम्’ इस सूत्र (७-१) से जाना जाता है। इस पद्यमें, कषाय-जनित कर्मास्रवका उल्लेख करते हुए, यह बतलाया है कि पापोंके आरम्भको छोड़कर सच्चारित्रका अनुष्ठान करता हुआ जीव किसी कषायके साथ—चाहे वह शुभ हो या अशुभ—यदि वर्त रहा है तो उसका कर्मोंके आस्रव-बन्धसे छुटकारा नहीं होता—वह अपने कषाय-भावके अनुसार बराबर साम्परायिक आस्रवका अर्जन करता रहता है।

बन्धका कारण वस्तु या वस्तुसे उत्पन्न दोष ?

जायन्ते मोह-लोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः ।

तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुतः ॥३९॥

‘यद्यपि वस्तुके—परपदार्थके—निमित्तसे मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं तथापि कर्मका बन्ध उत्पन्न हुए दोषके कारण होता है—न कि वस्तुके कारण—पर-पदार्थ बन्धका कारण नहीं।’

व्याख्या—यहाँ जिस वस्तुके निमित्तसे आत्मामें काम-क्रोध-लोभादिक दोषोंकी उत्पत्ति होती है उसे आस्रव-बन्धका कारण न बतलाकर उन दोषोंको ही कर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण बतलाया है। यदि जीवके कषायादि परिणामोंको छोड़कर वस्तुके निमित्तसे ही आस्रव-बन्धका होना माना जाय तो फिर किसीका भी बन्धसे छूटना नहीं बन सकता।

१. पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः । विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः ॥—योग० प्रा० ४-४० । २. वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्जवसाणं तु होइ जीवाणं । ण य वत्थुदो दु बंधो अज्जवसाणेण बंधो त्थि । —समयसार २६५ । ३.,४. आ वस्तुतः ।

शुद्ध-स्वात्माकी उपलब्धि किसे होती है

मिथ्याज्ञान-निविष्ट-योग-जनिताः^१ संकल्पना भूरिः
संसार-भ्रमकारिकर्म-समितेरावर्जने या क्षमाः^२ ।
त्यज्यन्ते^३ स्व-परान्तरं गतवता निःशेषतो येन ता-
स्तेनात्मा विगता-ष्टकर्म-विकृतिः संप्राप्यते तत्त्वतः ॥४०॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते
आस्रवाधिकारः ॥ ३ ॥

‘मिथ्याज्ञानपर आधारित-योगोंसे उत्पन्न हुई जो बहुत-सी कल्पनाएँ-वृत्तियाँ संसार-भ्रमण करानेवाले कर्मसमूहके आस्रवमें समर्थ हैं वे स्व-परके भेदको पूर्णतः जाननेवाले जिस (योगी) के द्वारा पूरी तरह त्यागी जाती हैं उसके द्वारा वस्तुतः आठों कर्मोंकी विकृतिसे रहित (शुद्ध) आत्मा प्राप्त किया जाता है—कर्मोंके सारे विकारसे रहित विविक्त आत्माकी उपलब्धि उसी योगीको होती है जो उक्त योगजनित कल्पनाओं एवं कर्मास्रव-मूलक वृत्तियोंका पूर्णतः त्याग करता है ।’

व्याख्या—यह इस आस्रवाधिकारका उपसंहार-पद्य है, जिसमें चौथे योग जनित आस्रव-हेतुओंका दिग्दर्शन कराते हुए यह सूचन किया है कि मिथ्याज्ञानपर अपना आधार रखनेवाली मन-वचन-कायरूप त्रियोगोंकी कल्पनाएँ-प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक हैं और वे सभी संसारमें इस जीवको भ्रमण करानेवाले कर्म-समूहके आस्रवमें समर्थ हैं । जिस स्व-पर-भेद विज्ञानी योगीके द्वारा वे सब मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ त्यागी जाती हैं वह वास्तवमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और आयु इन आठों कर्मोंके विकारों-से रहित अपने शुद्धात्माको प्राप्त होता है, जिसे ‘विविक्तात्मा’के रूपमें ग्रन्थके शुरूसे ही उल्लेखित करते आये हैं और जिसका परिज्ञान तथा प्राप्ति करना ही इस ग्रन्थका एक मात्र लक्ष्य है ।

जिस मिथ्याज्ञानका यहाँ उल्लेख है वह ग्रन्थमें वर्णित ‘मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्व-समकायतः’ इस वाक्यके अनुसार वह दूषित ज्ञान है जो मिथ्यात्वके सम्बन्धको साथमें लिये हुए होता है । और मिथ्यात्व उसे कहते हैं जिसके कारण ज्ञानमें वस्तुका अन्यथा बोध हो—वस्तु जिस रूपमें स्थित है उस रूपमें उसका ज्ञान न होकर विपरीतादिके रूपमें जानना बने—और जो सारे कर्मरूपी बगीचेको उगानेके लिए जलदानका काम करता है ।^४

इस प्रकार श्री अमितगति निःसंगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभृतमें आस्रवाधिकार नामका तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

ॐ

१. अ योगयनिता । २. आ यत्क्षमां । ३. मु ज्ञायन्ते । ४. वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यतः । तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मरामोदयोदकम् ॥—यो० प्रा० १३ ।

बन्धाधिकार

बन्धका लक्षण

पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायतः ।

योगतः स मतो बन्धो जीवास्वातन्त्र्य-कारणम् ॥१॥

‘योग्य पुद्गलोंका कषाययोगसे—कषायसहित मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे—जो ग्रहण है उसको ‘बन्ध’ माना गया है, जो कि जीवकी अस्वतन्त्रता-पराधीनताका कारण है।’

व्याख्या—बन्धके इस लक्षणमें मन-वचन-कायकी कषायरूप-प्रवृत्तिसे जिन पुद्गलोंके ग्रहणका विधान है उनके लिए ‘योग्य’ विशेषणका प्रयोग किया गया है, जिसका यह आशय है कि बन्धके लिए सभी प्रकारके पुद्गल बन्धके योग्य नहीं होते, जो कार्माण-वर्गणाके रूपमें परिणत होकर जीवके साथ बन्धको प्राप्त हो सकते हैं वे ही पुद्गल ग्रहण-योग्य कहलाते हैं। यहाँ ‘ग्रहण’ अर्थमें प्रयुक्त हुआ ‘आदान’ शब्द आस्रवके आगमनार्थसे भिन्न आकर ठहरने-रूप अर्थका वाचक है। यह ठहरना कषायके योगसे होता है, जोकि कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका कारण है। जीव-प्रदेशोंमें पुद्गलकर्मके प्रदेशोंका आकर जो यह एक क्षेत्रावगाह-रूप अवस्थान है—संश्लेष है—उसको ‘बन्ध’ कहते हैं। यह बन्ध, चाहे शुभ हो या अशुभ, जीवकी स्वतन्त्रताका हरण कर उसे पराधीन बनाता है।

प्रकृति-स्थित्यादिके भेदसे कर्मबन्धके चार भेद

प्रकृतिश्च स्थितिर्ज्ञेयः प्रदेशोऽनुभवः परः ।

चतुर्धा कर्मणो बन्धो दुःखोदय-निबन्धनम् ॥२॥

‘कर्मका बन्ध प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभागके भेदसे चार प्रकारका जानना चाहिए, जो कि (आत्मामें) दुःखके उदयका कारण है।’

व्याख्या—बन्धके चार मूल-भेदोंका नामोल्लेख करके समूचे बन्धको यहाँ दुःखोत्पत्ति-का कारण बतलाया है।—सांसारिक सुख भी उस दुःखमें शामिल है; जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। बन्ध जीवकी स्वतन्त्रताका हरण कर उसे पराधीनता प्रदान करनेवाला है और ‘पराधीन सपनेहु सुख नहीं’ यह लोकोक्ति बन्धको दुःखकारक बतलानेके लिए सुप्रसिद्ध है।

चारों बन्धोंका सामान्य रूप

निसर्गः प्रकृतिस्तत्र स्थितिः कालावधारणम् ।

सुसंक्लिप्तिः (क्लृप्तिः) प्रदेशोऽस्ति विपाकोऽनुभवः पुनः ॥३॥

१. सु जीवस्वातन्त्र्यकारणं ।

‘उक्त चार प्रकारके बन्धोंमें स्वभावका नाम ‘प्रकृति’, कालकी अवधिका नाम ‘स्थिति’, सुसंकल्पिका नाम ‘प्रदेश’ और विपाकका नाम अनुभव (बन्ध) है ।’

व्याख्या—यहाँ चारों प्रकारके बन्धोंका सामान्यतः स्वरूप दिया है और वह यह कि जो पुद्गल कर्मरूप होकर जीवके साथ बन्धको प्राप्त होते हैं उनमें गुण-स्वभावके पड़नेको ‘प्रकृतिबन्ध’, कबतक सम्बन्धित रहेंगे इस कालकी अवधिको ‘स्थितिबन्ध’, जीवके प्रदेशोंमें संश्लेषको ‘प्रदेशबन्ध’ और फलदानकी शक्तिको ‘अनुभागबन्ध’ कहते हैं ।

कौन जीव कर्म बाँधता है और कौन नहीं बाँधता

रागद्वेषद्वयालीढः कर्म बध्नाति चेतनः ।

व्यापारं विदधानोऽपि तदपोढो न सर्वथा ॥४॥

‘राग और द्वेष दोनोंसे युक्त हुआ चेतन आत्मा कर्मको बाँधता है । जो राग-द्वेषसे रहित है वह व्यापारको—मन-वचन-कायकी क्रियाको—करता हुआ भी सर्वथा कर्मका बन्ध नहीं करता ।’

व्याख्या—यहाँ बन्धके कारणका निर्देश करते हुए उस जीवात्माको बन्धका कर्ता लिखा है जो राग और द्वेष इन दोसे युक्त है, जो जीवात्मा इन दोसे रहित है वह मन-वचन-कायकी कोई क्रिया करता हुआ भी कभी बन्धको प्राप्त नहीं होता । राग और द्वेष इन दोमें सारा कषाय-नोकषाय चक्र गर्भित है—लोभ, माया, हास्य, रति और त्रिधा काम ये राग रूप हैं और क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) ये छह द्वेषरूप हैं । मिथ्या-दर्शनसे युक्त हुआ राग ही ‘मोह’ कहलाता है ।

पूर्वकथनका उदाहरणों-द्वारा स्पष्टीकरण

सचित्ताचित्त-मिश्राणां कुर्वाणोऽपि निषूदनम् ।

रजोभिल्लिप्यते रूक्षो न तन्मध्ये चरन् यथा ॥५॥

विदधानो विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनम् ।

रागद्वेषद्वयापेतो नैनोभिर्बध्यते तथा ॥६॥

‘जिस प्रकार चिकनाईसे रहित रूक्ष शरीरका धारक प्राणी धूलिके मध्यमें विचरता और सचित्त अचित्त तथा सचित्ताचित्त पदार्थोंका छेदन-भेदनादि करता हुआ भी रजसे लिप्त-धूलसे धूसरित-नहीं होता है, उसी प्रकार राग-द्वेष दोनोंसे रहित हुआ जीव नाना प्रकारके चेतन-अचेतन तथा मिश्र पदार्थोंके मध्यमें विचरता और उनका विनिपातन—छेदन-भेदनादिरूप उप-घात—करता हुआ भी कर्मोंसे बन्धको प्राप्त नहीं होता ।’

व्याख्या—पिछले पद्यके अन्तमें यह बतलाया है कि राग-द्वेषसे रहित हुआ जीव शरीरादिकी अनेक चेष्टाएँ करता हुआ भी कर्मका बन्ध नहीं करता, उसको यहाँ सचिक्कनता-रहित बिलकुल रूक्ष शरीरधारी मानवके दृष्टान्तसे स्पष्ट किया गया है—जिस प्रकार वह मानव धूलिवहुल स्थानके मध्यमें विचरता हुआ और अनेक प्रकारके घात-प्रघातके कार्यों-

१. रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पञ्चधा । मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादिषट् ॥२७॥

को करता हुआ भी धूलिसे धूसरित नहीं होता उसी प्रकार राग-द्वेषसे रहित हुआ जीव कर्म-क्षेत्रमें उपस्थित हुआ अनेक प्रकारकी कायचेष्टादि करता हुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारके बन्धाधिकारमें इस विषयका जो कथन पाँच गाथाओंमें स्पष्ट किया है उस सबका सार यहाँ इन दो पद्योंमें खींचकर रखा गया है।

सर्वव्यापारहीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः ।

रेणुभिव्याप्यते चित्रैः स्नेहाभ्यक्ततनुर्यथा ॥७॥

समस्तारम्भ-हीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः ।

कषायाकुलितस्वान्तो व्याप्यते दुरितैस्तथा ॥८॥

‘जिस प्रकार शरीरमें तैलादिकी मालिश किये हुए पुरुष धूलिसे व्याप्त कर्मक्षेत्रमें बैठा हुआ समस्त व्यापारसे हीन होते हुए भी कर्मक्षेत्रमें स्वयं कुछ काम न करते हुए भी नाना प्रकारकी धूलिसे व्याप्त होता है, उसी प्रकार जिसका चित्त क्रोधादि कषायोंसे आकुलित है वह कर्मके मध्यमें स्थित हुआ समस्त आरम्भोंसे रहित होनेपर भी कर्मोंसे व्याप्त होता है।’

व्याख्या—यहाँ उसी पिछले पद्य (नं० ४) के आदिमें जो यह बतलाया है कि राग और द्वेषसे युक्त हुआ जीव कर्मका बन्ध करता है उसे यहाँ खूब तेलकी मालिश किये हुए सचि-कन देहधारी मनुष्यके दृष्टान्तसे स्पष्ट किया गया है—जिस प्रकार तेलसे लिप्त गात्रका धारक मनुष्य धूलिबहुल कर्मक्षेत्रमें बैठा हुआ स्वयं सब प्रकारकी कायादि चेष्टाओंसे रहित होता हुआ भी धूलिसे धूसरित होता है उसी प्रकार कर्मक्षेत्रमें उपस्थित हुए जिस जीवका चित्त कषायसे अभिभूत है—रागादिरूप परिणत है—वह सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित होनेपर भी कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता है। इस रागादिरूप कषाय भावमें ही वह चेप है जो कुछ न करते हुए भी कर्मको अपनेसे चिपकाता है। इसीसे बन्धका स्वरूप बतलाते हुए अधिकारके प्रारम्भमें ही उसका प्रधान कारण कषाययोग बतलाया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारके बन्धाधिकारके प्रारम्भमें इस विषयका जो कथन गाथा २३७ से २४१ में किया है उसीका यहाँ उक्त दो पद्योंमें सार खींचा गया है।

अमूर्त आत्माका मरणादि करनेमें कोई समर्थ नहीं

फिर भी मारणादिके परिणामसे बन्ध

मरणं जीवनं दुःखं सौख्यं रक्षा निपीडनम् ।

जातु कर्तुममूर्तस्य चेतनस्य न शक्यते ॥६॥

विदधानः परीणामं मारणादिगतं परम् ।

बध्नाति विविधं कर्म मिथ्यादृष्टिर्निरन्तरम् ॥१०॥

‘अमूर्तिक-चेतनात्माका मरण, जीवन, सुख, दुःख, रक्षण और पीड़न करनेके लिए (कोई भी) कभी समर्थ नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव परके मारणादिविषयक परिणाम करता हुआ निरन्तर नाना प्रकारके कर्मोंको बाँधता है।’

१. देखो, समयसार गाथा, नं० २४३ से २४६। २. व्या कर्मममूर्तस्य।

व्याख्या—आस्रवाधिकारमें आस्रवके मिथ्यादर्शनादि चार कारणोंका उल्लेख करते हुए यह सूचित किया जा चुका है कि बन्धके भी ये ही चार कारण हैं, इसीसे इस बन्धाधिकारमें बन्धके कारणोंका अलगसे कोई नामोल्लेख न करके मिथ्यादर्शनादिजन्य बन्धके कार्योंका सकारण निर्देश किया गया है। यहाँ यह बतलाया गया है कि जीव अमूर्तिक है उसके मरने, जीने, सुख-दुःख भोगने, रक्षित-पीडित किये जाने-जैसे कार्योंको कोई भी वस्तुतः कभी करनेमें समर्थ नहीं है, यह एक सिद्धान्तकी बात है।

इसके विपरीत जिसका श्रद्धान है वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव वस्तुतत्त्वको न समझनेपर दूसरे जीवको मारने-जिलाने आदिका जो परिणाम (भाव) करता रहता है उससे वह निरन्तर नाना प्रकारके कर्म-बन्धनोंसे अपनेको बाँधता रहता है। उन बन्धनोंमें शुभ भावोंसे बाँधे बन्धन शुभ और अशुभ भावोंसे बाँधे बन्धन अशुभ होते हैं।

यहाँ मरण, जीवन, दुःख, सौख्य, रक्षा और निपीडन इन छह कार्योंका संक्षेपसे उल्लेख है, इनके साधनों, प्रकारों और इनसे मिलते-जुलते दूसरे कार्योंको भी उपलक्षणसे इनमें शामिल समझना चाहिए।

मरणादिक सब कर्म-निमित्त; अन्य कोई करने-हरनेमें समर्थ नहीं

कर्मणा निर्मितं सर्वं मरणादिकमात्मनः^१ ।

कर्मावितरतान्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यते ॥११॥

‘आत्माका मरणादिक सब कार्य कर्म-द्वारा निर्मित है, कर्मको न देनेवाले दूसरेके द्वारा उसका करना-हरना नहीं बन सकता।’

व्याख्या—पिछले पद्य ९ में जीवके जिन मरणादिक कार्योंका उल्लेख है उन सबको इस पद्यमें कर्मनिर्मित बतलाया है; जैसे मरण आयुर्कर्मके क्षयसे होता है—^२ आयुर्कर्मके उदयसे जीवन बनता है^३, साता वेदनीय कर्मका उदय सुखका और असाता वेदनीय कर्मका उदय दुःखका कारण होता है। जब एक जीव दूसरे जीवको कर्म नहीं देता और न उसका कर्म लेता है तो फिर वह उस जीवके कर्म-निर्मित कार्यका कर्ता-हर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। और इसलिए अपनेको कर्ता-हर्ता मानना मिथ्याबुद्धि है, जो बन्धका कारण है।

जिलाने-मारने आदिकी सब बुद्धि मोह-कल्पित

या ‘जीवयामि जीव्येऽहं मार्येऽहं मारयाम्यहम् ।

‘निपीडये निपीड्येऽहं’ सा बुद्धिर्मोहकल्पिता ॥१२॥

‘मैं जिलाता हूँ-जिलाया जाता हूँ, मारता हूँ-मारा जाता हूँ, पीड़ित करता हूँ-पीड़ित किया जाता हूँ, यह जो बुद्धि है वह मोह-निर्मित है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें मिथ्यादृष्टिकी जिस बुद्धिका सूचन है, उसीका इस पद्यमें स्पष्टीकरण है और उसे ‘मोहकल्पिता’-दर्शन मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्मके उदय-द्वारा

१. मु व्या मरणादिकमात्मनः । आ मरणादिगतमात्मनः । २. आउक्त्वयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहि पणत्तं । २४८-४९ समयसार । ३. आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू । २५१-५२ समयसार । ४. मु निपीड्येऽहं निपीडये ।

निर्मित बतलाया है। अतः मैं दूसरेको जिलाता या मारता हूँ, दूसरा मुझे जिलाता या मारता है, इस प्रकारकी बुद्धिसे जो शुभ या अशुभ कर्म बन्ध होता है उसे मिथ्यात्वजन्य समझना चाहिए। ऐसी बुद्धिवाले जीवको श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें 'सो मूढो अण्णाणी' इस वाक्यके द्वारा मूढ (मिथ्यादृष्टि) और अज्ञानी (अविवेकी) बतलाया है। और उसके-परके मारने-जिलाने, दुःखी-सुखी करने, परके द्वारा मारे जाने-जिलायेजाने, सुखी-दुःखी किये जानेकी बुद्धिको आयुकर्मादिके न देने न हरने आदिके कारण निरर्थक, मिथ्या तथा मूढमति बतलाया है और पुण्य-पापके बन्धकी करनेवाली लिखा है। साथ ही जीवन-मरण, सुख-दुःखादिका होना कर्मके उदयवश बतलाया है। इस विषयकी १४ गाथाएँ २४८ से २६१ तक विस्तार रुचिवालोंको समयसारमें देखने योग्य हैं, जिनका सारा विषय संक्षेपतः यहाँ पद्य ९ से १२ तक आ गया है। यह सब कथन निश्चय नयकी दृष्टिसे है।^१ व्यवहार नयकी दृष्टिसे जिलाना, मारना, सुखी, दुःखी करना आदि कहनेमें आता है।

यहाँ तथा अन्यत्र जिसे 'बुद्धि' शब्दसे, १०वें आदि पद्योंमें 'परिणाम' शब्दसे और कहीं 'भाव' तथा 'मति' शब्दोंसे उल्लेखित किया है उसीके लिए समयसारमें अध्यवसान, विज्ञान, व्यवसाय और चिन्ता शब्दोंका भी प्रयोग किया गया है। और सबको एक ही अर्थके वाचक बतलाया है; जैसा कि उसकी निम्नगाथासे प्रकट है:—

बुद्धी ववसाओ वि य अज्ज्ञवसाणं मई य विण्णाणं ।

एकट्टमेव सट्ठं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥

कोई किसीके उपकार-अपकारका कर्ता नहीं, कर्तृत्व बुद्धि मिथ्या

कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः ।

उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति क्रियते मतिः ॥१३॥

सहकारितया द्रव्यमन्ये^३ नान्यद् विधीयते

क्रियमाणोऽन्यथा सर्वः संकल्पः कर्म-बन्धजः ॥१४॥

'कोई भी किसीके उपकार-अपकारका कर्ता नहीं है। मैं दूसरेका उपकार करता हूँ, अपकार करता हूँ, यह जो बुद्धि की जाती है वह मिथ्या है। सहकारिताकी दृष्टिसे एक पदार्थ दूसरेके द्वारा अन्य रूपमें किया जाता है। अन्यथा क्रियमाण-करने-कराने रूप-जो संकल्प है वह सब कर्मबन्धसे उत्पन्न होता है—कर्मके उदय जन्य है।'

व्याख्या—यहाँ पूर्वोल्लेखित बुद्धियोंसे भिन्न एक-दूसरे प्रकारकी बुद्धिका उल्लेख है और वह है दूसरेका उपकार या अपकार करनेकी बुद्धि, इस बुद्धिको भी यहाँ मिथ्या बतलाया है और साथ ही यह निर्देश किया है कि वस्तुतः कोई भी जीव किसीका उपकार या अपकार नहीं करता है। तब यह उपकार-अपकारकी जो मान्यता है वह भी व्यवहारनयके आश्रित है। वास्तवमें एक पदार्थ दूसरे पदार्थके निमित्तसे अन्यथा रूप हो जाता है—पर्यायसे पर्यायान्तरको धारण करता है—अन्यथा रूप करने-करानेका जो संकल्प जीवमें उत्पन्न होता है वह सब कर्मबन्धके कारण-तद्रूप बँधे हुए कर्मके उदयमें आनेके निमित्तसे-होता है।

१. ऐसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥—समयसार । २. ण य कोवि देदि लच्छो ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं । उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥३१९॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

३. व्या द्रव्यमनेन ।

प्रत्येक जीवका उपकार या अपकार उसके अपने बाँधे शुभ या अशुभ कर्मके उदयाश्रित है; जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षाके 'उवयारं अवयारं कम्मं च सुहासुहं कुणदि' इस वाक्यसे भी जाना जाता है।

चारित्रादिकी मलिनताका हेतु मिथ्यात्व

**चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन मलीमसम् ।
कर्पटं कर्दमेनेव क्रियते निज-संगतः ॥१५॥**

'जिस प्रकार कपड़ा कीचड़के द्वारा अपने संगसे मैला किया जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वके द्वारा अपने संगसे चारित्र, दर्शन तथा ज्ञान मलिन किया जाता है।'

व्याख्या—पिछले पद्योंमें तथा इससे पूर्वके आस्रवाधिकारमें भी बुद्धि आदिके रूपमें जिस ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रको सदोष बतलाया है उसकी सदोषताके कारणको इस पद्यमें स्पष्ट किया गया है और वह है मिथ्यात्वका सम्बन्ध, जिसे यहाँ कर्दम-कीचड़की उपमा दी गयी है। कीचड़के सम्बन्धसे जिस प्रकार वस्त्र मैला हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्मके उदयका निमित्त पाकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र सदोष हो जाते हैं।

मलिन चारित्रादि दोषके ग्राहक हैं

**चारित्रादि त्रयं दोषं स्वीकरोति मलीमसम् ।
न पुनर्निर्मलीभूतं सुवर्णमिव तत्त्वतः ॥१६॥**

'वस्तुतः मलिन चारित्र, मलिन दर्शन तथा मलिन ज्ञान दोषको स्वीकार करता है परन्तु जो चारित्र दर्शन तथा ज्ञान निर्मलीभूत हो गया है—पूर्णतः निर्मल हो गया है—वह दोषको उसी प्रकार ग्रहण नहीं करता जिस प्रकार कि किट्ट-कालिमासे रहित हुआ सुवर्ण फिरसे उस किट्ट-कालिमाको ग्रहण नहीं करता।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें मिथ्यात्वके योगसे ज्ञान-दर्शन-चारित्रका सदोष होना बतलाया है तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र मलका संग त्याग कर पूर्णतः निर्मल हो गया है वह भी क्या पुनः मिथ्यात्वके योगसे मलिन हो जाता है? इसीके समाधानार्थ इस पद्यका अवतार हुआ जान पड़ता है। इसमें बतलाया है कि जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र मलिन है—कुछ भी मलसे युक्त है अथवा सत्तामें मलको लिये हुए है—वही वस्तुतः दोषको स्वीकार करता है—दूसरे मलको ग्रहण करता अथवा मलरूप परिणत होता है—मलसे ही मलकी परिपाटी चलती है—जो पूर्णतः निर्मल हो गया है वह फिर मिथ्यात्वके संगसे—चारों ओर मिथ्यात्वका वातावरण होते हुए भी—मलिन नहीं होता उसी प्रकार जिस प्रकार कि पूर्णतः निर्मल हुआ स्वर्ण दिन-रात कीचड़में पड़ा रहनेपर भी फिरसे उस किट्ट-कालिमाको ग्रहण नहीं करता। इसीमें मुक्तिका तत्त्व छिपा हुआ है—जिन जीवोंका दर्शन-ज्ञान-चारित्र पूर्णतः निर्मल हो जाता है वे फिरसे भव धारण कर अथवा अवतार लेकर संसार-भ्रमण नहीं करते—सदाके लिए भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं।

अप्रासुक द्रव्यको भोगता हुआ भी वीतरागी अबन्धक
नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुञ्जानोऽपि न बध्यते ।
शङ्खः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि ॥१७॥

‘जो वीतराग है वह अप्रासुक द्रव्यको भोगता-सेवन करता हुआ भी बन्धको प्राप्त नहीं होता । (ठीक है) कर्दमादिकमें विचरता हुआ भी शंख क्या काला हो जाता है ? - नहीं होता, शुक्ल ही बना रहता है ।’

व्याख्या—इस अधिकारके प्रारम्भमें ही कषाय तथा राग-द्वेषको बन्धका प्रमुख कारण बतला आये हैं, यहाँ उसी विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो योगी वीतराग है—अनासक्त है—वह अप्रासुक-सचित्त पदार्थका भोजन करते हुए भी कर्म बन्धको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि धवल शंख कर्दमादिकमें विचरता हुआ भी कृष्ण काला नहीं हो जाता ।

न भोगता हुआ भी सरागी पापबन्धक

सरागो बध्यते पापैरभुञ्जानोऽपि निश्चितम् ।
अभुञ्जाना न किं मत्स्याः श्वभ्रं यान्ति कषायतः ॥१८॥

‘न भोगता हुआ भी सरागी जीव पापोंसे—कर्मोंसे—बन्धको प्राप्त होता है यह निश्चित है । (ठीक है) न भोगनेवाले (तन्दुलादिक) मत्स्य क्या कषाय परिणामसे—भोगनेकी लालसासे नरकको प्राप्त नहीं होते ?—होते ही हैं ।

व्याख्या—पिछले पद्यमें नीरागीको सचित्त भोजन करते हुए भी अबन्ध्य बतलाया है और इस पद्यमें सरागीके सचित्त भोजन न करते हुए भी सुनिश्चित रूपसे पापोंके बन्धका पात्र ठहराया है, उसी प्रकार जिस प्रकार राघव नामके बहुत बड़े मच्छकी आँखोंपर बैठे हुए छोटे-छोटे तन्दुलमच्छ राघव मच्छके मुँहमें साँसके साथ प्रवेश करते और निःश्वासके साथ बाहर निकलती हुई अनेक छोटी-बड़ी मछलियोंको देखकर यह कषाय-भाव करते हैं कि यह मूर्ख मच्छर अपना मुँह बन्द करके मुखमें प्रविष्ट हुई मछलियोंको चबा क्यों नहीं जाता—बाहर क्यों निकलने देता है । इतने कषायभावसे ही, बिना उन मछलियोंका भोजन किये, वे तन्दुलमच्छ नरकमें जाते हैं, ऐसा आगममें उल्लेख है ।

विषयोंका संग होनेपर भी ज्ञानी उनसे लिप्त नहीं होता

ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते ।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ॥१९॥

‘जो ज्ञानी है वह विषयोंका संग होनेपर भी उनसे लिप्त नहीं होता (उसी प्रकार जिस प्रकार कि) मलोंके मध्यमें पड़ा हुआ सुवर्ण (सोना) मलोंसे लिप्त नहीं होता—मलोंको आत्म-प्रविष्ट नहीं करता ।

व्याख्या—यहाँ जिस ज्ञानीका उल्लेख है वह वही है जो नीरागी है । अध्यात्मभाषामें वह ज्ञानी ही नहीं माना जाता जो रागमें आसक्त है । ऐसे ज्ञानी योगीकी विषयोंका संग

१. व्या पापैरङ्जानोऽपि । २. सु श्वभ्रे ।

उपस्थित होनेपर भी उनमें प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मलके मध्यमें पड़ा होनेपर भी शुद्ध सुवर्ण मलको ग्रहण नहीं करता ।

नीरागी योगी परकृतादि आहारादिसे बन्धको प्राप्त नहीं होता

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कृतैः ।

तदर्थं बध्यते योगी नीरागो न कदाचन ॥२०॥

‘रागरहित योगी उसके लिए दूसरेके द्वारा किये, कराये तथा अनुमोदित हुए आहारादि-कोंसे कदाचित् बन्धको प्राप्त नहीं होता ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस विषय-संगका उल्लेख है उसीको यहाँ आहारादिके रूपमें स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जो आहार-औषध-वस्तिकादिक किसी योगीके लिए बनाया-बनवाया अथवा अनुमोदना किया गया है उससे वह योगी कभी भी आरम्भादि जन्य बन्ध-फलका भागी नहीं होता जो नीरागी है—उस आहारादिकमें राग-रहित है । और इसलिए जो वैसे कृत-कारित-अनुमोदित-विषयोंमें राग-सहित प्रवर्तता है वह अवश्य ही आरम्भादि जन्य पाप फलका भागी होता है—रागके कारण वह भी उस करने-कराने आदिमें शामिल हो जाता है ।

परद्रव्यगत दोषसे नीरागीके बंधनेपर दोषापत्ति

परद्रव्यगतैर्दोषैर्नीरागो यदि बध्यते ।

तदानीं जायते शुद्धिः कस्य कुत्र कुतः कदा ॥२१॥

‘परद्रव्याश्रित दोषोंके कारण यदि वीतराग भी बन्धको प्राप्त होता है तो फिर किसकी कब कहाँ और कैसे शुद्धि हो सकती है ?—नहीं हो सकती ।’

व्याख्या—योगी-मुनिके लिए आहारादि बनाने-बनवाने-अनुमोदना करनेमें जिस आरम्भादि-जनित दोषकी पिछले पद्यमें सूचना है उसे यहाँ ‘पर-द्रव्याश्रित दोष’ बतलाया है और साथ ही यह निर्देश किया है कि ऐसे परद्रव्याश्रित दोषोंसे यदि नीरागी योगी भी बन्धको प्राप्त होने लगे तो फिर किसी जीवकी भी किसी कालमें किसी स्थानपर और किसी भी प्रकार शुद्धि नहीं बन सकती । अपने आत्मामें अशुद्धि अपने द्रव्यगत रागादि दोषोंसे होती है—परद्रव्यगत दोषोंसे नहीं । अतः दोष कोई करे और उस दोषसे बन्धको कोई दूसरा ही प्राप्त हो इस भ्रान्त-धारणाको छोड़ देना चाहिए । प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ भावोंके अनुसार शुभ-अशुभ बन्धको प्राप्त होता है, यह अटल नियम है ।

वीतराग योगी विषयको जानता हुआ भी नहीं बंधता

नीरागो विषयं योगी बुध्यमानो न बध्यते ।

परथा बध्यते किं न केवली विश्ववेदकः ॥ २२॥

‘जो वीतराग योगी है वह विषयको जानता हुआ कर्मबन्धको प्राप्त नहीं होता । यदि विषयोंको जाननेसे कर्मबन्ध होता है तो विश्वका ज्ञाता केवली बन्धको प्राप्त क्यों नहीं होता?’

व्याख्या—परद्रव्यगत दोषोंसे तथा इन्द्रिय-विषयोंके संगसे जब वीतरागी ज्ञानी बन्धको प्राप्त नहीं होता तब उन्हें जानता हुआ तो वह बन्धको कैसे प्राप्त होगा? यह बात यद्यपि पूर्व पद्योंपर-से फलित होती है फिर भी यहाँ उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि विषयोंको जानता हुआ वीतरागी योगी बन्धको प्राप्त होता है तो फिर विश्वका ज्ञाता-विश्वके सब पदार्थोंकी खुली-ढकी सारी अवस्थाओंको जाननेवाला-केवली भगवान् बन्धको प्राप्त क्यों नहीं होगा? उसे भी तब बन्धको प्राप्त हो जाना चाहिए। अतः केवल जानने-से बन्धकी प्राप्ति नहीं होती।

ज्ञानी जानता है वेदता नहीं, अज्ञानी वेदता है जानता नहीं

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च ।

अज्ञानिना पुनः सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च ॥२३॥

‘ज्ञानीके द्वारा समस्त वस्तु-समूह जाना जाता है किन्तु वेदन नहीं किया जाता और अज्ञानीके द्वारा सकल वस्तुसमूह वेदन किया जाता है किन्तु जाना नहीं जाता।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जानने मात्रसे बन्धके न होने रूप जिस बातका उल्लेख किया है उसके सिद्धान्तको इस पद्यमें दर्शाया है और वह यह है कि ज्ञानी-वीतरागीके द्वारा संपूर्ण द्रव्य-समूह जाना तो जाता है किन्तु वेदन नहीं किया जाता और अज्ञानी सरागीके द्वारा समस्त द्रव्य-समूह वेदन तो किया जाता है परन्तु जाना नहीं जाता।

ज्ञान और वेदनमें स्वरूप-भेद

यथावस्तु परिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते ।

राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः ॥२४॥

‘जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसी रूपमें उसके परिज्ञानको ज्ञानियोंके द्वारा ‘ज्ञान’ कहा गया है और जो परिज्ञान (जानना) राग-द्वेष-मद-क्रोधादि कषायोंसे युक्त है उसका नाम ‘वेदन’ है।’

व्याख्या—यद्यपि ‘ज्ञान’ और ‘वेदन’ दोनों शब्द सामान्यतः जानने रूप एकार्थक हैं परन्तु पूर्व पद्यमें ज्ञान और वेदनको शब्द-भेदसे नहीं किन्तु अर्थभेदसे भी भेदरूप उल्लेखित किया है, वह अर्थभेद क्या है उसको बतलानेके लिए ही इस पद्यमें दोनोंका लक्षण दिया है। ज्ञानका लक्षण ‘यथावस्तु-परिज्ञान’ दिया है, जिसका आशय है बिना किसी मिश्रण अथवा मेल-मिलापके वस्तुका यथावस्थितरूपमें शुद्ध (खालिस) जानना ‘ज्ञान’ है और ‘वेदन’ उस जाननेको कहते हैं जिसके साथमें राग-द्वेष, अहंकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सादि विकार भाव मिल जायें। अर्थात् किसी वस्तुके देखते ही इनमें-से कोई विकार भाव उत्पन्न हो जाय, उस विकारके साथ जो उसका जानना है-अनुभव है-वह ‘वेदन’ कहलाता है।

अज्ञानमें ज्ञान और ज्ञानमें अज्ञान-पर्याय नहीं हैं

नाज्ञाने ज्ञान-पर्यायाः ज्ञाने नाज्ञानपर्यायाः ।

न लोहे स्वर्ण-पर्याया न स्वर्णे लोह-पर्यायाः ॥२५॥

‘अज्ञानमें ज्ञानकी पर्यायें और ज्ञानमें अज्ञानकी पर्यायें(उसी प्रकार) नहीं होतीं (जिस प्रकार) लोहेमें स्वर्णकी पर्यायें और स्वर्णमें लोहेकी पर्यायें नहीं होतीं ।’

व्याख्या—यहाँ ‘अज्ञान’ शब्दसे जिसका ग्रहण है वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच अचेतनात्मक द्रव्योंका समूह है, इनमें-से किसी भी द्रव्यमें ज्ञानकी पर्यायें नहीं होतीं, उसी प्रकार जिस प्रकार लोहेमें सुवर्णकी पर्यायें नहीं होतीं । और ‘ज्ञान’ शब्दसे जिसका ग्रहण है वह है चेतनात्मक ‘जीव’ द्रव्य, इसमें अजीव द्रव्योंमें-से किसीकी कोई पर्याय नहीं होती । यह एक तात्त्विक सिद्धान्तका निर्देश है और इस बातको सूचित करता है कि ये सब चेतन-अचेतन द्रव्य चाहे जितने काल तक परस्परमें मिलें-जुलें, सम्पर्क-सम्बन्ध अथवा बन्धको प्राप्त रहें; परन्तु वस्तुतः कोई भी चेतन द्रव्य कभी अचेतन और अचेतन द्रव्य कभी चेतन नहीं होता । इस सिद्धान्तके विपरीत जो कुछ प्रतिभास होता है वह सब स्फटिकमें रंगके समान संसर्ग-दोषके कारण मिथ्या है ।

अथवा अज्ञानसे यहाँ पूर्व पद्यमें प्रयुक्त वह वेदन विवक्षित है जो राग-द्वेषादि विकारोंसे अभिभूत होता है, उसमें शुद्ध ज्ञानकी पर्यायें नहीं होतीं, और ज्ञानसे वह शुद्ध ज्ञान विवक्षित है जिसमें अशुद्ध ज्ञान (वेदन) की पर्यायें नहीं होतीं ।

ज्ञानी कर्मणोका अबन्धक और अज्ञानी बन्धक होता है

ज्ञानीति ज्ञान-पर्यायी कर्मणामबन्धकः ।

अज्ञश्चाज्ञान-पर्यायी तेषां भवति बन्धकः ॥२६॥

‘जो ज्ञानी है वह ज्ञान-पर्यायी है—ज्ञानरूप परिणमनको लिये हुए है—इसलिए कर्म-णोका—कषायादि रूप कर्मोका—अबन्धक होता है । जो अज्ञानी है वह अज्ञानपर्यायी है—अज्ञानरूप परिणमनको लिये हुए है—और इसलिए कषायादि कर्मोका बन्धक होता है ।’

व्याख्या—उक्त सिद्धान्तके अनुसार जो जीव शुद्ध ज्ञानी है वह ज्ञान-पर्यायी होनेसे कर्मोका बन्धक नहीं होता और जो जीव अज्ञानरूप पुद्गल-कर्मके सम्बन्धसे शुद्ध ज्ञानी न रहकर अज्ञानी है वह ज्ञान-पर्यायी न होनेसे कर्मोका बन्धक होता है ।

कर्मफलको भोगनेवाले ज्ञानी-अज्ञानीमें अन्तर

दीयमानं सुखं दुःखं कर्मणा पाकमीयुषा ।

ज्ञानी वेत्ति परो भुङ्क्ते बन्धकाबन्धकौ ततः ॥२७॥

‘पाकको प्राप्त हुए कर्मके द्वारा जो सुख तथा दुःख दिया जाता है उसे ज्ञानी जानता है और अज्ञानी भोगता है । इसीसे अज्ञानी कर्मका बन्धक और ज्ञानी अबन्धक होता है ।’

व्याख्या—जो जीव अज्ञानी होकर जिस कर्मको बाँधता है वह कर्म परिपक्व होकर उदय-कालमें सुख या दुःखको देता है—कर्म शुभ है तो सुख फलको और अशुभ है तो दुःख फलको देता है—उस कर्म-प्रदत्त सुख-दुःखको ज्ञानी तो जानता है परन्तु अज्ञानी उसे भोगता है—राग-द्वेषादि-रूप परिणत होता है । इसीसे एक रागादिक-रूप परिणत होनेवाला अज्ञानी नये कर्मोका बन्धक और दूसरा—समता-भाव धारण करनेवाला ज्ञानी—नये कर्मोका बन्ध न करनेवाला होता है । उदयमें आया हुआ कर्म अपना फल देता ही है, उसे ज्ञानी भी भोगता है और अज्ञानी भी, ऐसा-लोक-व्यवहार है; फिर यहाँ अज्ञानीको ही भोक्ता क्यों

कहा ? इसका कारण यह है कि ज्ञानी तो जलमें कमलकी तरह अलिप्त रहता है इसीलिए निश्चयसे भोगता हुआ भी अभोक्ता है और अज्ञानी उस भोगमें रागी-द्वेषी अथवा मोही होकर प्रवर्तता है इसलिए वस्तुतः वही भोक्ता है और वही नया कर्म बाँधता है। यही आशय श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारकी निम्न गाथामें व्यक्त किया है:—

उदयगदा कम्मसा जिणवरवसहेण णियदसणा भणिया ।
तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुह्वादि ॥

कर्म ग्रहणका तथा सुगति-दुर्गति-गमनका हेतु

‘कर्म गृह्णाति संसारी कषाय-परिणामतः ।
सुगतिं दुर्गतिं याति जीवः कर्म-धिपाकतः ॥२८॥

‘संसारी जीव कषाय-रूप परिणामसे कर्मको ग्रहण करता है—बाँधता है (और) कर्मके फलसे सुगति तथा दुर्गतिको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—संसारी जीव कर्मोंसे युक्त होता है, किसी भी कर्मके उदयकालमें अथवा पर-पदार्थोंके संसर्गमें आनेसे जब वह शुभ या अशुभ कषायरूप परिणमन करता है तो शुभ या अशुभ कर्मको ग्रहण करता है—अपने साथ बाँधता है—उस कर्मके बन्धकी स्थितिके अनुसार जब फलकाल आता है तो उससे जीव सुगति या दुर्गतिको जाता है। शुभ कर्मका फल जो सुख-भोग है वह प्रायः सुगतिमें और अशुभ कर्मका फल जो दुःख-भोग है वह प्रायः दुर्गतिमें प्राप्त होता है।

संसार-परिभ्रमणका हेतु और निर्वृत्तिका उपाय

‘सुगतिं दुर्गतिं प्राप्तः स्वीकरोति कलेवरम् ।
तत्रेन्द्रियाणि जायन्ते गृह्णाति^१ विषयांस्ततः ॥२९॥
ततो भवन्ति रागाद्यास्तेभ्यो दुरित-संग्रहः ।
तस्माद् भ्रमति संसारे ततो दुःखमनेकधा ॥३०॥
दुःखतो विभ्यता त्याज्याः कषायाः ज्ञान-शालिना ।
ततो दुरित-विच्छेदस्ततो निर्वृति-सङ्गमः ॥३१॥

‘सुगति तथा दुर्गतिको प्राप्त हुआ जीव शरीर ग्रहण करता है, उस शरीरमें इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियद्वारसे विषयोंको ग्रहण करता है, विषयोंके ग्रहणसे रागादिक उत्पन्न होते हैं, रागादिकसे शुभाशुभ रूप कर्मोंका संचय होता है और उस कर्मसंचयके कारण संसारमें भ्रमण करता है, जिससे अनेक प्रकारका दुःख प्राप्त होता है। अतः दुःखसे भयभीत ज्ञानशाली जीवात्माके द्वारा कषायें त्यागने योग्य हैं, उनके त्यागसे कर्मोंका विनाश होता है और कर्मोंके विनाशसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।’

१. जो खलु संसारत्थो जीवो तन्नो दु होदि परिणामो । परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि-सुगदी ॥१२८॥—पञ्चास्ति० । २. गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायन्ते । ते हि दु विसय-गग्रहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥ जायदि जीवस्सेवं भावो संसारवक्कवाल्मि । इदि जिणवरेहि भणियो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥—पञ्चास्ति० । ३. आ गृह्णाति, व्या गृह्णाति ।

व्याख्या—पिछले पद्यमें कर्मफलसे जिस सुगति या दुर्गतिको जानेकी बात कही गयी है उसको प्राप्त होकर यह जीव नियमसे देह धारण करता है—चाहे वह देव, मनुष्य तिर्यचादि किसी भी प्रकारकी क्यों न हो; देहमें इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है—चाहे एक स्पर्शन इन्द्रिय ही क्यों न हो; इन्द्रियोंसे उनके विषयों स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्दका ग्रहण होता है; विषयोंके ग्रहणसे राग-द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेषादिकी उत्पत्तिसे पुनः कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धके फलस्वरूप पुनः गति, सुगति, देह, इन्द्रिय विषय-ग्रहण, राग-द्वेष और पुनः कर्मबन्धादिके रूपमें संसार-परिभ्रमण होता है और इस संसार-परिभ्रमणसे अनेकानेक प्रकारके दुःखोंको सहन करना पड़ता है, जिन सबका वर्णन करना अशक्य है। अतः जो दुःखोंसे उरते हैं, उन ज्ञानी-जनोंको कर्मबन्धके कारणीभूत क्रोधादि कषायों तथा हास्यादि नोकषायोंका त्याग करना चाहिए। उनको त्यागनेसे पिछला कर्म-बन्धन टूटेगा तथा नये कर्मका बन्धन नहीं होगा। और ऐसा होनेसे मुक्तिका संगम सहज ही प्राप्त होगा, जो स्वात्मोत्थित, स्वाधीन, परनिक्षेप, अतीन्द्रिय, अनन्त, अविनाशी और निर्विकार उस परम सुखका कारण है जिसकी जोड़का कोई भी सुख संसारमें नहीं पाया जाता। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने ऐसे सुखी महात्माको 'अभवदभवसौख्यवान् भवान्' वाक्यके द्वारा 'अभव-सौख्यवान्' बतलाया है।

रागादिसे युक्त जीवका परिणाम

सन्ति रागादयो यस्य सचित्ताचित्त-वस्तुषु ।

प्रशस्तो वाप्रशस्तो वा परिणामोऽस्य जायते ॥३२॥

'जिस जीवके चेतन-अचेतन-वस्तुओंमें रागादिक होते हैं उसके प्रशस्त (शुभ) या अप्रशस्त (अशुभ) परिणाम उत्पन्न होता है।'

व्याख्या—जिन राग-द्वेषादिको पहले बन्धका कारण बतला आये हैं, उनसे पुण्य-पापके बन्धकी बातको स्पष्ट करते हुए यहाँ इतना ही बतलाया है कि जिस जीवके भी चेतन-अचेतन पदार्थोंमें रागादिक विद्यमान हैं उसका परिणाम प्रशस्त या अप्रशस्त रूप जरूर होता है।

कौन परिणाम पुण्य, कौन पाप, दोनोंकी स्थिति

प्रशस्तो भण्यते तत्र पुण्यं पापं पुनः परः ।

द्वयं पौद्गलिकं मूर्तं सुख-दुःख-वितारकम् ॥३३॥

'उन दो प्रकारके परिणामोंमें प्रशस्त परिणामको 'पुण्य' और अप्रशस्त परिणामको 'पाप' कहा जाता है, दोनों पुण्य-पापरूप परिणाम पौद्गलिक हैं, मूर्तिक हैं और (क्रमशः) सांसारिक सुख-दुःखके दाता हैं।'

व्याख्या—यहाँ प्रशस्त और अप्रशस्त-परिणामोंके अलग-अलग नामोंका उल्लेख है—प्रशस्त परिणामोंको 'पुण्य' और अप्रशस्त परिणाम (भाव) को 'पाप' बतलाया है; क्योंकि ये दोनों क्रमशः पुण्य-पाप-बन्धके कारण हैं। कारणमें यहाँ कार्यका उपचार किया गया है और इससे दोनोंको पौद्गलिक, मूर्तिक तथा यथाक्रम सुख-दुःखके प्रदाता लिखा है। पुण्य-

१. देखो, स्वयम्भूस्तोत्रका मुनिसुव्रत-स्तोत्र।

पापका 'सुख-दुःख-वितारकम्' विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जो सुख-दुःख वितरणका कारण होता है वह सुख-दुःख कार्यके पूर्वक्षणमें विद्यमान रहता है, तभी वह उपादान कारणके रूपमें कार्यको उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है; अन्यथा प्रशस्त या अप्रशस्त-परिणाम तो उत्पन्न होकर नष्ट हो गया, कार्योत्पत्तिके समय वह विद्यमान नहीं है तब उस परिणामसे सुख-दुःख कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ? नहीं हो सकता । सुख-दुःखके प्रदाता वे पुण्य-पापरूप द्रव्यकर्म होते हैं जो उक्त परिणामोंके निमित्तसे उत्पन्न होकर स्थितिवन्धके द्वारा फलदानके समय तक जीवके साथ रहते हैं और तभी परिणामोंका फल-कार्य सम्पन्न होता है ।

पुण्य-पाप-फलको भोगते हुए जीवकी स्थिति

**मूर्तो^१ भवति भुञ्जानः सुख-दुःखफलं तयोः ।
मूर्तकर्मफलं मूर्तं नामूर्तेन हि भुज्यते ॥३४॥**

'उन दोनों पुण्य-पापरूप परिणामोंके सुख-दुःख फलको भोगता हुआ यह जीव मूर्तिक होता है; क्योंकि मूर्तिक कर्मका फल मूर्तिक होता है और वह अमूर्तिक-द्वारा नहीं भोगा जाता ।'

व्याख्या—पुण्य तथा पाप दोनों द्रव्यकर्म पौद्गलिक-मूर्तिक हैं, उनके दिये हुए सुख-दुःख फलको, जो कि मूर्तिकजन्य होनेसे मूर्तिक होता है, अमूर्तिक आत्मा कैसे भोगता है ? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर इतना ही है कि पुण्य-पाप फलको भोगता हुआ जीव मूर्तिक होता है । कर्म-फलको भोगनेवाले सब जीव संसारी होते हैं और संसारी जीव अनादि कर्म-सम्बन्धके कारण मूर्तिक कहे जाते हैं ।

पुण्य-पापके वश अमूर्त भी मूर्त हो जाता है

**मूर्तो भवत्यमूर्तोऽपि पुण्यपापवशीकृतः ।
यदा विमुच्यते ताभ्याममूर्तोऽस्ति तदा पुनः ॥३५॥**

'पुण्य-पापके वशीभूत हुआ अमूर्तिक जीव भी मूर्तिक हो जाता है । और जब उन पुण्य-पाप दोनोंसे छूट जाता है तब अमूर्तिक रह जाता है ।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें अमूर्तिक जीवके मूर्तिक होनेकी जो बात कही गयी है उसीको इस पद्यमें स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मूर्तिक पुण्य-पापके वशमें—बन्धनमें—पड़ा हुआ जीव वस्तुतः अमूर्तिक होते हुए भी मूर्तिक होता है और जब उन दोनोंके बन्धनसे छूट जाता है तब स्वरूपमें स्थित हुआ स्वयं अमूर्तिक हो जाता है । इससे जीवका संसारावस्थारूप जितना भी विभाव परिणमन है वह सब उसे मूर्तिक बनाता है ।

उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण

**विकारं नीयमानोऽपि कर्मभिः सविकारिभिः ।
मेघैरिव नभो याति स्वस्वभावं तदत्यये ॥३६॥**

'विकारी कर्मोंके द्वारा विकारको प्राप्त हुआ भी यह जीव उस विकारके नाश होनेपर उसी

१. व्या मूर्ती ।

प्रकार अपने स्वभावको प्राप्त होता है जिस प्रकार कि मेघोंसे विकारको प्राप्त हुआ आकाश उनके विघटित हो जानेपर अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त होता है ।'

व्याख्या—यहाँ पिछली बातको उदाहरण-द्वारा और स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि जिस प्रकार मेघोंसे आकाश विकारको प्राप्त हो जाता है और मेघोंके विघट जानेपर फिर अपने स्वभावको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी विकारीकर्म जो पुण्य-पाप हैं उनके कारण विकारको—विभावको—प्राप्त होता हुआ भी—अमूर्तिकसे मूर्तिक बनाता हुआ भी उन कर्मोंके दूर हो जानेपर अपने स्वभावमें स्थित हो जाता है ।

पुण्य-बन्धके कारण

अर्हदादौ' परा भक्तिः कारुण्यं सर्वजन्तुषु ।

पावने चरणे रागः पुण्यबन्धनिबन्धनम् ॥३७॥

'अर्हन्तादिकमें उत्कृष्ट भक्ति, सर्वप्राणियोंमें करुणा भाव और पवित्र चरित्रके अनुष्ठानमें राग (यह सब) पुण्य बन्धका कारण है ।'

व्याख्या—यहाँ साररूपमें पुण्य-बन्धके कारणोंका निर्देश करते हुए उन्हें मुख्यतः तीन प्रकारका बतलाया है । पहला अर्हन्तादिकी ऊँची भक्ति, दूसरा सब प्राणियोंके प्रति करुणा-भाव (दया परिणाम अथवा हिंसाभावका अभाव) और तीसरा पवित्र चारित्रिके पालनमें अनुराग । अर्हन्तके अनन्तर प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रधानतः सिद्धोंका और गौणतः उन आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठियोंका वाचक है जो भावलिंगी हों—द्रव्यलिंगी अथवा भवाभि-नन्दी न हों—और अपने-अपने पदके सब गुणोंमें यथार्थतः परिपूर्ण हों । भक्तिका 'परा' विशेषण ऊँचे अथवा उत्कृष्ट अर्थका वाचक है और इस बातका सूचक है कि यहाँ ऊँचे दर्जेके पुण्य-बन्धके कारणोंका निर्देश है और इसीलिए दूसरे दो कारणोंको भी ऊँचे दर्जेके ही समझना चाहिए । अन्यथा पुण्यबन्ध तो शुभ परिणामोंसे होता है, चाहे वे ऊँचे दर्जेके हों या उससे कम दर्जेके । ऊँचे दर्जेके शुभ परिणामोंसे ऊँचे दर्जेका और मध्यम तथा जघन्य दर्जेके शुभ परिणामोंसे मध्यम तथा जघन्य दर्जेका पुण्य बन्ध होता है । जिस पुण्यसे अर्हत्पद अथवा त्रैलोक्यका अधिपतित्व प्राप्त होता है वह 'सर्वातिशायि' अथवा 'सर्वोत्कृष्ट' पुण्य कहलाता है ।^१

जिस पुण्य-बन्धकारक पवित्र चारित्रिक यहाँ उल्लेख है वह 'केवलि जिन-प्रज्ञप्त धर्म' है जिसे 'चत्तारि मंगल' पाठ में मंगल, लोकोत्तम तथा शरणभूत बतलाया है । उसका लक्षण है 'अशुभसे निवृत्ति, शुभमें प्रवृत्ति' और वह पंचव्रत, पंचसमिति तथा तीन गुप्ति रूप त्रयोदश प्रकारका है जैसा कि निम्न सिद्धान्त गाथासे प्रकट है :—

असुहादो विनिवृत्ति सुहे पवित्री य जाण चारित्तं ।

वद-समिदि-गुप्तिरूपं व्यवहारणया दु जिणभणियं ॥

यह व्यवहार नयकी दृष्टिको लिये हुए सराग चारित्र है, निश्चय नयकी दृष्टिसे जो स्वरूपाचरण रूप चारित्र होता है वह बन्धका कारण नहीं है ।

१. सु अर्हदादौ । २. पुण्यफला अर्हता (प्रवचनसार), 'सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्व-कृत्' (श्लोकवार्तिक) ।

पाप-बन्धके कारण

निन्दकत्वं प्रतीक्ष्ये(ङ्ये)षु^१ नैर्घृण्यं सर्वजन्तुषु ।
निन्दिते चरणे रागः पाप-बन्ध-विधायकः ॥३८॥

‘पूज्योंमें निन्दाका भाव, सर्वप्राणियोंके प्रति निर्दयता और दूषित चारित्रिके अनुष्ठानमें राग (यह सब) पाप-बन्धका विधाता है ।’

व्याख्या—यहाँ साररूपमें पाप-बन्धके कारणोंका उल्लेख करते हुए उन्हें भी तीन प्रकारका बतलाया है—एक इष्टों-पूज्योंके प्रति निन्दाका भाव, दूसरा सब प्राणियोंपर निर्दयता—हिंसाका भाव और तीसरा निन्दित चारित्रिकमें अनुराग । निन्दित चारित्रिकका अभिप्राय प्रायः उस चारित्रिकसे है जो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और पर-पदार्थोंमें गाढ़ ममत्वके रूपमें जाना-पहचाना जाता है ।

पुण्य-पापमें भेद-दृष्टि

सुखासुख-विधानेन^२ विशेषः पुण्य-पापयोः ।
नित्य-सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभिः ॥३९॥

‘जिन्हें शाश्वत सुखका दर्शन नहीं होता उन मूढ़-बुद्धियोंके द्वारा पुण्य-पापमें भेद सुख-दुःखके विधानरूपसे माना जाता है—सांसारिक सुखके विधायकको ‘पुण्य’ और दुःखके विधायकको ‘पाप’ कहा जाता है ।’

व्याख्या—पुण्य और पापके भेदको स्पष्ट करते हुए यहाँ बतलाया गया है कि जो पुण्य-को सुख-विधायक और पापको दुःख-विधायक मानकर दोनोंमें भेद करते हैं वे स्वात्मोत्थित स्वाधीन शाश्वत सुखको न जानने-न देखनेवाले मूढ़बुद्धि हैं ।—असली सुखको न समझकर उन्होंने नकली सुखको जो वस्तुतः दुःखरूप ही है, सुख मान लिया है ।

पुण्य-पापमें अभेद-दृष्टि

पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः ।
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः ॥४०॥

‘पुण्य-पापके कारण संसार-वनमें प्रवेश होता है, यह देखते हुए जो शुद्ध-बुद्धि हैं वे पुण्य-पापमें भेद नहीं करते हैं—दोनोंको संसार-वनमें भ्रमानेकी दृष्टिसे समान समझते हैं ।’

व्याख्या—जो शुद्ध-बुद्धि-सम्यग्दृष्टि हैं वे यह देखकर कि पुण्य और पाप दोनों ही जीवको संसार-वनमें प्रवेश कराकर—उसे इधर-उधर भटकाकर-दुःखित करनेवाले हैं, दोनोंमें कोई वास्तविक भेद नहीं मानते—दोनोंको ही सोने-लोहेकी बेड़ीके समान पराधीन कारक बन्धन समझते हैं । भले ही पुण्यसे कुछ सांसारिक सुख मिले; परन्तु उस सुखके पराधीनता-मय स्वरूप और उसकी क्षणभंगुरतादिको देखते हुए उसे वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता ।

१. आ टिप्पणमें ‘पूज्येषु’ । २. सु सुखदुःखविधानेन ।

निर्वृत्तिका पात्र योगी

विषय-सुखतो व्यावृत्त्य^१ स्व-स्वरूपमवस्थितस्-
 त्यजति धिषणां धर्माधर्म-प्रबन्ध-निबन्धिनीम् ।
 जनन-गहने दुःखव्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं
 कलिल-विकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृतिम् ॥४१॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंग-योगिराजविरचिते योगसारप्राभृते बन्धाधिकारः ॥४॥

‘जो (योगी) विषय-सुखसे निवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थित होता है और धर्माधर्मरूप पुण्य-पापके बन्धकी कारणीभूत उस बुद्धिका त्याग करता है जो दुःख-व्याघ्रसे व्याप्त गहन संसार-वनमें प्रवेश करानेवाली है, वह कर्मरहित (विविक्त) आत्माको पाकर मुक्तिको प्राप्त होता है।’

व्याख्या—यह बन्धाधिकारका उपसंहार-पद्य है। इसमें उस बुद्धिका जिसका अधिकारमें कुछ विस्तारसे निर्देश है संक्षेपतः उल्लेख है और उसे पुण्य-पापका बन्ध करानेवाली तथा दुःखरूप व्याघ्र-समूहसे व्याप्त संसार गहन-वनमें प्रवेश करानेवाली लिखा है। इस बुद्धिको वही योगी त्यागनेमें समर्थ होता है जो इन्द्रिय-विषयोंके सुखको वास्तविक सुख न मानता हुआ उससे विरक्त एवं निवृत्त होकर अपने आत्म-स्वरूपमें स्थित होता है और जो आत्म-स्वरूपमें स्थित होता है वही कर्मकलंकसे रहित शुद्धात्मत्वको प्राप्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है—बन्धनसे सर्वथा छूट जाता है।

इस पद्यमें प्रयुक्त हुआ ‘धर्म’ शब्द पुण्यका ‘अधर्म’ शब्द पापका और ‘कलिल’ शब्द कर्ममलका वाचक है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसारप्राभृतमें बन्धाधिकार नामका चौथा अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

१. आ व्यावृत्त्य यो । २. व्या धर्माधर्मप्रबन्धनी ।

संवरधिकार

संवरका लक्षण और उसके दो भेद

कल्मषागमनद्वार-निरोधः संवरो मतः ।

भाव-द्रव्यविभेदेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥ १ ॥

‘जो कर्मका संवर कर चुके हैं उनके द्वारा कल्मषोंके—कषायादि कर्ममलोंके—आगमन-द्वारोंका निरोध (रोकना) ‘संवर’ माना गया है और वह भाव-द्रव्यके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है—एक भावसंवर, दूसरा द्रव्यसंवर ।’

व्याख्या—संवरधिकारका प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले संवर तत्त्वका लक्षण दिया है और फिर उसके द्रव्यसंवर तथा भावसंवर ऐसे दो भेद किये गये हैं । ‘कल्मषोंके आगमन-द्वारोंका निरोध’ यह संवरका लक्षण है । इसमें ‘कल्मष’ शब्द कषायादि सारे कर्म-मलोंका वाचक है और ‘आगमनद्वार’ शब्द आत्मामें कर्म-मलोंके प्रवेशके लिए हेतुभूत जो मन-वचन-कायका व्यापार रूप आस्रव है उसका द्योतक है । इसीसे मोक्ष-शास्त्रमें सूत्र रूपसे ‘आस्रवनिरोधः संवरः’ इतना ही संवरका लक्षण दिया है ।

भाव तथा द्रव्य-संवरका स्वरूप

रोधस्तत्र कषायाणां कथ्यते भावसंवरः ।

दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्यसंवरः ॥ २ ॥

‘संवरकी उक्त भेद-कल्पनामें कषायोंका निरोध ‘भावसंवर’ कहलाता है और कषायोंके निरोधपर जो ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मोंके आस्रव (आगमन) का विच्छेद होता है वह ‘द्रव्य-संवर’ कहा जाता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें संवरके जिन दो भेदोंका नामोल्लेख किया गया है इस पद्यमें उनका स्वरूप दिया गया है । क्रोधादिरूप कषायोंके निरोधको ‘भावसंवर’ बतलाया है और कषायोंका निरोध (भावसंवर) होनेपर जो पौद्गलिक कर्मोंका आत्म-प्रवेश रूप आस्रव रुकता है उसे ‘द्रव्यसंवर’ घोषित किया है ।

कषाय और द्रव्यकर्म दोनोंके अभावसे पूर्ण शुद्धि

कषायेभ्यो यतः कर्म कषायाः सन्ति कर्मतः ।

ततो द्वितयविच्छेदे शुद्धिः संपद्यते परा ॥ ३ ॥

‘चूँकि कषायोंसे कर्म और कर्मसे कषाय होते हैं अतः दोनोंका विनाश होनेपर (आत्मामें) परम शुद्धि सम्पन्न होती है ।’

व्याख्या—यहाँ आत्मामें परा शुद्धिके विधानकी व्यवस्था करते हुए उसके विरोधी दो कारणोंको नष्ट करनेकी बात कही गयी है—एक कषाय भावोंकी और दूसरी द्रव्य कर्मोंकी; क्योंकि एकके निमित्तसे दूसरेका उत्पाद होता है। जब दोनों ही नहीं रहेंगे तभी आत्मामें पूर्ण शुद्धि बन सकेगी।

कषाय-त्यागकी उपयोगिताका सहेतुक निर्देश

कषायाकुलितो जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते ।

परद्रव्यप्रवृत्तस्य स्वात्मबोधः प्रहीयते ॥ ४ ॥

प्रहीण-स्वात्म-बोधस्य मिथ्यात्वं वर्धते यतः ।

कारणं कर्मबन्धस्य कषायस्त्यज्यते ततः ॥ ५ ॥

‘कषायसे आकुलित हुआ जीव परद्रव्यमें प्रवृत्त होता है, जो पर-द्रव्यमें प्रवृत्त होता है उसका स्वात्मज्ञान क्षीण होता है, जिसका स्वात्मज्ञान क्षीण होता है उसके चूँकि मिथ्यात्व बढ़ जाता है, जो कि कर्मबन्धका कारण है, इसीसे कषायको त्याग जाता है।’

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें कषायोंके त्यागकी उपयोगिताका सहेतुक निर्देश किया है—बतलाया है कि कषायें जीवको आकुलित-बेचैन और परेशान करती हैं, कषायोंसे आकुलित हुआ जीव परद्रव्योंमें प्रवृत्त होता है, जो जीव परद्रव्योंमें विशेषरूपसे रत रहता है उसका आत्मज्ञान क्षीण हो जाता है, और जिसका स्वात्मज्ञान क्षीण हो जाता है उसका मिथ्यात्वरूप दृष्टि-विकार बढ़ जाता है, जो कि कर्मबन्धनका प्रधान कारण है अतः कषाय-भाव अनेक दृष्टियोंसे त्याग किये जानेके योग्य है।

कषाय-क्षपणमें समर्थ योगी

निष्कषायो निरारम्भः स्वान्य-द्रव्य-विवेकः ।

धर्माधर्म-निराकाङ्क्षो लोकाचार-निरुत्सुकः ॥६॥

विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रमयमुज्ज्वलम् ।

यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ ॥७॥

‘जो (योगी) कषायहीन है, आरम्भ रहित है, स्व-परद्रव्यके विवेकको लिये हुए है, पुण्य-पापरूप धर्म-अधर्मकी आकांक्षा नहीं रखता, लोकाचारके विषयमें निरुत्सुक है और विशुद्ध दर्शन-ज्ञानचारित्रमय निर्मल आत्माको आत्मा-द्वारा ध्याता है वह कषायको क्षपाता—विनष्ट करता है।’

व्याख्या—कौन योगी कषायका क्षपण करनेमें समर्थ होता है? यह एक प्रश्न है जिसके समाधानार्थ ही इन दोनों पद्योंका अवतार हुआ जान पड़ता है। जो कषायके उदय आनेपर कषायरूप परिणत नहीं होता अथवा बहुत मन्दकषायी है, सब प्रकारके आरम्भों-सावद्यकर्मोंसे रहित है, स्व-पर-विवेकसे युक्त है, जिसे पुण्य-पाप दोनोंमें-से किसीकी भी इच्छा नहीं, ऐसा योगी जब निर्मल ज्ञान-दर्शनरूप उज्ज्वल आत्माका आत्माके द्वारा ध्यान करता है तो वह कषायकी क्षपणा करने अथवा उसे मूलसे विनष्ट करनेमें समर्थ होता है। फलतः जो योगी इन गुणोंसे रहित है अथवा इस योग्याचारके विपरीत आचरण करता है वह कषायकी क्षपणामें समर्थ नहीं हो सकता और इसलिए उसके संवर नहीं बनता—वह निरन्तर कर्मा-

स्रवोंके भीतर डूबा रहता है और इसलिए ग्रन्थकारके शब्दोंमें उसका उत्तार-उद्धार होनेमें नहीं आता ।

यहाँ छठे पद्यमें प्रयुक्त धर्म-अधर्म शब्द पुण्य-पापके वाचक हैं और 'लोकाचार' शब्द लौकिकजनोचित (योगीजनोंके अयोग्य) प्रवृत्तियोंका द्योतक है ।

मूर्त-पुद्गलोंमें राग-द्वेष करनेवाले मूढबुद्धि

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-युक्तैः शुभाशुभैः ।

चेतनाचेतनैर्मूर्तैर्मूर्तैः^१ पुद्गलैरयम् ॥८॥

शक्यो नेतुं सुखं दुःखं सम्बन्धाभावतः कथम् ।

रागद्वेषौ यतस्तत्र क्रियेते मूढमानसैः ॥९॥

'शुभ तथा अशुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दसे युक्त, सचेतन या अचेतन मूर्तिक पुद्गलोंके द्वारा यह अमूर्तिक आत्मा कैसे सुख-दुःखको प्राप्त किया जा सकता है ? क्योंकि मूर्तिक-अमूर्तिकमें परस्पर सम्बन्धका अभाव है । अतः वे मूढबुद्धि हैं जिनके द्वारा पुद्गलोंमें राग-द्वेष किये जाते हैं ।'

व्याख्या—यहाँ ९वें पद्यमें जिस सम्बन्धके अभावका उल्लेख है वह तादात्म्य सम्बन्ध है, जिसे एकका दूसरेसे मिलकर तद्रूप हो जाना कहते हैं । अमूर्तिक आत्माके साथ मूर्तिक पुद्गलोंका यह सम्बन्ध कभी नहीं बनता । ऐसी स्थितिमें जो पुद्गल अच्छे या बुरे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श तथा शब्दको लिये हुए हों, जीवसहित हों या जीवरहित हों वे अमूर्तिक आत्माको सुख या दुःख कैसे पहुँचा सकते हैं ? नहीं पहुँचा सकते । अतः उन पुद्गलोंमें जो राग-द्वेष करते हैं उन्हें बुद्धिमान् कैसे कहा जा सकता है ? वे तो दृष्टिविकारके कारण वस्तुतत्त्वको ठीक न समझनेवाले मूढबुद्धि हैं ।

किसीमें रोष-तोष न करनेकी सहेतुक प्रेरणा

निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः ।

रोष-तोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः ॥१०॥

'आत्माका निग्रह तथा अनुग्रह करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है अतः तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा कहीं भी—किसी भी परपदार्थमें—रोष या तोष नहीं किया जाना चाहिए ।'

व्याख्या—वास्तवमें यदि देखा जाये तो कोई भी पुद्गल अथवा परद्रव्य (सम्बन्धाभावके कारण) आत्माका उपकार या अपकार करनेमें समर्थ नहीं है, इसलिए जो तत्त्व-ज्ञानी हैं वे उपकार या अपकारके होनेपर किसी भी परद्रव्यमें राग-द्वेष नहीं करते अथवा उन्हें नहीं करना चाहिए । राग-द्वेषके न करनेसे उनके आत्मामें कर्मोंका आना रुकेगा; संवर बनेगा और इस तरह आत्माकी शुद्धि सधेगी ।

१. कर्माश्रव-निमग्नस्य नोत्तारो जायते ततः ॥३-४॥

२. मूर्तैः ।

उपकार-अपकार बननेपर किसमें राग-द्वेष किया जाये

परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतनः ।

उपकारेऽपकारे क्व रज्यते क्व विरज्यते ॥११॥

‘दूसरेका अचेतन शरीर तो दिखाई देता है किन्तु चेतन आत्मा दिखाई नहीं पड़ता (अतः) उपकार-अपकारके होनेपर किसमें राग किया जाता है तथा किसमें द्वेष?’

व्याख्या—परका चेतन आत्मा जो दिखाई नहीं देता वह तो राग-द्वेषका पात्र नहीं, और जो शरीर दिखाई देता है वह (तुम्हारे) राग-विरागको कुछ समझता नहीं, अतः उपकार-अपकारके बननेपर किसीमें राग-द्वेष करना व्यर्थ है ।

शरीरका निग्रहानुग्रह करनेवालोंमें राग-द्वेष कैसा ?

शत्रवः पितरौ दाराः स्वजना भ्रातरोऽङ्गजाः ।

निगृहन्त्यनुगृहन्ति शरीरं, चेतनं न मे ॥१२॥

मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं चेतनात्तदचेतनम् ।

द्वेषरागौ ततः कर्तुं युक्तौ तेषु कथं मम ॥१३॥

‘शत्रु, माता-पिता, स्त्रियाँ, भाई, पुत्र और स्वजन (ये सब) मेरे शरीरके प्रति निग्रह-अनुग्रह करते हैं, मेरे चेतनात्माके प्रति नहीं। मुझ चेतन आत्मासे यह अचेतन शरीर भिन्न है। अतः उन शत्रुओंमें द्वेष और स्वजनादिकमें राग करना मेरा कैसे उचित हो सकता है जो मेरे आत्माका कोई निग्रह तथा अनुग्रह नहीं करते।’

व्याख्या—यहाँ सुबुद्ध आत्मा राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए यह भावना करता है कि जितने भी शत्रु, मित्र तथा सगे सम्बन्धी हैं वे सब जो कुछ भी निग्रह-अनुग्रह अथवा उपकार-अपकार करते हैं वे शरीरका करते हैं—मेरे चेतनात्माका नहीं; और शरीर, जो कि अचेतन है वह मुझ चेतनात्मासे वस्तुतः भिन्न है, ऐसी स्थितिमें उन शत्रुओंके प्रति द्वेष और उन मित्रों तथा सगे सम्बन्धियोंके प्रति राग करना मेरा कैसे उचित हो सकता है? नहीं हो सकता।

अदृश्य आत्माओंका निग्रहानुग्रह कैसे ?

पश्याम्यचेतनं गात्रं यतो न पुनरात्मनः ।

निग्रहानुग्रहौ तेषां ततोऽहं विदधे कथम् ॥१४॥

‘चूँकि मैं उन शत्रु-पितरादिके अचेतन शरीर-समूहको देखता हूँ उनकी आत्माओंको नहीं देख पाता, इसलिए उनका निग्रह-अनुग्रह मैं कैसे करूँ?—उनके शरीरके निग्रह-अनुग्रहसे तो उनका निग्रह-अनुग्रह नहीं बनता।’

व्याख्या—यहाँ भी सुबुद्ध आत्माकी राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए वही भावना चालू है। यहाँ वह अपने विषयमें सोचता है कि मैं तो शत्रु-मित्रादिके अचेतन शरीरको ही देख पाता हूँ उनके आत्माका मुझे कभी दर्शन नहीं होता, तब मैं उनका निग्रह-अनुग्रह अथवा उपकार-अपकार कैसे कर सकता हूँ? नहीं कर सकता। अतः उनके निग्रह-अनुग्रहका विचार मेरा कोरा अहंकार है।

शरीरको आत्माका निग्रहानुग्रहक मानना व्यर्थ

स्वदेहोऽपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे क्षमः ।

निग्रहानुग्रहौ तस्य कुर्वन्त्यन्ये वृथामतिः ॥१५॥

‘मेरा स्वशरीर भी जिसके (मेरे आत्माके) निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ नहीं है उसका निग्रह-अनुग्रह दूसरे करते हैं ऐसा मानना मेरा व्यर्थ है ।’

व्याख्या—यहाँ योगी सोचता है कि जब मेरा शरीर भी मेरा निग्रह-अनुग्रह करनेमें समर्थ नहीं है तब मेरा निग्रह-अनुग्रह कोई दूसरा करता है ऐसा मानना व्यर्थ है ।

किसीके गुणोंको करने-हरनेमें कोई समर्थ नहीं

शक्यन्ते न गुणाः कर्तुं हर्तुमन्येन मे यतः ।

कर्तुं हर्तुं परस्यापि न पार्यन्ते गुणा मया ॥१६॥

मयान्यस्य ममान्येन क्रियतेऽक्रियते गुणः ।

मिथ्यैषा कल्पना सर्वा क्रियते मोहिभिस्ततः ॥१७॥

‘चूँकि परके द्वारा मेरे गुण किये या हरे नहीं जा सकते और न मेरे द्वारा परके गुण किये या हरे जा सकते हैं अतः परके द्वारा मेरा और मेरे द्वारा परका कोई गुण-उपकार किया जाता है या नहीं किया जाता यह सब कल्पना मिथ्या है, जो कि मोहसे अभिभूत प्राणियोंके द्वारा की जाती है ।’

व्याख्या—यहाँ योगी तात्त्विकी अथवा निश्चय दृष्टिसे सोचता है कि दूसरा कोई भी मेरे गुणोंको करने या हरनेमें समर्थ नहीं है और न मैं किसी दूसरेके गुणोंको करने या हरनेमें समर्थ हूँ; तब मैंने दूसरेका या दूसरेने मेरा कोई गुण किया है या नहीं किया है, यह सब विकल्प बुद्धि-मिथ्या है और इसे वे ही जीव करते हैं जो दर्शनमोहके उदयवश दृष्टिविकारको लिये हुए हैं अथवा यों कहिए सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि हैं ।

ज्ञानादिक गुणोंका किसीके द्वारा हरण-सृजन नहीं

ज्ञान-दृष्टि-चरित्राणि हियन्ते नाक्षगोचरैः ।

क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतम् ॥१८॥

उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः ।

ततः स्वयं स दाता न, परतो न कदाचन ॥१९॥

‘ज्ञान, दर्शन और चरित्र (गुण) इन्द्रिय-विषयोंके द्वारा हरे नहीं जाते और न निरन्तर सेवा किये गये गुरुओं आदिके द्वारा सृजन (उत्पन्न) किये जाते हैं; परिणामी जीवके (पर्याय-दृष्टिसे) ये स्वयं उत्पन्न होते तथा विनाशको प्राप्त होते हैं, और इसलिए जीव स्वयं इनका दाता (कर्ता-हर्ता) नहीं और न परके कारण इनका कदाचित् उत्पाद-व्यय होता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें आत्माके जिन गुणोंकी सूचना है उन्हें यहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र-के रूपमें उल्लेखित किया है, जिन्हें सम्यक्-विशेषणसे विशिष्ट समझना चाहिए; तभी वे गुणोंकी कोटिमें आते हैं, अन्यथा मिथ्यादर्शनादिक गुण न होकर अवगुण अथवा दोष कहे जाते हैं। इन सम्यग्दर्शनादि गुणोंको न तो इन्द्रियोंके स्पर्शनादि विषय हरते हैं—इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे उनका नाश नहीं हो जाता—और न निरन्तर सेवा किये गये गुरुजनादिक उन्हें उत्पन्न ही करते हैं। जो जीव परिणमनशील है उसके ये गुण पर्याय दृष्टिसे उत्पन्न होते तथा विनाशको प्राप्त होते हैं—द्रव्यदृष्टिसे नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा कोई भी वस्तु न कभी उत्पन्न होती और न कभी नाशको ही प्राप्त होती है, उत्पाद और व्यय पर्यायोंमें—अवस्थाओंमें—हुआ करता है। ऐसी स्थितिमें जीव स्वयं भी इन गुणोंका कर्ता-हर्ता नहीं और न कभी परके कारण इन गुणोंका आत्मामें नवोत्पाद अथवा मूलतः विनाश ही होता है।

शरीरादिक व्यवहारसे मोह है निश्चयसे नहीं

शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं विषयो विभवो विभुः ।

ममेति व्यवहारेण भ्रम्यते न च तत्त्वतः ॥२०॥

तत्त्वतो यदि जायन्ते तस्य ते न तदा भिदा ।

दृश्यते, दृश्यते चासौ ततस्तस्य न ते मताः ॥२१॥

‘मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा द्रव्य, मेरा विषय, मेरी विभूति, मेरा स्वामी यह सब व्यवहारसे—व्यवहार नयकी अपेक्षासे—कहा जाता है, तत्त्वसे नहीं—निश्चय नयकी अपेक्षासे नहीं कहा जाता। यदि तत्त्व दृष्टिसे ये सब आत्माके होते हैं ऐसा माना जाये तो आत्मा और शरीरादिकमें भेद दिखाई नहीं देना चाहिए, किन्तु भेद प्रत्यक्ष दिखाई देता है इसलिए वे आत्माके नहीं माने गये।

व्याख्या—शरीर-इन्द्रियों, धन्नादिक द्रव्यों, इन्द्रिय विषयों, विभव और विभु (स्वामी) को व्यवहार नयकी दृष्टिसे मेरा कहनेमें आता है तात्त्विक दृष्टिसे नहीं। यदि तात्त्विक दृष्टिसे उन्हें आत्माके माना जाय तो फिर आत्मासे उनका भेद नहीं बनता, परन्तु भेद स्पष्ट नजर आता है इसलिए वे शरीरादिक आत्माके नहीं और न निश्चय दृष्टिसे उन्हें आत्माके माना गया है।

दोनों नशोंसे स्व-परको जाननेका फल

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं परं स्वं मन्यते सदा ।

आत्म-तत्त्व-रतो योगी विदधाति स संवरम् ॥२२॥

‘इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय नयकी दृष्टिसे आत्मा और शरीरादि दोनोंके भेदको जानकर जो योगी सदा स्वद्रव्यको स्वके रूपमें और परद्रव्यको परके रूपमें मानता है वह आत्म-तत्त्वमें लीन हुआ योगी सदा संवर करता है—कर्मोंके आस्रवको रोकता है।’

व्याख्या—यहाँ पिछले कथनका सार खींचते और उसे संवर तत्त्वके साथ संघटित करते हुए यह सूचना की है कि जो पूर्वोक्त प्रकारसे निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंके द्वारा

स्व-परके भेदको जानकर आत्मतत्त्वमें लीन हुआ योगी सदा स्वद्रव्यको अपना और परद्रव्यको पराया मानता है वह शुभाशुभ कर्मोंके आस्रवको रोकनेवाला संवरका विधाता होता है ।

द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा कर्म-फल भोगकी व्यवस्था

विदधाति 'परो जीवः किञ्चित्कर्म शुभाशुभम् ।
 पर्यायापेक्षया भुङ्क्ते फलं तस्य पुनः परः ॥२३॥
 य एव कुरुते कर्म किञ्चिज्जीवः शुभाशुभम् ।
 स एव भजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलम् ॥२४॥
 मनुष्यः कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलम् ।
 आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलम् ॥२५॥
 नित्यानित्यात्मके जीवे तत्सर्वमुपपद्यते ।
 न किञ्चिद् घटते तत्र नित्येऽनित्ये च सर्वथा ॥२६॥

'पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे एक जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है और उसका फल दूसरा भोगता है । द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जो जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है वही उसका फल भोगता है । जैसे मनुष्य पुण्य कर्म करता है देव उसका फल भोगता है अथवा आत्मा पुण्य-कर्म करता है आत्मा ही उसके फलको भोगता है । जीवको कथंचित् नित्य-अनित्य माननेपर उक्त सब कथन ठीक घटित होता है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य माननेपर कुछ भी घटित नहीं होता ।'

व्याख्या—इन पद्योंमें 'द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे किसीके किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता कौन ?' इस विषयको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि पर्यायकी अपेक्षासे तो एक जीव कर्म करता है और दूसरा जीव उसके फलको भोगता है, जैसे मनुष्य जीवने संयम-तप आदिके द्वारा पुण्योपार्जन किया और देव जीवने उसके फलको भोगा—पर्याय दृष्टिसे मनुष्य जीव और देव जीव अलग-अलग हैं । परन्तु द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे जो जीव शुभ या अशुभ कर्म करता है वही उसके फलको भोगता है, चाहे किसी भी पर्यायमें क्यों न हो, जिस जीवने मनुष्य पर्यायमें तप-संयमादिके द्वारा पुण्योपार्जन किया वही मरकर देवगतिमें गया और वहाँ उसने अपने उस पूर्वकृत पुण्यके फलको भोगा । जीवको द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्याय दृष्टिसे अनित्य माननेपर यह सब कुछ ठीक घटित होता है, परन्तु जीवको सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य माननेपर यह सब कुछ भी घटित नहीं होता; क्योंकि सर्वथा नित्यमें परिणाम, विक्रिया, अवस्थासे अवस्थान्तर कुछ भी नहीं बनता । और सर्वथा अनित्यमें जब जीवका क्षण-भरमें मूलतः निरन्वय विनाश हो जाता है तब वह अपने किये कर्मका फल कैसे भोग सकता है ? उसके परलोक गमन तथा अन्य शरीर धारणादि ही नहीं बन सकते । और भी कितने ही दोष इस सर्वथा अनित्य (क्षणिकैकान्त) की मान्यतामें घटित होते हैं, जिनकी जानकारीके लिए स्वामी समन्तभद्रके देवागम और उसकी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि टीकाओंको देखना चाहिए ।

आत्मा औदयिक भावोंके द्वारा कर्मका कर्ता तथा फलभोक्ता

चेतनः कुरुते भुङ्क्ते भावैरौदयिकैरयम् ।

न विधत्ते न वा भुङ्क्ते किञ्चित्कर्म तदत्यये ॥२७॥

‘यह चेतन आत्मा औदयिक भावोंके द्वारा—कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर उत्पन्न होनेवाले परिणामोंके सहयोगसे—कर्म करता है और उसका फल भोगता है । औदयिकभावोंका अभाव होनेपर वह कोई कर्म नहीं करता और न फलको भोगता है ।’

व्याख्या—यह चेतन आत्मा किसके द्वारा अचेतन कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता है । यह एक प्रश्न है, जिसके समाधानार्थ ही इस पद्यका अवतार हुआ जान पड़ता है । पद्यमें बतलाया है कि जीव अपने औदयिकभावोंके द्वारा—उनके निमित्तसे ही कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता है । औदयिकभावोंका अभाव हो जानेपर यह जीव न कोई कर्म करता है और न किसी कर्मके फलको भोगता है । औदयिकभाव मोक्षशास्त्र आदिमें मूलतः २१^१ कहे गये हैं । जिनके नाम हैं :—१ नरकगति, २ तिर्यचगति, ३ मनुष्यगति, ४ देवगति, ५ क्रोधकषाय, ६ मानकषाय, ७ मायाकषाय, ८ लोभकषाय, ९ स्त्रीवेद, १० पुरुषवेद, ११ नपुंसकवेद, १२ मिथ्यादर्शन, १३ अज्ञान, १४ असंयम, १५ असिद्ध, १६ कृष्ण लेश्या, १७ नीललेश्या, १८ कपोत लेश्या, १९ पीतलेश्या, २० पद्मलेश्या, २१ शुक्ललेश्या । नरकगत्यादि रूपगति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न नारकादि चार भाव औदयिक होते हैं; क्रोधादि जनक कषाय कर्मोंके उदयसे उत्पन्न क्रोधादिरूप चार भाव भी औदयिक होते हैं; स्त्रीलिंगादि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न स्त्रीवेदादि तीन प्रकारके रागभाव भी औदयिक होते हैं । मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे उत्पन्न अतत्त्व-श्रद्धानरूप परिणाम मिथ्यादर्शन नामका औदयिक भाव है; ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उत्पन्न तत्त्वोंके अनवबोधरूप अज्ञान नामका औदयिक भाव है, चारित्र मोहकर्मके सर्व-घाति स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न असंयत नामका औदयिक भाव है; कर्मोदय सामान्यकी अपेक्षासे उत्पन्न असिद्ध नामका औदयिक भाव है, कषायोंके उदयसे अनुरंजित जो योग प्रवृत्तिरूप कृष्णादि छह प्रकारकी भाव लेश्यायें हैं वे भी औदयिक हैं । इस प्रकार औदयिक-भाव २१ प्रकारके हैं^२ ।

इन्द्रिय-विषय आत्माका कुछ नहीं करते

पञ्चान्विषयाः किञ्चिन् नास्य कुर्वन्त्यचेतनाः ।

मन्यते स विकल्पेन सुखदा दुःखदा मम ॥२८॥

‘पाँचों इन्द्रियोंके विषय, जो कि अचेतन हैं, इस आत्माका कुछ भी (उपकार या अपकार) नहीं करते । आत्मा विकल्प बुद्धिसे (भ्रमवश) उन्हें अपने सुखदाता तथा दुःखदाता मानता है ।

व्याख्या—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं । इनके विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं । ये पाँचों विषय चेतना-रहित जड़ हैं, मूर्तिक हैं और चेतनामय अमूर्तिक आत्माका कुछ भी उपकार या अपकार नहीं करते हैं, फिर भी यह आत्मा विकल्पसे—भ्रान्त बुद्धिसे—इन्हें अपनेको सुखका दाता तथा दुःखका दाता मानता है ।

१. गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्यैकैकैकषड्भेदाः ।

—त० सूत्र २-६ ।

२. देखो, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र आदिकी टीकाएँ ।

द्रव्यके गुण-पर्याय संकल्प-बिना इष्टानिष्ट नहीं होते

**न द्रव्यगुणपर्यायाः संप्राप्ता बुद्धिगोचरम् ।
इष्टानिष्टाय जायन्ते संकल्पेन विना कृताः ॥२६॥**

‘बुद्धिगोचर हुए द्रव्यके गुण-पर्याय बिना संकल्पके किये आत्माके इष्ट या अनिष्ट रूप नहीं होते—संकल्प अथवा भ्रान्त कल्पनाके द्वारा ही उन्हें इष्ट या अनिष्ट बनाया जाता है ।’

व्याख्या—किसी भी परद्रव्यका कोई भी गुण या पर्याय अपने आत्माके लिए वस्तुतः इष्ट या अनिष्ट नहीं होता, निःसार कल्पनाके द्वारा उसे इष्ट या अनिष्ट मान लिया जाता है और इसके कारण यह जीव कष्ट उठाता है। अतः पर पदार्थमें इष्टानिष्टकी कल्पना छोड़ने योग्य है।

मिन्द-स्तुति-वचनोंसे रोष-तोषको प्राप्त होना व्यर्थ

**न निन्दा-स्तुति-वाक्यानि श्रयमाणानि कुर्वते ।
संयन्धाभावतः किञ्चिद् रुष्यते तुष्यते वृथा ॥३०॥**

‘मुने गये निन्दा या स्तुतिरूप वाक्य आत्माका कुछ नहीं करते; क्योंकि वाक्योंके मूर्तिक होनेसे अमूर्तिक आत्माके साथ उनके सम्बन्धका अभाव है। अतः निन्दा-स्तुति वाक्योंको सुनकर वृथा ही रोष-तोष किया जाता है ।’

व्याख्या—निन्दा तथा स्तुतिके जो भी वचन सुनाई पड़ते हैं वे सब पौद्गलिक तथा मूर्तिक होनेसे अपने आत्माके साथ उनका वस्तुतः सम्बन्ध नहीं हो पाता और इसलिए वे अपने आत्माका उपकार या अपकार नहीं करते तब उन्हें सुनकर रुष्ट होना या सन्तुष्ट होना एक आत्मसाधना करनेवाले योगीके लिए व्यर्थ है।

मोहके दोषसे बाह्यवस्तु सुख-दुःखकी दाता

**आत्मनः सकलं बाह्यं शर्माशर्मविधायकम् ।
क्रियते मोहदोषेणापरथा न कदाचन ॥३१॥**

‘मोहके दोषसे सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ समूहको आत्माके सुख-दुःखका विधाता किया जाता है, अन्वथा—मोहके अभावमें—कदाचित् भी वैसा नहीं किया जाता ।’

व्याख्या—सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंको अपने आत्माके जो सुख-दुःख-दाता कल्पित किया जाता है वह सब मोहका दोष है—मोह कर्मके उदयवश जो दृष्टि विकारादिक उत्पन्न होता है उसीके कारण ऐसी मिथ्या मान्यता बनती है—मोहके अभावमें ऐसा कभी नहीं होता।

वचन-द्वारा वस्तुतः कोई निन्दित या स्तुत नहीं होता

**नाञ्जसा वचसा कोऽपि निन्द्यते स्तूयतेऽपि वा ।
निन्दितोऽहं स्तुतोऽहं वा मन्यते मोहयोगतः ॥३२॥**

‘वास्तवमें वचनके द्वारा कोई भी आत्मा निन्दा या स्तुतिको प्राप्त नहीं होता । मैं निन्दा किया गया हूँ या स्तुति किया गया हूँ यह (आत्मा) मोहके योगसे मानता है ।’

व्याख्या—वस्तुतः वचनके द्वारा कोई निन्दित या स्तुत नहीं होता; क्योंकि मूर्तिक वचनका अमूर्तिक आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं बनता । ऐसी स्थितिमें अमुकने मेरी निन्दा की, अमुकने मेरी प्रशंसा की, इस प्रकारकी मान्यता केवल मोहसे सम्बन्ध रखती है—मोही जीव उस निन्दा-स्तुतिका सम्बन्ध यों ही अपने साथ जोड़ लेता है और इस तरह व्यर्थ ही हर्ष-विषादके चक्रमें पड़कर व्याकुल (परेशान) होता है ।

पर-दोष-गुणोंके कारण हर्ष-विषाद नहीं बनता

नानन्दो वा विषादो वा परे संक्रान्त्यभावतः ।

परदोष-गुणैर्नूनं कदाचिन् न विधीयते ॥३३॥

‘परद्रव्यके दोष तथा गुणोंसे आत्माका कभी आनन्द तथा विषाद नहीं बनता; क्योंकि उन दोष तथा गुणोंका आत्मामें संक्रमणका अभाव है—परके वे दोष या गुण आत्मामें प्रविष्ट नहीं होते ।’

व्याख्या—पर द्रव्योंके गुण तथा दोष अपने आत्मामें कभी संक्रमण नहीं करते, इसलिए उनके द्वारा वस्तुतः आत्माके आनन्द तथा विषादकी कोई सृष्टि नहीं बनती । अतः उनसे आत्माके आनन्द तथा विषादकी उत्पत्ति मानना व्यर्थ है और एकमात्र मोहका परिणाम है ।

परके चिन्तनसे इष्ट-अनिष्ट नहीं होता

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा ध्यायतीति वृथा मतिः ।

पीड्यते पाल्यते वापि न परः परचिन्तया ॥३४॥

‘यह मेरा अनिष्ट (अहित) अथवा इष्ट (हित) चिन्तन करता है, यह बुद्धि-विचार निरर्थक है; (क्योंकि) दूसरेकी चिन्तासे दूसरा पीडित या पालित (रक्षित) नहीं होता ।’

व्याख्या—२९वें पद्यमें यह बतला आये हैं कि किसी भी पर द्रव्यका कोई भी गुण या पर्याय अपनी आत्माके लिए इष्ट या अनिष्ट रूप नहीं होता; ऐसी स्थितिमें जो यह सोचकर दुःखित होता है कि अमुक मेरा अहित चिन्तन कर रहा है और यह सोचकर आनन्दित होता है कि अमुक मेरे हितकी भावना भा रहा है तो ये दोनों ही विचार निरर्थक हैं; क्योंकि कोई भी परकी चिन्ता मात्रसे पीड़ा या रक्षाको प्राप्त नहीं होता ।

एक दूसरेके विकल्पसे वृद्धि-हानि माननेपर आपत्ति

अन्योऽन्यस्य विकल्पेन वर्द्धते हाप्यते यदि ।

न सम्पत्तिर्विपत्तिर्वा तदा कस्यापि हीयते ॥३५॥

‘यदि एक दूसरेके विकल्पसे—चिन्तनसे—वृद्धि या हानिको प्राप्त होता है तो किसीकी भी सम्पत्ति या विपत्ति (कभी) क्षीण नहीं होती ।’

व्याख्या—यदि पिछले पद्यमें निरूपित सिद्धान्तके विरुद्ध यह माना जाय कि परकी चिन्तासे कोई पीडित या पालित अथवा वृद्धि-हानिको प्राप्त होता है तो संसारमें किसीकी भी सम्पत्ति तथा विपत्ति कभी कम नहीं होनी चाहिए; क्योंकि दोनोंकी वृद्धि-हानिके चिन्तक सज्जन-दुर्जन बराबर पाये जाते हैं, इसीसे ऐसा देखनेमें नहीं आता। प्रत्युत इसके एकके अनिष्ट चिन्तन पर भी दूसरा वृद्धिको और किसीके इष्ट चिन्तन पर भी—रातदिन उसके हितकी माला जपने पर भी—वह हानिको प्राप्त हुआ देखनेमें आता है, अतः उक्त मान्यता प्रत्यक्षके भी विरुद्ध है।

वस्तुतः कोई द्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः ।

न द्रव्यं तत्त्वतः किञ्चिदिष्टानिष्टं हि विद्यते ॥३६॥

‘मोहके कारण जो पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है वह अनिष्ट और जिसे अनिष्ट मान लिया जाता है वह इष्ट हो जाता है। वस्तुतः कोई द्रव्य इष्ट या अनिष्ट नहीं है।’

व्याख्या—कोई द्रव्य वस्तुतः इष्ट या अनिष्ट नहीं होता है, इस बातको स्पष्ट करते हुए यहाँ पर बतलाया है कि जिसे मोहके वश इष्ट मान लिया जाता है वह पदार्थ कालान्तरमें अनिष्ट और जिसे अनिष्ट मान लिया जाता है वह पदार्थ इष्ट होता हुआ देखनेमें आता है। अतः पर द्रव्यको सर्वथा इष्ट या अनिष्ट मानना व्यर्थ है।

पावन रत्नत्रयमें जीवका स्वयं प्रवर्तन

रत्नत्रये स्वयं जीवः पावने परिवर्तते ।

निसर्गनिर्मलः शङ्खः शुक्लत्वे केन वर्त्यते ॥३७॥

‘जीव स्वयं पवित्र रत्नत्रयके आराधनमें परिवर्तित (प्रवृत्त) होता है। (ठीक है) स्वभावसे निर्मल शंख किसके द्वारा शुक्लतामें परिवर्तित किया जाता है?—किसीके भी द्वारा नहीं; स्वभावसे ही शुक्लतामें परिवर्तित होता है।’

व्याख्या—यहाँ जिस पावन रत्नत्रयमें जीवके स्वतः प्रवर्तनकी बात कही गयी है वह निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप जीवका स्वभाव है। स्वभावमें प्रवर्तनके लिए किसी दूसरेकी आवश्यकता नहीं होती—विभाव मिटते ही स्वभावमें प्रवृत्ति हो जाती है। जिस मोहरूप परिणामका पिछले पद्योंमें उल्लेख है वह सब जीवका विभाव-परिणमन है, जो संसारावस्था-में परके निमित्तसे होता है। पद्यमें प्रयुक्त हुआ ‘निर्मल’ शब्द शुक्लताका वाचक है, जो शंख स्वभावसे शुक्ल है उसे शुक्लतामें परिणत करनेवाला कोई दूसरा नहीं होता। कर्दममें पड़ा रहनेपर भी उसकी शुक्लता कभी नष्ट नहीं होती।

स्वयं आत्मा परद्रव्यको श्रद्धानादि गोचर करता है

स्वयमात्मा परं द्रव्यं श्रद्धते वेत्ति पश्यति ।

शङ्ख-चूर्णः किमाश्रित्य धवलीकुरुते परम् ॥३८॥

‘आत्मा स्वयं पर द्रव्यको देखता, जानता और श्रद्धान करता है। (ठीक है) शंखका चूर्ण किसका आश्रय लेकर दूसरेको धवल करता है? किसीका भी आश्रय न लेकर स्वयं दूसरेको धवल करता है।’

व्याख्या—यह आत्मा स्वयं स्वभावसे पर पदार्थको देखता, जानता तथा श्रद्धान करता है—उसके इस देखने, जानने आदिमें वस्तुतः दूसरेका कोई आश्रय अथवा सहारा नहीं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि शंखका चूर्ण दूसरेको धवल—शुक्ल अथवा निर्मल करनेमें किसी अन्यका सहारा नहीं लेता ।

मोह अपने संगसे जीवको मलिन करता है

मोहेन मलिनो जीवः क्रियते निजसंगतः ।

स्फटिको रक्त-पुष्पेण रक्ततां नीयते न किम् ॥३६॥

‘जीव मोहके द्वारा अपनी संगतिसे मलिन किया जाता है । (ठीक है) रक्त पुष्पके योगसे क्या स्फटिक रक्तताको प्राप्त नहीं होता ?—होता ही है ।’

व्याख्या—यह जीवात्मा अपने निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप स्वभावमें जो प्रवृत्त नहीं हो रहा है उसका कारण मोहका संग है । मोहने अपनी संगतिसे इस जीवको मलिन कर रखा है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि लाल फूल (रक्त पुष्प) अपने सम्बन्धसे निर्मल-धवल स्फटिकको लाल बना देता है ।

मोहका विलय हो जानेपर स्वरूपकी उपलब्धि

निजरूपं पुनर्याति मोहस्य विगमे सति ।

उपाध्यभावतो याति स्फटिकः स्वस्वरूपताम् ॥४०॥

‘मोहके विनष्ट होनेपर जीव पुनः अपने निर्मल रूपको प्राप्त होता है (उसी प्रकार जिस प्रकार कि) रक्तपुष्पादिरूप उपाधिका अभाव हो जानेसे स्फटिक अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस मोहके संग अथवा सम्बन्धसे जीवके मलिन होनेकी बात कही गयी है, उसी मोहका सम्बन्ध छूट जानेपर यह जीव फिरसे अपने स्वरूप को प्राप्त होता है उसी प्रकार जिस प्रकार स्फटिक रक्तपुष्पादि रूप उपाधिका अभाव हो जानेपर पुनः अपने स्वच्छ निर्विकार स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । पूर्व पद्य तथा इस पद्यमें स्फटिकका दृष्टान्त जीवके निर्विकार और सविकार रूपका अथवा स्वभाव और विभवका बोध कराने के लिए बड़ा ही सुन्दर एवं तथ्यपूर्ण है ।

जो मोहका त्यागी वह अन्य सब द्रव्योंका त्यागी

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दुःखबीजं विमुञ्चति ।

सोऽन्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्म-संवरम् ॥४१॥

‘इस प्रकार मोहको दुःखका बीज जानकर जो (योगी) उसे छोड़ता है वह पर-द्रव्यका परित्यागी हुआ कर्मोंका संवर करता है—कर्मोंके आस्रवको रोकता है ।’

व्याख्या—यहाँ पूर्व कथनका उपसंहार करते हुए, मोहको दुःखका बीज बतलाया है और यह निर्दिष्ट किया है कि जो मोहको दुःख-बीज समझकर छोड़ता है वह परद्रव्योंसे अपना सम्बन्ध त्यागता है; क्योंकि वास्तवमें मोह ही परद्रव्योंके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है । जो परद्रव्योंका सम्बन्ध त्यागता है वह कर्मोंका संवर करता है—अच्छे-बुरे

किसी भी प्रकारके कर्मोंको अपने आत्मामें प्रवेश होने नहीं देता। निःसन्देह मोह दुःखका बीज है, इसीसे मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेपर, असाता-वेदनीय कर्म अस्तित्वमें रहते हुए भी दुःख पहुँचानेमें समर्थ नहीं होता—उसे जलकर भस्म हुई रस्सीके समान अपना कार्य करनेमें असमर्थ बतलाया है।

परद्रव्यमें राग-द्वेष-विधाताकी तपसे शुद्धि नहीं होती

शुभाशुभ-पर-द्रव्य-रागद्वेष-विधायिनः ।

न जातु जायते शुद्धिः कुर्वतोऽपि चिरं तपः ॥४२॥

‘शुभ-अशुभरूप परद्रव्यमें—परद्रव्यको शुभ-अशुभ मानकर उसमें—राग-द्वेष करनेवाले के चिरकाल तक तपश्चरण करने पर भी कभी शुद्धि नहीं होती।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस मोह तथा परद्रव्यके त्यागनेकी बात कही गयी है उसे जो नहीं छोड़ता है और अपनी कल्पनानुसार शुभ परद्रव्यमें राग और अशुभ परद्रव्यमें द्वेष करता है उसकी शुद्धि चिरकाल तक तप करनेपर भी नहीं होती। वह तो अपनी राग-द्वेष-परिणतिके द्वारा प्रतिसमय अपने आत्मामें अशुद्धिका संचय करता रहता है।

कर्म करता और फल भोगता हुआ आत्मा कर्म बाँधता है

कुर्वाणः कर्म चात्मायं भुञ्जानः कर्मणां फलम् ।

अष्टधा कर्म बध्नाति कारणं दुःखसन्ततेः ॥४३॥

‘यह आत्मा कर्म करता हुआ और कर्मोंके फलको भोगता हुआ आठ प्रकारका कर्म बाँधता है, जो कि दुःख सन्ततिका—कष्ट परम्पराका—कारण है।’

व्याख्या—यह आत्मा अपनी उक्त राग-द्वेषपरिणतिके कारण किसीको इष्ट-अनिष्ट मानकर कर्म करता हुआ और कर्मका फल भोगता हुआ दोनों ही अवस्थाओंमें नवीन कर्मका बन्ध करता है, जो ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकारका है, और सारी दुःख-परम्पराका मूल कारण है।

सारे कर्मफलको पौद्गलिक जाननेवाला शुद्धात्मा बनता है

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपाकं सदापि यः ।

सर्व-कर्म-बहिर्भूतमात्मानं स प्रपद्यते ॥४४॥

‘जो सारे कर्मविपाकको—कर्मोंके फलको—सदा पौद्गलिक जानता है वह (योगी) संपूर्ण कर्मोंसे बहिर्भूत आत्माको प्राप्त होता है—उसे अपने शुद्ध (विविक्त) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है।’

व्याख्या—जो योगी आत्माके साथ घटित होनेवाले सारे कर्मफलको पौद्गलिक और इसलिए आत्मासे वस्तुतः असम्बद्ध समझता है वह अपने आत्माको सर्वकर्मोंसे बहिर्भूत रूपमें प्राप्त होता है—उसे ही सच्चि स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

शुद्ध जाता परके त्याग-ग्रहणमें प्रवृत्त नहीं होता

ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो न गृह्णाति न मुञ्चति ।

गृह्णाति मुञ्चते कर्म मिथ्याज्ञान-मलीमसः ॥४५॥

‘जो आत्मा शुद्ध ज्ञानवान् है वह न कुछ ग्रहण करता है और न छोड़ता है, जो मिथ्याज्ञानसे मलिन है वह कर्मको ग्रहण करता है तथा छोड़ता है ।’

व्याख्या—जो आत्मा शुद्ध ज्ञानसे युक्त है वह वस्तुतः किसी भी पर पदार्थका ग्रहण-त्याग नहीं करता, जो ग्रहण-त्याग करता है वह मिथ्याज्ञानसे युक्त मलिन आत्मा होता है । ग्रहण-त्याग राग-द्वेषके द्वारा हुआ करता है, शुद्ध ज्ञानमें राग-द्वेष नहीं होता, इसलिए उसके द्वारा ग्रहण-त्याग नहीं बनता, मिथ्याज्ञान राग-द्वेषसे युक्त होता है, इसीसे उसके द्वारा ग्रहण-त्याग बनता है ।

सामायिकादि षट् कर्मोंमें सभक्ति प्रवृत्तके संवर

सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनायां प्रतिक्रमे ।

प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवरः ॥४६॥

‘जो योगी भक्तिपूर्वक सामायिकमें, स्तवमें, वन्दनामें, प्रतिक्रमणमें, प्रत्याख्यानमें और कायोत्सर्गमें वर्तता है उसके संवर—कर्मास्रवका निरोध—होता है ।’

व्याख्या—यहाँ सामायिकादि षट् आवश्यक क्रियाओंके, जो कि योगी मुनियोंके सदा करने योग्य हैं, नाम देकर लिखा है कि इन क्रियाओंमें जो भक्तिके साथ सादर प्रवृत्त होता है उसके संवर बनता है—कर्माका आस्रव रुक जाता है । ये क्रियाएँ सम्यक्चारित्ररूप हैं । इनमें-से प्रत्येकका स्वरूप, जो संवरका कारण है, क्रमशः आगे दिया गया है ।

सामायिकका स्वरूप

यत् सर्व-द्रव्य-सन्दर्भे राग-द्वेष-व्यपोहनम् ।

आत्मतत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥४७॥

‘जो आत्मतत्त्वमें स्थित है उस (योगी) के सर्व द्रव्योंके सन्दर्भ-समूहमें राग-द्वेषका जो व्यपोहन—विशेष रूपसे परित्याग—है उसे ‘सामायिक’ कहते हैं ।’

व्याख्या—सामायिकके इस लक्षणमें दो बातें खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं—एक तो यह कि प्रस्तुत सामायिकका अधिकारी कौन है और दूसरी यह कि उस अधिकारीके सामायिकका स्वरूप क्या है । अधिकारी यहाँ ‘आत्मतत्त्व-निविष्टस्य’ पदके द्वारा आत्मतत्त्वमें स्थित (योगी) को बतलाया है—अतः जो आत्माको ठीक जानता-पहचानता नहीं और न उसमें जिसकी प्रवृत्ति तथा स्थिति होती है वह सामायिकका अधिकारी नहीं—भले ही वह मुनि हो, दिग्गम्बर हो तथा बाह्यमें मुनिचर्याका कितना ही पालन क्यों न करता हो । उस अधि-कृतसामायिकका स्वरूप है सर्वद्रव्योंके सन्दर्भमें राग-द्वेषका विशेष रूपसे (सामान्य रूपसे नहीं) परित्याग । ‘सर्वद्रव्य सन्दर्भ’ पदमें सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थोंकी सभी अवस्थाओंका

समावेश होता है—चाहे वे शाब्दिक हों, आर्थिक हों अथवा ज्ञानविषयक हों। और 'राग-द्वेष व्यपोहन'में सारा वैषम्य दूर होकर पूर्णतः समताभावका प्रादुर्भाव होता है—चाहे वह कितने थोड़े कालके लिए क्यों न हो। इस तरह यह संक्षेपमें सामायिक अथवा सन्तुलित समता-भावरूप आवश्यकका स्वरूप है। इसीको सामायिक पाठ आदिमें व्रतरूपसे निम्न प्रकार प्ररूपित किया है:—

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभ-भावना ।

आर्त-रौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥

अर्थात् सर्वभूतों-प्राणियोंमें समताभाव—राग-द्वेषका अभाव (क्योंकि राग-द्वेष ही आत्माके भावोंकी समता-तुलाको सम न रखकर विषम बनाते हैं), इन्द्रियों तथा प्राणके दो भेदरूप दोनों प्रकारका संयम, शुभ भावना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानके परित्यागको 'सामायिक व्रत' कहते हैं।

आवश्यक तथा व्रतरूपसे इन दोनों सामायिकोंके स्वरूपमें जो अन्तर है उससे एकका विषय अल्प (सर्वभूतों तक सीमित) तो दूसरेका विषय महान् (सर्वद्रव्योंकी सब अवस्थाओं तक व्याप्त) जान पड़ता है। इसीसे सामायिक व्रतरूपमें गृहस्थोंके लिए और आवश्यक रूपमें मुनियोंके लिए विहित है। व्रतरूपसे सामायिकमें शुभ भावना आदिके होनेसे पुण्यका आस्रव भी बनता है जबकि आवश्यक रूपसे सामायिकमें पुण्य-पाप किसीभी प्रकारका आस्रव न होकर संवर ही होता है। संवरके कारणीभूत सामायिकमें मन्त्रादिक जपना अथवा किसीके नामकी माला फेरना नहीं बनता।

स्तवका स्वरूप

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकम् ।

विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवजैः स्तूयते स्तवः ॥४८॥

'जो योगी चेतन गुण विशिष्ट, रत्नत्रय-मय और कर्मके कलंकसे रहित शुद्ध चेतनकी नित्य स्तुति करता है उस स्तवको स्तव-मर्मज्ञोंने 'स्तव' कहा है।'

व्याख्या—यहाँ स्तवके लक्षणमें केवल शुद्ध चेतनको ही स्तुत्यरूपमें ग्रहण किया गया है; जो केवल नामसे चेतन नहीं किन्तु चेतना गुण विशिष्ट है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप रत्नत्रय-मय है, सारे कर्म-कलंकसे विमुक्त रूप 'विविक्त' है और यही संक्षेपमें जिसका स्तवन है। इस स्तवनमें सचेतन पुद्गल एवं अचेतन शरीररूप धरका तथा परकृत वचनका स्तवन नहीं आता, जो वस्तुतः उससे भिन्न है।

वन्दनाका स्वरूप

पवित्र-दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमयमुत्तमम् ।

आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाकथि कोविदैः ॥४९॥

'शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यमय उत्तम आत्माको वन्दन-नमस्कार करते हुए योगीके विज्ञ-पुरुषोंने 'वन्दना' कही है।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस शुद्धात्माके स्तवनको 'स्तव' कहा गया है उसी शुद्धात्माकी वन्दना करनेवालेके प्रस्तुत 'वन्दना' का होना कहा गया है, ऐसा यहाँ सूचित किया है।

वन्दना वाक्यरूप है, इसकी कोई सूचना नहीं की, और इसलिए उसका सुप्रसिद्ध रूप वन्द्यके आगे वन्द्यके गुणोंका चिन्तन करते हुए हाथ जोड़कर शिरोनति करना—सिर झुकाना अथवा नम्रीभूत होना जैसा समझना चाहिए।

प्रतिक्रमणका स्वरूप

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम् ।

आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ॥५०॥

‘पूर्व किये हुए तथा फलको प्राप्त हुए सर्व कर्मोंके आत्मीयत्वका जो परित्याग है—उन कर्मों तथा कर्मफलोंको अपना न मानना है—उसको ‘प्रतिक्रमण’ कहा जाता है।’

व्याख्या—पूर्वकृत सब कर्मोंके फलोंमें जो आत्मीयत्व-बुद्धिका परित्याग है—उन्हें अपने अथवा अपने उपादानसे बने (निष्पन्न) न मानना है—उसको यहाँ ‘प्रतिक्रमण’ कहा गया है। वास्तवमें जीवके भावोंका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जितने भी पूर्वकृत कर्म हैं और उनके जो भी फल हैं वे सब पुद्गल द्रव्यके उपादानसे उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें आत्मीय-आत्माके उपादानसे उत्पन्न मानना भूल है, इस भूलका ही प्रस्तुत आवश्यक कर्म-द्वारा परिमार्जन किया जाता है।

प्रत्याख्यानका स्वरूप

आगाम्यागो^१निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम् ।

प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्म^२-विलोकिनः ॥५१॥

‘विविक्तात्मावलोकीको आगामी पाप-कर्मोंके निमित्तभूत भावों-परिणामोंका जो प्रतिषेध है—न करना है—उसे ‘प्रत्याख्यान’ कहा गया है।’

व्याख्या—यहाँ उन परिणामोंके परित्यागको ‘प्रत्याख्यान’ बतलाया है, जो कि भावी कर्मास्रवके निमित्तभूत हों और उसका अधिकारी ‘विविक्तात्मविलोकिनः’ पदके द्वारा उसी शुद्धात्मदर्शीको सूचित किया है जिसे ४७वें पद्यमें ‘आत्मतत्त्व-निविष्टस्य’ और ५३वें पद्यमें ‘स्वात्मतत्त्वव्यवस्थितः’ पदके द्वारा उल्लेखित किया है, और इसलिए जो इन सभी आवश्यक कर्मोंके अधिकारियोंका परमावश्यक विशेषण है।

कायोत्सर्गका स्वरूप

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्म-निर्मितम् ।

न तस्य वर्तते कार्यं कायोत्सर्गं करोति सः ॥५२॥

‘जो योगी काय (शरीर) को अचेतन, नाशवान् और कर्मनिर्मित जानकर उसके कार्यमें नहीं वर्तता है वह कायोत्सर्ग करता है।’

व्याख्या—यहाँ कायके कार्यमें—अंगोपांगके संचालनमें—न प्रवृत्त होनेका नाम ‘कायोत्सर्ग’ बतलाते हुए उसके कारण रूपमें यह सूचना की है कि काय (शरीर) अचेतन है, जबकि जीव चेतन है अतः चेतनको अचेतनके कार्यमें नहीं प्रवर्तना चाहिए; काय कर्म-

१. मु आगम्यागो । २. आ विविक्तात्मा ।

निर्मित है—कर्मोंके आधार पर बना तथा टिका हुआ है—जबकि जीव अपने कर्मोंके आधार पर अपना अस्तित्व नहीं रखता, और इसलिए उसे परकृत और पराश्रितके काममें प्रवृत्त होकर अपनी शक्तिका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए—जितने समयके लिए भी शक्तिके उस दुरुपयोगको बचाया जा सके उतने समयके लिए उसे अवश्य बचाना चाहिए, यह कायोत्सर्गकी दृष्टि है, जिसे 'ज्ञात्वा' पदके द्वारा जाननेकी प्रेरणा की गयी है।

यः षडावश्यकं योगी स्वात्मतत्त्व-व्यवस्थितः ।

अनालस्यः करोत्येव संवृतिस्तस्य रेफसाम् ॥५३॥

'जो योगी अपने आत्मतत्त्वमें विशेषतः अवस्थित और निरालस्य हुआ (उक्त प्रकारसे) षडावश्यकको—अवश्य करणीय सामायिकादि छहों क्रियाओंको—करता है उसके पापों—कर्मोंका संवर ही होता है।'

व्याख्या—जिन षट् कर्मों—कार्योंका पिछले पद्योंमें उल्लेख है उन्हें यहाँ स्पष्ट रूपसे 'आवश्यक' नाम दिया गया है, जिसका आशय है अवश्य ही नित्य करने योग्य, उन कार्योंके करनेवालेको 'योगी' नाम दिया है, जिसका अभिप्राय है काय-वचन-मन-रूप त्रियोगोंकी साधना करनेवाला—उन्हें अपने अधीन रखनेवाला—साधु-मुनि; और उसके दो विशेषण दिये गये हैं—एक 'स्वात्मतत्त्व व्यवस्थित' और दूसरा 'अनालस्य' जिसमें पहला इन कार्योंको करनेके अधिकारित्वकी सूचना करता है जैसा कि ४७वें पद्यकी व्याख्यामें व्यक्त किया गया है, और दूसरा फलकी यथेष्ट रूपमें साधनासे सम्बद्ध है; क्योंकि आलस्यसहित अनादर-पूर्वक किये हुए कर्म यथेष्ट फलको नहीं फलते। अन्तमें इन सभी आवश्यक-कृत्योंके फलका निर्देश किया है और वह है ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवका निरोध, जो उक्त दोनों विशेषण-विशिष्ट योगीको प्राप्त होता है। अतः इन छहों क्रियाओंके करनेमें योगीको अपने इन दोनों विशेषणोंको खास तौरसे ध्यानमें रखना चाहिए, जिनके बिना यथेष्ट फलसम्पत्ति नहीं बनती।

सम्यग्ज्ञानपरायण आत्मज्ञ योगी कर्मोंका निरोधक

मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायणः ।

आत्मनात्मपरिज्ञायी विधत्ते रोधमेनसाम् ॥५४॥

'मिथ्याज्ञानको छोड़कर जो सम्यग्ज्ञानमें तत्पर है और आत्माके द्वारा आत्माका ज्ञाता है वह कर्मोंका निरोध करता है—कर्मोंके आस्रवको रोकता है।'

व्याख्या—यहाँ षडावश्यक-विधातासे भिन्न एक दूसरे ही संवर अधिकारीका निर्देश है और वह है जो मिथ्याज्ञानका परित्याग कर सम्यग्ज्ञानमें तत्पर रहता है और अपनी आत्माको किसी भी पर पदार्थकी अपेक्षा न रखकर अपने आत्माके द्वारा ही जानता है। ऐसा ज्ञाता बिना कोई दूसरा अनुष्ठान किये ही कर्मोंके आस्रवको रोकनेमें समर्थ होता है।

कोई द्रव्यसे भोजक तो भावसे अभोजक, दूसरा इसके विपरीत

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्भावतोऽस्ति त्वभोजकः ।

भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः ॥५५॥

‘कोई द्रव्यसे भोक्ता है भावसे अभोक्ता है, दूसरा भावसे भोक्ता है द्रव्यसे अभोक्ता है।’

व्याख्या—जो किसी पदार्थके भोगमें प्रवृत्त है उसे ‘भोजक’ और जो भोगसे निवृत्त है उसे ‘अभोजक’ कहते हैं। यहाँ द्रव्य तथा भावसे भोजक-अभोजककी व्यवस्था करते हुए यह सूचित किया है कि जो द्रव्यसे भोजक है वह भावसे भी भोजक हो अथवा जो भावसे भोजक है वह द्रव्यसे भी भोजक हो ऐसा कोई नियम नहीं है—एक द्रव्यसे भोजक होते हुए भी भावसे भोजक नहीं होता और दूसरा भावसे भोजक होते हुए भी द्रव्यसे भोजक नहीं होता।

द्रव्य-भावसे निवृत्तोंमें कौन किसके द्वारा पूज्य

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः ।

भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः ॥५६॥

‘जो द्रव्यसे निवृत्त है—अभोजक है—वह व्यवहारियोंके द्वारा पूज्य है। जो भावसे निवृत्त है—अभोक्ता है—वह मुमुक्षुओंके द्वारा पूज्य—पूजाको प्राप्त-होता है।’

व्याख्या—जो द्रव्यसे—बाह्य पदार्थोंका त्याग करके उनके भोगसे—निवृत्त होता है वह व्यवहारी जीवोंके द्वारा पूजा जाता है; क्योंकि व्यवहारी जीवोंकी बाह्य दृष्टि होती है वे दूसरेके अन्तरंगको नहीं परख पाते। और जो भावसे—वस्तुतः भोगसे विरक्तचित्त होकर—निवृत्त होता है वह मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंके द्वारा पूजा जाता है; क्योंकि मुमुक्षु अन्तरात्माओंकी आन्तरिक दृष्टि होनेके कारण वे दूसरेके अन्तरंगको परख लेते हैं।

भावसे निवृत्त ही वास्तविक संवरका अधिकारी

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृतिरेनसाम् ।

भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः ॥५७॥

‘जो द्रव्य मात्रसे निवृत्त है उसके कर्मोंकी निर्वृति नहीं होती और जो भावसे निवृत्त है उसके वास्तविक संवृति—कर्मास्रवकी निवृत्ति—बनती है।’

व्याख्या—यहाँ पिछले कथनको संवर तत्त्वके साथ सम्बद्ध करते हुए लिखा है कि जो द्रव्य मात्रसे निवृत्त है—ब्राह्मणमें किसी वस्तुके भोगका त्याग किये हुए है—परन्तु अन्तरंगमें उसके भोगकी लालसा बनी हुई है, उसके कर्मोंका संवर नहीं होता। और जो भावसे निवृत्त है—हृदयमें उस पदार्थके भोगका कभी विचार तक भी नहीं लाता—उसके वास्तविक संवृति बनती है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि जो भावसे त्याग है वही कल्याणकारी है। लोक दिखावेके रूपमें जो भी त्यागवृत्ति है वह कल्याणकारिणी नहीं।

भावसे निवृत्त होनेकी विशेष प्रेरणा

विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतस्त्रिधा ।

भाव्यं भाव-निवृत्तेन समस्तैर्नोनिषिद्धये ॥५८॥

‘इस प्रकार द्रव्य-भावरूप निवृत्तिको जानकर और द्रव्यनिवृत्तिको मन-वचन-कायसे छोड़कर—गौण करके—समस्त कर्मोंको दूर करनेके लिए त्रियोगपूर्वक भावसे निवृत्त होना चाहिए।’

व्याख्या—पिछले पद्यानुसार जब द्रव्य मात्रकी निवृत्तिसे कर्मोंकी निवृत्ति न होकर भावसे निवृत्ति होती है तब फलितार्थ यह निकला कि द्रव्य निवृत्तिका आग्रह न रखकर—उसे गौण करके—भावसे निवृत्तिरूप होना चाहिए, ऐसा होनेसे समस्त पापोंकी—कर्मोंकी—निवृत्ति होती है। यही इस पद्यमें निष्कर्ष सूचित किया गया है।

शरीरात्मक लिंग मुक्तिका कारण नहीं

शरीरमात्मनो भिन्नं लिङ्गं येन तदात्मकम् ।
न मुक्तिकारणं लिङ्गं जायते तेन तत्त्वतः ॥५६॥
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं न मुक्तिर्जायते ततः ।
अन्यथा कारणं कर्म तस्य केन निवर्तते ॥६०॥

‘चूँकि शरीर आत्मासे भिन्न है और लिंग शरीरात्मक है इसलिए वस्तुतः लिंग मुक्तिका कारण नहीं होता है। जो मुक्तिको जानेवालेके द्वारा त्याज्य है उससे मुक्ति नहीं होती। यदि लिंगको मुक्तिका कारण माना जायेगा तो उसके कारण कर्मको किसके द्वारा दूर किया जायेगा? —किसीके भी द्वारा उसका दूर किया जाना नहीं बनता, और इसलिए कर्मोंके सद्भावमें मुक्तिका भी अभाव ठहरता है।’

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें युक्तिपुरस्सर ढंगसे यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी लिंग अथवा वेष वस्तुतः मुक्तिका कारण नहीं है; क्योंकि वह शरीरात्मक है और शरीर आत्मासे भिन्न है। जो शरीर तथा वेष मुक्तिको जाने—प्राप्त होनेवालेके द्वारा त्यागा जाता है वह मुक्तिका कारण नहीं हो सकता, यदि शरीर अथवा तदाश्रित लिंगको मुक्तिका कारण माना जायेगा तो फिर शरीरका कारण जो कर्म है वह किसीके द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकेगा और कर्मके साथमें रहनेपर मुक्ति कैसी? वह बनती नहीं। अतः शरीरात्मक द्रव्य-लिंगको मुक्तिका कारण मानना तर्क-संगत नहीं—अनुचित है। इसी बातकी श्रीपूज्यपादाचार्य-ने अपने समाधितन्त्रके निम्न पद्यमें और भी स्पष्ट घोषणा की है :—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्माद्ये ते लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥

इसमें बतलाया है कि लिंग शरीराश्रित है और शरीर आत्माका भव-संसार है अतः जो लिंगका आग्रह रखते हैं वे संसारसे मुक्त नहीं हो पाते—एक भवसे दूसरा भव धारण करते हुए संसारमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं। जबकि लिंग आदिका आग्रह छूटता है तभी मुक्तिका स्वामित्व प्राप्त होता है। शरीर अचेतन है चेतनात्माको उसका आग्रह नहीं रखना चाहिए।

मुमुक्षुके लिए त्याज्य और ग्राह्य

अचेतनं ततः सर्वं परित्याज्यं मुमुक्षुणा ।
चेतनं सर्वदा सेव्यं स्वात्मस्थं संवरार्थिना ॥६१॥

१. आदि शब्दसे ब्राह्मणादि उच्चजातिका ग्रहण है उसे भी ‘जातिदेहाश्रिता दृष्टा’ इत्यादि पद्य (८८) में मुक्तिका कारण नहीं बतलाया।

‘अतः जो मोक्षका अभिलाषी और संवरका अर्थी है उसके द्वारा समस्त अचेतन पदार्थ समूह त्यजनीय है और अपने आत्मामें स्थित चेतन सदा सेवनीय है ।’

व्याख्या—शरीर और वेषकी पूर्वोक्त स्थितिमें शरीर और वेष ही नहीं, किन्तु सभी अचेतन वस्तु समूह मोक्षके इच्छुक और इसलिए संवरके अर्थीको त्यागने योग्य है—किसीमें भी उसे आसक्ति नहीं रखनी चाहिए । प्रत्युत इसके वह चेतन सदा सेवनीय एवं उपासनीय है जो अपने आत्मामें स्थित है ।

कौन योगी शीघ्र कर्मोंका संवर करता है

आत्मतत्त्वमपहस्तित-रागं

ज्ञान-दर्शन-चारित्रमयं यः ।

मुक्तिमार्गमवगच्छति योगी

संवृणोति दुरितानि स सद्यः ॥६२॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते संवराधिकारः ॥५॥

‘जो योगी राग-रहित आत्मतत्त्वको और ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्गको जानता-पह-चानता है वह शीघ्र कर्मोंका संवर करता है ।’

व्याख्या—यह इस पाँचवें संवराधिकारका उपसंहार-पद्य है । इसमें बतलाया है कि जो योगी राग-द्वेष-रहित शुद्ध आत्मतत्त्वको और निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्षमार्गको प्राप्त होता है वह शीघ्र ही कर्मोंके आस्रवको—शुभ-अशुभ सभीप्रकारके कर्मोंके आत्मप्रवेशको-रोकता है । और इसलिए संवरावस्थामें कोई भी नया कर्म आत्माके साथ बँधने नहीं पाता ।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसार प्राभृतमें संवर अधिकार नामका पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

६

निर्जराधिकार

निर्जराका लक्षण और दो भेद

पूर्वोपार्जित-कर्मैकदेशसंक्षय-लक्षणा ।

निर्जरा जायते द्वेषा पाकजापाकजात्वतः ॥१॥

‘पूर्वोपार्जित कर्मोंका एक देशक्षय जिसका लक्षण है वह निर्जरा पाकजा तथा अपाकजाके भेदसे दो प्रकारकी होती है ।’

व्याख्या—निर्जरा अधिकारका प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले निर्जराका लक्षण दिया है और वह लक्षण है ‘पूर्वोपार्जित कर्मोंका एकदेश विनाश’ । पूर्वोपार्जित कर्मोंमें पूर्व जन्ममें किये तथा आत्माके साथ बन्धको प्राप्त हुए कर्म ही नहीं किन्तु इस जन्ममें भी वर्तमान कालसे पूर्व किये तथा बन्धको प्राप्त हुए कर्म भी शामिल हैं । और एकदेश संक्षयका अर्थ है ‘आंशिक विनाश’—पूर्णतः विनाश नहीं । क्योंकि कर्मोंके पूर्णतः विनाश होनेका नाम तो है ‘मोक्ष’—निर्जरा नहीं । जबतक नये कर्मोंका आस्रव नहीं रुकता और बन्ध-हेतुओंका अभाव नहीं होता तबतक निर्जरा बनती ही नहीं । उक्त निर्जराके दो भेद हैं—एक ‘पाकजा’, दूसरा ‘अपाकजा’ । इन दोनोंका स्वरूप अगले पद्यमें दिया है ।

पाकजा-अपाकजा निर्जराका स्वरूप

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते ।

निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः ॥२॥

‘पाकजा निर्जरामें पके हुए कर्मका ही विनाश होता है । अपाकजा निर्जरामें पके-अपके दोनों प्रकारके कर्मोंका विनाश होता है ।’

व्याख्या—‘पाकजा निर्जरा’ वह है जिसमें पके हुए—फल देनेको उद्यत हुए—कर्मोंका ही विनाश होता है और ‘अपाकजा निर्जरा’ वह कहलाती है जिसमें पके हुए, (कालप्राप्त) तथा बिना पके हुए (अकालप्राप्त) दोनों प्रकारके ही कर्मोंका विनाश होता है ।

अपाकजा निर्जराकी शक्तिका सोदाहरण निर्देश

शुष्काशुष्का यथा वृक्षा दहन्ते दव-वह्निना ।

पक्वापक्वास्तथा ध्यान-प्रक्रमेणाघसंचयाः ॥३॥

‘जिस प्रकार दावानलके द्वारा सूखे-गीले वृक्ष जल जाते हैं उसी प्रकार ध्यानके प्रक्रमणसे—प्रज्वलनसे—पक्के-कच्चे कर्म समूह भस्म हो जाते हैं ।’

१. कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । -त० सूत्र १०-२।

व्याख्या—अत्यन्त प्रज्वलित तीक्ष्ण अग्निका नाम 'दावानल' है, जो वनके वन भस्म कर देती है, सूखेकी तरह कोई गीला-हरा वृक्ष भी वनमें उसकी लपेटमें आकर भस्म होनेसे बच नहीं पाता । एकाग्रचिन्तनरूप ध्यान भी ऐसी ही प्रबल अग्नि है, उसकी लपेटमें आया हुआ कोई भी कर्म चाहे वह उदयके योग्य हो या न हो जलकर राख अथवा शक्तिक्षीण हो जाता है । इस तरह यहाँ पिछले पद्यमें उल्लिखित 'अपाकजा' निर्जराकी शक्तिको दावानल-के उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

परमनिर्जरा-कारक ध्यान-प्रक्रमका अधिकारी

दूरीकृत-कषायस्य विशुद्धध्यान-लक्षणः ।

विधत्ते प्रक्रमः साधोः कर्मणां निर्जरां पराम् ॥४॥

'जिसने कषायको दूर किया है उस साधुके विशुद्ध ध्यान-लक्षणरूप जो प्रक्रम-प्रज्वलन होता है वह कर्मोंकी उत्कृष्ट निर्जरा है ।'

व्याख्या—जिस साधुने अपनी आत्मासे क्रोधादि कषायोंको दूर कर दिया है उसीके विशुद्ध ध्यान बनता है—कषायाकुलित साधुके नहीं—और वह विशुद्ध ध्यान ऐसा प्रक्रम अथवा प्रज्वलन होता है जो कर्मोंको भस्मादिरूप परिणत करके बहुत बड़े पैमानेपर उनकी निर्जरा कर देता है ।

कौन योगी कर्म समूहकी निर्जराका कर्ता

आत्मतत्त्वरतो योगी कृत-कल्मष-संवरः ।

यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ॥५॥

'आत्मतत्त्वमें लीन हुआ और कल्मषका—कषायादि कर्म-मलका—संवर किये हुए जो योगी सदा ध्यानमें वर्तता है उसके द्वारा कर्मसमूह निर्जराको प्राप्त होता है ।'

व्याख्या—निर्जराके अधिकारीका वर्णन करते हुए यहाँ उस योगीको कर्मसमूहकी उत्कृष्ट निर्जराका कर्ता लिखा है जो आत्म-तत्त्वमें लीन हुआ कषायादि कर्म-मलोंके संवर-पूर्वक सदा ध्यानमें प्रवृत्त होता है ।

संवरके बिना निर्जरा वास्तविक नहीं

संवरेण विना साधोर्नास्ति पातक-निर्जरा ।

नूतनाम्भःप्रवेशे(शो)ऽस्ति सरसो रिक्तता कुतः ॥६॥

'संवरके बिना साधुके पातकों-कर्मोंकी पूर्णतः अविपाक निर्जरा नहीं बनती । (ठीक है) जब नये जलका प्रवेश हो रहा है तब सरोवरकी रिक्तता कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती ।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें संवर-पूर्वक ध्यानमें प्रवृत्त होनेकी जो बात कही गयी है उसके लक्ष्यको इस पद्यमें स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि संवरके बिना वास्तवमें साधुके पापों-कर्मोंकी निर्जरा नहीं बनती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि सरोवरमें नये जलका प्रवेश होते रहनेपर उसकी रिक्तता नहीं बनती—वह कभी खाली नहीं हो पाता । अतः सरोवरको

खाली करनेके लिए जिस प्रकार नये जलके प्रवेश-द्वारको रोकनेकी पहले जरूरत है उसी तरह संचित कर्मोंकी निर्जराके लिए नये कर्मोंका आत्म-प्रवेश रोकनेकी-संवरकी-पहले जरूरत है।

किसका कौन ध्यान कर्मोंका क्षय करता है

रत्नत्रयमयं ध्यानमात्म-रूप-प्ररूपकम् ।

अनन्यगत-चित्तस्य विधत्ते कर्म-संक्षयम् ॥७॥

‘जो योगी अन्यत्र चित्तवृत्तिको लिये हुए नहीं है उसके आत्मरूपका प्ररूपक रत्नत्रयमयी ध्यान कर्मोंका विनाश करता है।’

व्याख्या—जिस ध्यानका पिछले पद्योंमें उल्लेख आया है उसे यहाँ ‘रत्नत्रयमय’ लिखा है, जो कि आत्मतत्त्वका प्ररूपक है, उसमें जो योगी अनन्यगत चित्त होकर किसी दूसरे पदार्थमें अपनी चित्तवृत्तिको न रखकर—प्रवृत्त होता है वह कर्मोंकी भले प्रकार निर्जरा करता है।

कौन योगी सारे कर्ममलको धो डालता है

त्यक्तान्तरेतर-ग्रन्थो निर्व्यापारो जितेन्द्रियः ।

लोकाचार-पराचीनो मलं क्षालयतेऽखिलम् ॥८॥

‘जो योगी अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर इन्द्रिय-व्यापारसे रहित हुआ जितेन्द्रिय है और लोकाचारसे पराङ्मुख है वह सारे कर्ममलको धो डालता है।’

व्याख्या—निर्जराधिकारीका वर्णन करते हुए यहाँ यह प्ररूपण किया है कि जो योगी आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित है, इन्द्रिय-व्यापारमें प्रवृत्त नहीं होता, इन्द्रियोंको अपने वशमें किये हुए है और लोकाचारकी परवाह नहीं करता वह सब प्रकारके कर्ममलको धोनेमें समर्थ होता है।

यहाँ आदि-अन्तके दो विशेषण अपना खास महत्त्व रखते हैं, प्रथम विशेषणमें अन्तरंग परिग्रहका त्याग प्रधान है, जो मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और हास्यादि नोकषायोंके रूपमें चौदह प्रकारका होता है और बाह्य परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्यादिके रूपमें दस प्रकारका कहा गया है। इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका जबतक सच्चे हृदयसे त्याग नहीं बनता तबतक इन्द्रिय-व्यापारका रुकना और जितेन्द्रिय होना भी नहीं बनता। रहा अन्तिम विशेषण, वह इस बातका सूचक है कि जबतक लोकाचारके कर्ममलका क्षालन नहीं हो सकेगा—लोकाचारके पालनमें प्रवृत्ति रूप कर्मका आस्रव होता ही रहेगा। इसीसे सच्चे मुनियोंकी वृत्तिको ‘अलौकिकी’ कहा गया है। यह अलौकिकी वृत्ति भवाभिनन्दी अथवा लौकिक मुनियोंसे नहीं बनती। उन्हें तो लोकैषणा सताती रहती है और इसलिए वे लोकाचारसे विमुख नहीं हो पाते।

१. पराङ्मुखः । २. अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार-नित्यनिरभिमुखा । एकान्तविरतिरुपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥ —अमृतचन्द्र सूरि; पु० सिद्ध्यु० ।

विशुद्धभावका धारी कर्मक्षयका अधिकारी

शुभाशुभ-विशुद्धेषु भावेषु प्रथम-द्वयम् ।

यो विहायान्तिमं धत्ते क्षीयते तस्य कल्मषम् ॥६॥

‘जो शुभ, अशुभ, विशुद्ध इन तीन भावोंमें-से, प्रथम दोको छोड़कर अन्तिम विशुद्ध भावको धारण करता है उसके कल्मष—कषायादि कर्ममल—क्षयको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—यहाँ यह सूचित किया है कि जीवके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—शुभ, अशुभ, विशुद्ध । इनमें-से पहले दो परिणामोंको, जो कि कर्म-बन्धके कारण हैं, छोड़कर जो तीसरे विशुद्ध परिणामको धारण करता है वह नवीन कर्मोंका आस्रव-बन्ध न करता हुआ पूर्व संचित कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ होता है । विशुद्ध परिणाममें दो शक्तियाँ हैं—एक कर्मोंके आस्रव-बन्ध रोकनेकी और दूसरी पूर्व बाँधे कर्मोंको क्षयरूप-निर्जरित करनेकी ।

शुद्धात्मतत्त्वको न जाननेवालेका तप कार्यकारी नहीं

बाह्यमाभ्यन्तरं^१ द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः ।

नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ॥१०॥

‘जो शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं जानता उसके द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकारके तपमें-से प्रत्येक प्रकारके तपका अनुष्ठान करते हुए भी कर्म निर्जराको प्राप्त नहीं होता ।’

व्याख्या—मोक्षशास्त्रमें ‘तपसा निर्जरा च’ इस सूत्रके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि तपसे निर्जरा तथा संवर दोनों होते हैं । यहाँ एक खास मौलिक बात और कही गयी है और वह यह कि जबतक योगी-तपस्वी शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं जानता-पहचानता तबतक उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकारके तपोंमें-से किसी भी प्रकारका तप करते हुए कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती । संवरके अधिकारमें जिस प्रकार संवराधिकारीके लिए आत्मतत्त्वको जानने और उसमें स्थित होनेकी बात कही गयी है उसी प्रकार निर्जराधिकारीके लिए भी उसे समझना चाहिए । जो आत्माको ही नहीं समझता उसका बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारका तप, जिसमें ध्यान भी शामिल है, एक प्रकारसे निरर्थक होता है—उससे न संवर बनता है और न निर्जरा । तपश्चरणके साथ आत्माको जानना बिन्दुओंके साथ अंकके समान उसे सार्थक करता है । अतः केवल तपश्चरणके मोहमें ही उलझे रहना नहीं चाहिए, आत्माको जानने तथा पहचाननेका सबसे प्रथम प्रयत्न करना चाहिए ।

किस संयमसे किसके द्वारा कर्मकी निर्जरा होती है

कर्म निर्जीर्यते पूतं विदधानेन संयमम् ।

आत्म-तत्त्व-निविष्टेन जिनागम-निवेदितम् ॥११॥

‘आत्मतत्त्वमें स्थित जो योगी जिनागम-कथित पवित्र संयमका अनुष्ठान करता है उसके द्वारा कर्म निर्जराको प्राप्त होता है ।’

१. सु बाह्यमभ्यन्तरं ।

व्याख्या—यहाँ संयमके द्वारा कर्मकी निर्जराका वर्णन करते हुए उसके दो विशेषण दिये गये हैं एक तो 'पूत' जो पवित्र एवं शुद्ध अर्थका वाचक है, दूसरा है 'जिनागमनिवेदित' जिसका आशय है जिनागमके द्वारा प्रतिपादित । जिनागममें संयमके दो भेद किये गये हैं— एक इन्द्रिय संयम और दूसरा प्राणिसंयम । स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी अशुभ प्रवृत्तियोंको रोकना 'इन्द्रिय संयम' है और प्राणधारी जीवोंके प्रति घातिरूपसे प्रवृत्त न होनेका नाम 'प्राणिसंयम' है । ये दोनों ही प्रकारके संयम निर्जराके हेतु हैं । संयमके अधिकारीका यहाँ एक ही विशेषण दिया और वह है आत्मतत्त्वमें स्थित । जो आत्मतत्त्वमें स्थित नहीं वह संयमका पात्र नहीं और इसलिए उसके द्वारा संयम जनित निर्जरा नहीं बनती ।

कौन योगी कर्मरजको स्वयं धुन डालता है

अन्याचार-परावृत्तः स्वतत्त्व-चरणादतः ।

संपूर्ण-संयमो योगी विधुनोति रजः स्वयम् ॥१२॥

'जो योगी अन्य आचारसे विमुख हुआ स्वरूपाचरणमें तत्पर है और पूर्णतः संयमका पालक है वह स्वयं कर्मरजको छिन्न-भिन्न कर डालता है ।'

व्याख्या—यहाँ पूर्णतः संयमी योगीकी बातको लिया गया है और वह वही होता है जो स्वरूपाचरणसे भिन्न अन्याचरणमें रुचि नहीं रखता और स्वरूपाचरणमें सदा तत्पर रहता है । ऐसा योगी बिना किसीकी सहायता अथवा अपेक्षाके स्वयं कर्ममलको विशेषतः धुन डालता है ।

लोकाचारको अपनानेवाले योगीका संयम क्षीण होता है

हित्वा लोकोत्तराचारं लोकाचारमुपैति यः ।

संयमो हीयते तस्य निर्जरायां निबन्धनम् ॥१३॥

'जो योगी लोकोत्तराचारको छोड़कर लोकाचारको अपनाता है उसका संयम, जो कि निर्जराका कारण है, क्षीण हो जाता है ।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस स्वरूपाचरणका उल्लेख है वही यहाँ 'लोकोत्तराचार'के रूपमें विवक्षित है उसे छोड़कर जो योगी लोकाचारमें—लौकिकजनों-जैसी प्रवृत्तिमें—प्रवृत्त होता है उसका संयम हीन-क्षीण हो जाता है, और इसलिए कर्मकी निर्जरा करनेमें समर्थ नहीं होता ।

अर्हद्वचनकी श्रद्धा न करनेवाला सुचरित्र भी शुद्धिको नहीं पाता

चारित्रं विदधानोऽपि पवित्रं यदि तत्त्वतः ।

श्रद्धत्ते नार्हतं वाक्यं न शुद्धिं श्रयते तदा ॥१४॥

'पवित्र चारित्रको पालते हुए भी यदि (योगी) वस्तुतः अर्हन्तके वाक्यका श्रद्धान नहीं करता—उसे अपनी चर्याका आधार नहीं बनाता—तो वह शुद्धिको प्राप्त नहीं होता ।'

व्याख्या—जिस पवित्र संयमका ११वें पद्यमें उल्लेख है और जिसको वहाँ 'जिनागम-निवेदितं' विशेषण दिया है उसीको यहाँ 'चारित्र' शब्दसे उल्लेखित करते हुए उसके उस विशेषणका स्पष्टीकरण किया गया है, जिनागमको आर्हतवाक्य (अर्हत्प्रवचन) बतलाया है और यह घोषणा की है कि जो योगी अर्हन्तके प्रवचनकी श्रद्धा नहीं करता है—श्रद्धापूर्वक जिनागम-कथित संयमका पालन नहीं करता है—वह वास्तवमें पवित्र संयमका पालन करता हुआ भी शुद्धिको प्राप्त नहीं होता । इससे अर्हत्प्रतिपादित संयमके अनुष्ठानमें श्रद्धाकी खास जरूरत है—बिना श्रद्धाका चारित्र स्वयं शुद्ध होते हुए भी शुद्धि-विधानमें असमर्थ है, श्रद्धा उसमें शक्तिका संचार करती है ।

जिनागमको न जानता हुआ संयमी अन्धके समान

विचित्रे चरणाचारे वर्तमानोऽपि संयतः ।

जिनागममजानानः सदृशो गतचक्षुषः ॥१५॥

'नाना प्रकारके चारित्राचारमें प्रवर्तमान हुआ भी जो संयमी जिनागमको नहीं जानता वह चक्षुहीनके समान है—उसका वह आचरण अन्धाचरणके तुल्य है ।'

व्याख्या—यहाँ उस योगीके चारित्रको अन्धाचरणके समान बतलाया है जो जिनागमको नहीं जानता । ऐसे ही आगम-शास्त्रको लक्ष्य करके किसी नीतिकारने कहा है :—

अनेक-संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥

अनेक संशयोंका उच्छेदन करनेवाला और परोक्ष पदार्थसमूहका दिखलानेवाला सबका लोचन (नेत्र) शास्त्र है, जो इस लोचनसे विहीन है वही अन्धा है ।'

किसका कौन नेत्र

साधूनामागमश्चक्षुर्भूतानां चक्षुरिन्द्रियम् ।

देवानामवधिश्चक्षुर्निर्वृताः सर्व-चक्षुषः ॥१६॥

'साधुओंकी चक्षु (आँख) आगम-शास्त्र है, साधारण प्राणियोंकी चक्षु इन्द्रिय है, देवोंकी चक्षु अवधिदर्शन है और जो निर्वृत हैं—मुक्तिको प्राप्त हैं—वे सर्वचक्षु हैं ।'

व्याख्या—यहाँ किसका कौन नेत्र, इसका निर्देश करते हुए साधुओंका नेत्र आगमको, भूतोंका—सर्व प्राणियोंका—नेत्र इन्द्रियको, और देवोंका नेत्र अवधिदर्शनको बतलाया है । साथ ही जो संसारसे मुक्त हो गये हैं उन्हें 'सर्वचक्षु'—सब ओरसे देखनेवाले—लिखा है । प्रवचनसारमें भी 'आगमचक्षु साहू' जैसे वाक्यके द्वारा साधुको आगमचक्षु—आगमनेत्रसे देखनेवाला—बतलाया है । इससे साधुका आगमज्ञाता होना और आगमके अनुसार आचरण करना, ये दोनों ही आवश्यक होते हैं ।

१. आगमचक्षु साहू इन्द्रियचक्षुणि सर्वभूदाणि । देवा य ओहिचक्षु सिद्धा पुण सर्वदो चक्षु ॥

—प्रवचनसार ३-३४

आगम प्रदर्शित सारा अनुष्ठान किसके निर्जराका हेतु

प्रदर्शितमनुष्ठानमागमेन तपस्विनः ।

निर्जराकारणं सर्वं ज्ञात-तत्त्वस्य जायते ॥१७॥

‘आगमके द्वारा प्रदर्शित सारा अनुष्ठान तत्त्वज्ञ-तपस्वीके निर्जराका कारण होता है ।’

व्याख्या—यहाँ आगम-द्वारा प्रदर्शित सारे अनुष्ठानको निर्जराका कारण बतलाते हुए उसके अनुष्ठाता तपस्वी-साधुका एक खास विशेषण ‘ज्ञाततत्त्वस्य’ दिया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि जो साधु तत्त्वोंका ज्ञाता नहीं है अथवा जिसने आत्मतत्त्वको नहीं समझा है उसका आगम-प्रदर्शित अनुष्ठान निर्जराका कारण नहीं होता है अतः आगम-प्रदर्शित अनुष्ठानके लिए तत्त्वोंका ज्ञाता होनेकी परम आवश्यकता है—यों ही तोतारटन्तके रूपमें वह न होना चाहिए । ऐसा कोरा अनुष्ठान प्रायः भावशून्य होता है और इसलिए अनुष्ठानके सम्यक् फलको नहीं फलता । इसी बातको कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें ‘यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः’ इस वाक्यके द्वारा प्रदर्शित किया है । ऐसी भावशून्य क्रियाओंको बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनों (थनों) की उपमा दी गयी है, जो देखनेमें स्तनाकार होते हुए भी स्तनोंका काम नहीं देते—दूध उनसे नहीं निकलता । भावशून्य क्रियाएँ भी देखनेमें अच्छी भली ठीक जान पड़ती हैं परन्तु उनसे फलकी प्राप्ति नहीं होती । इसीसे भावहीनकी पूजादिक, तप, दान, जपादिक और दीक्षादिकको व्यर्थ बतलाया गया है—

भावहीनस्य पूजादिः तपोदान-जपादिकम् ।

व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकण्ठे स्तनाविव ॥

अज्ञानी-ज्ञानीके विषय-सेवनका फल

अज्ञानी बध्यते यत्र सेव्यमानेऽद्भगोचरे ।

तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यताश्चर्यमीदृशम् ॥१८॥

‘इन्द्रिय विषयके सेवन करनेपर जहाँ अज्ञानी कर्मबन्धको प्राप्त होता है वहाँ ज्ञानी कर्म-बन्धनसे छूटता है—कर्मकी निर्जरा करता है—इस आश्चर्यको देखो !’

व्याख्या—पिछले पद्यमें साधुके लिए ‘ज्ञाततत्त्व’ होनेकी जो बात कही गयी है उसके महत्त्वकी इस पद्यमें आश्चर्यके साथ यह कहकर सूचना की गयी कि अज्ञानी जिस कामको करता हुआ कर्म-बन्धनसे बँधता है उसी कामको करता हुआ ज्ञानी कर्म-बन्धनसे छूटता है—कर्मकी निर्जरा करता है । इसमें ‘ज्ञायक’ और ‘वेदक’ के भेदकी वह दृष्टि समायी हुई है जिसका वर्णन ग्रन्थमें अन्यत्र (चौथे अधिकारमें) किया गया है ।

कर्मफलको भोगते हुए किसके बन्ध और किसके निर्जरा

शुभाशुभ-विकल्पेन कर्मायाति शुभाशुभम् ।

भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये निर्विकल्पस्य निर्जरा ॥१९॥

१. ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च । अज्ञानिना पुनः सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च ॥२३॥ यथा वस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते । राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः ॥२४॥ बन्धाधिकार ।

‘शुभ-अशुभ विकल्पके द्वारा शुभ-अशुभ कर्मका आगमन होता है। सम्पूर्ण द्रव्य समूहके भोगते हुए भी जो निर्विकल्प है—राग-द्वेषादि रूप किसी प्रकारका विकल्प नहीं करता—उसके कर्मकी निर्जरा होती है।’

व्याख्या—यहाँ पिछले पद्यको कुछ स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जिस किसी कर्ममें करते अथवा भोगते हुए शुभ-अशुभका विकल्प किया जाता है—उसे अच्छा या बुरा समझा जाता है—उससे शुभ-अशुभ कर्मका आस्रव-बन्ध होता है। और इसलिए जो ज्ञानी साधु कर्मका फल भोगते समय निर्विकल्प रहता है—किसी भी प्रकारका राग-द्वेष नहीं करता—उसका वह भोग निर्जराका कारण होता है—बन्धका नहीं। अज्ञानीके द्वारा यह बात नहीं बनती वह अपने अज्ञानवश उसमें राग-द्वेषादिका विकल्प किये बिना नहीं रहता और इसलिए नये कर्म-बन्धको प्राप्त होता है।

निष्किंचन-योगी भी निर्जराका अधिकारी

अहमस्मि न कस्यापि न ममान्यो बहिस्ततः ।

इति निष्किंचनो योगी धुनीते निखिलं रजः ॥२०॥

‘मैं किसीका भी नहीं हूँ और न अन्य कोई बाह्य पदार्थ मेरा है, इस प्रकार परको न अपनाता हुआ निष्किंचन—निःसंग—योगी सारे कर्मरजको धुन डालता है।’

व्याख्या—यहाँ निर्जराके एक दूसरे अधिकारीका उल्लेख है और वह है ‘निष्किंचन योगी’, जिसका स्वरूप है ‘मैं किसीका नहीं हूँ और इसलिए दूसरा कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है।’ वस्तुतः अकिंचन, निःसंग अथवा अपरिग्रही योगीका यही रूप है। जो दूसरे चेतन-अचेतन पदार्थोंको अपने बनाये रखता है वह अपरिग्रही अथवा अकिंचन कैसा ? और इसलिए निर्जराका अधिकारी नहीं।

विविक्तात्माको छोड़कर अन्योपासककी स्थिति

मुक्त्वा विविक्तात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमुपासते ।

ते भजन्ति हिमं मूढा विमुच्याग्निं हिमच्छिदे ॥२१॥

‘विविक्त—कर्म कलंक विमुक्त—आत्माको छोड़कर जो अन्यकी उपासना करते हैं वे मूढ शीतका नाश करनेके लिए अग्निको छोड़कर हिमका—बर्फका—सेवन करते हैं।’

व्याख्या—यहाँ मुक्तिके लिए अकिंचन भाव अथवा निःसंगताकी साधनामें परकी उपासनाको भी बाधक बतलाते हुए यह प्रतिपादन किया है कि अपने शुद्ध खालिस आत्माको छोड़कर जो परकी उपासना करते हैं वे मूढ़ शीतके विनाशार्थ अग्निको छोड़कर शीतकारी पदार्थोंका ही सेवन करते हैं।

स्वदेहस्थ परमात्माको छोड़कर अन्यत्र देवोपासककी स्थिति

योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि ।

सोऽन्ने सिद्धे गृहे शङ्के भिक्षां भ्रमति मूढधीः ॥२२॥

‘परमात्मदेवके (स्व)देहमें स्थित होनेपर भी जो देवको अन्यत्र ढूँढ़ता है, मैं समझता हूँ, वह मूढ बुद्धि घरमें भोजनके तैयार होनेपर भी भिक्षाके लिए भ्रमण करता है।’

व्याख्या—यहाँ अपने देहमें स्थित परमात्माकी उपासनाको प्रधानता देते हुए लिखा है कि जो देहस्थ परमात्माको छोड़कर अन्यत्र उक्तकी उपासना करता है वह उस मूढबुद्धिके समान है जो घरमें भोजनके तैयार होते हुए भी, उसके न होनेकी आशंका करके, भिक्षाके लिए बाह्य भ्रमण करता है।

कौन कर्म-रज्जुओंसे बँधता और कौन छूटता है

कषायोदयतो जीवो बध्यते कर्मरज्जुभिः ।

शान्त-क्षीणकषायस्य त्रुटयन्ति रभसेन ताः ॥२३॥

‘कषायके उदयसे यह जीव कर्म रज्जु रूप बन्धनोंसे बँधता है, जिसके कषाय शान्त अथवा क्षीण हो जाते हैं उसके वे रज्जु-बन्धन शीघ्र टूट जाते हैं।’

व्याख्या—जिन कषायोंके उदयसे यह जीव कर्मबन्धनोंसे बँधता है वे सब कर्मोंके बन्धन कषायोंके शान्त तथा क्षीण होने पर शीघ्र ही स्वयं टूट जाते हैं। और इस तरह उनकी निर्जरा हो जाती है।

प्रमादी सर्वत्र पापोंसे बँधता और अप्रमादी छूटता है

सर्वत्र प्राप्यते पापैः प्रमाद-निलयीकृतः ।

प्रमाद-दोष-निर्मुक्तः सर्वत्रापि हि मुच्यते ॥२४॥

‘जिसने प्रमादका आश्रय लिया है—जो सदा प्रमादसे घिरा प्रमादी बना हुआ है—वह सर्वत्र पापोंसे—पाप कर्मोंसे—ग्रहीत होता अथवा बँधता रहता है। और जो प्रमादके दोषसे रहित निःप्रमादी है वह सब ठौर पापोंसे मुक्त होता रहता है—नये पाप कर्मोंके बँधनेकी तो बात ही दूर है।’

व्याख्या—यहाँ प्रमादके दोषसे निर्मुक्तको निर्जराका अधिकारी बतलाते हुए लिखा है कि ‘जो प्रमादका आश्रय लिये रहता है वह जहाँ कहीं भी हो पापोंसे बँधता है और जो प्रमादसे निर्मुक्त है वह कहीं भी हो पापोंसे छुटकारा पाता है—उसके साथ नये कर्म बन्धको प्राप्त नहीं होते और पुराने बँधे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है।’

स्वनिर्मलतीर्थको छोड़कर अन्यको भजनेवालोंकी स्थिति

स्वतीर्थममलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद् भजन्ति ये ।

ते मन्ये मलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले ॥२५॥

‘अपने निर्मल आत्मतीर्थको छोड़कर जो शुद्धिके लिए अन्य तीर्थको भजते हैं, मैं समझता हूँ, वे मलिन प्राणी सरोवरको छोड़कर जोहड़में स्नान करते हैं।’

व्याख्या—२३वें पद्यमें परमात्माके देहस्थ होनेकी बात कही गयी है और उस परमात्माको छोड़कर अन्यत्र देवकी खोजपर कुछ आपत्ति की गयी है, यहाँ उसी देहस्थ परमात्माको अपना निर्मल तीर्थ बतलाया है और यह सूचित किया है कि जो शुद्धिके इच्छुक मलिन प्राणी

अपने उस निर्मल तीर्थको छोड़कर अन्य तीर्थकी उपासना करते हैं वे सरोवरको छोड़कर जोहड़में स्नान करते हैं; क्योंकि दूसरे एक तो आत्मतीर्थसे परतीर्थको प्रधानता प्राप्त होती है, जो कि अतत्त्वश्रद्धारूप मिथ्यात्वका द्योतक एक प्रकारका विकार है; दूसरे परमें रागके कारण आत्मा कर्ममलसे लिप्त होता है। अतः स्वतीर्थको छोड़कर परतीर्थका सेवन जोहड़में स्नानके समान है, जिससे निर्मलताके स्थानपर कुछ मलका ही ग्रहण होता है। ऐसी आचार्य महोदयने कल्पना की है।

स्वात्मज्ञानेच्छुकको परीषहोंका सहना आवश्यक

स्वात्मानमिच्छुभिर्ज्ञातुं सहनीयाः परीषहाः ।

नश्यत्यसहमानस्य स्वात्म-ज्ञानं परीषहात् ॥२६॥

‘अपने आत्माको जाननेके इच्छुकोंको परीषह सहन करनी चाहिए, जो परीषहोंको सहन नहीं करता उसका स्वात्मज्ञान परीषहोंके उपस्थित होने पर स्थिर नहीं रहता—नाशको प्राप्त हो जाता है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस निर्मल आत्मतीर्थकी बात कही गयी है उसे जां जानने-पहचाननेके इच्छुक हैं उनके लिए यहाँ परीषहोंका सहन करना आवश्यक बतलाया है, जिनकी संख्या आगममें बाईस बतलायी गयी है और उनके नाम हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, नग्नता, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सस्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओं आदि ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ दिया है। इन परीषहोंको जो सहन नहीं करता है इसका स्वात्मज्ञान नष्ट हो जाता है—अर्थात् प्रथम तो उत्पन्न नहीं होता और यदि उत्पन्न होता भी है तो स्थिर नहीं रहता। इसीसे श्री पूज्यपादाचार्यने लिखा है :—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसंनिधौ ।

तस्माद्यथा बलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥

‘जो आत्मज्ञान अदुःख-भावित है—दुःखकी भावना-संस्कृतिको साथमें लिये हुए नहीं है—बह परीषहजन्य दुःखके उपस्थित होनेपर क्षीण हो जाता है, इसलिए जितनी भी अपनेमें शक्ति हो उसके अनुसार मुनिको परीषहजन्य दुःखोंसे अपनेको भावित-संस्कारित करना चाहिए।’

सुख-दुःखमें अनुबन्धका फल

अनुबन्धः सुखे दुःखे न कार्यो निर्जरार्थिभिः ।

आर्तं तदनुबन्धेन जायते भूरिकर्मदम् ॥२७॥

‘जो निर्जराके अर्थी—अभिलाषी हैं उनके द्वारा सुखमें तथा दुःखमें अनुबन्ध—अनुवर्तन-रूप सम्बन्ध— नहीं किया जाना चाहिए;—क्योंकि—उस अनुबन्धसे आर्तध्यान उत्पन्न होता है, जो बहुत कर्मोंका दाता है।’

व्याख्या—जो कर्मोंकी निर्जराके इच्छुक हैं उन्हें आचार्य महोदयने यहाँ एक बड़ा ही सुन्दर एवं हितकारी उपदेश दिया है और यह कि उन्हें परीषहोंके उपस्थित होनेपर जो दुःख

होते हैं और परीषहोंके अभावमें जो सुख प्राप्त होता है उन सुख-दुःख दोनोंके साथ अपनेको बाँधना नहीं चाहिए—सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि सुखी-दुःखी होनेसे आर्तध्यान बनता है, जो बहुत ज्यादा कर्मबन्धका कारण होता है और उससे निर्जराका लक्ष्य नष्ट हो जाता है। पिछले एक पद्य (६) में कहा भी है कि यदि सरोवरमें नये जलका प्रवेश हो रहा है तो सरोवरकी रिक्तता कैसी ? अतः नये कर्मबन्धको प्राप्त न हों और पुराने कर्मोंका विच्छेद हो जाये तभी निर्जराकी सार्थकता है। इसके लिए उदयको प्राप्त हुए कर्मोंमें राग-द्वेष न करके समता भावके रखने की बड़ी जरूरत है।

आत्मशुद्धिका साधन आत्मज्ञान, अन्य नहीं

आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्धयति नान्यतः ।

अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदृशोऽखिलाः ॥२८॥

‘निश्चयसे आत्मा आत्मज्ञानसे शुद्ध होता है, अन्यसे नहीं। जो अन्य पदार्थसे शुद्धि चाहते हैं वे सब विपरीतबुद्धि अथवा मिथ्यादृष्टि हैं।’

व्याख्या—जिस स्वात्माको जाननेके लिए २६वें पद्यमें परीषहोंको सहनेकी बात कही गयी है उसके परिज्ञानसे ही आत्मामें उत्तरोत्तर शुद्धिकी प्राप्ति होती है। जो लोग किसी दूसरे उपायसे आत्माकी शुद्धि मानते अथवा करना चाहते हैं उन्हें यहाँ विपरीत दृष्टि—मिथ्या दृष्टि बतलाया है। इससे आत्मशुद्धिके लिए आत्मज्ञानका होना परमावश्यक है और सब तो सहायक अथवा निमित्तकारण हो सकते हैं।

परद्रव्यसे आत्मा स्पष्ट तथा शुद्ध नहीं होता

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा ।

पर-द्रव्य-बहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ॥२९॥

‘आत्मा जो परद्रव्यसे सर्वथा बहिर्भूत है वह परद्रव्यके द्वारा, चाहे वह समल हो या निर्मल, किसी तरह स्पृष्ट तथा शुद्ध नहीं किया जाता।’

व्याख्या—इस पद्यमें आत्माकी शुद्धिके सिद्धान्तका निर्देश करते हुए यह बतलाया है कि आत्मा परद्रव्योंसे बहिर्भूत है—किसी भी परद्रव्यका उसके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं बनता—ऐसी स्थितिमें किसी भी परद्रव्यसे, चाहे वह निर्मल हो या समल, जब आत्मा सर्वदा स्पर्शित नहीं होता तब उसके द्वारा शुद्धिको प्राप्त कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। इस तरह आत्माकी शुद्धिमें स्वात्मज्ञानको छोड़कर दूसरे सब उपायोंको वस्तुतः असमर्थ बतलाया है।

स्वात्मरूपकी भावनाका फल परद्रव्यका त्याग

स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्य-जिहासया ।

न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः ॥३०॥

‘परद्रव्यके त्यागकी इच्छासे आत्मस्वरूपकी भावना करनी चाहिए। जो परद्रव्यको नहीं छोड़ता वह आत्मस्वरूपका अभिभावक है—अनादर करनेवाला है।’

व्याख्या—पिछले पद्यानुसार जब आत्मा परद्रव्यसे सर्वथा बहिर्भूत है तब परद्रव्योंके त्यागकी इच्छासे ही उसकी भावना की जानी चाहिए—न कि परद्रव्योंको साथ लेकर । जो परद्रव्यको नहीं छोड़ता—परद्रव्यमें आसक्ति बनाये रखता है—वह अपने आत्मस्वरूपकी अवज्ञा करता है और इसलिए स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धिको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता ।

आत्मद्रव्यको जाननेके लिए परद्रव्यका जानना आवश्यक

विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्य-जिघृक्षया ।

अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिघृक्षति ॥३१॥

‘आत्मद्रव्यको ग्रहण करनेकी इच्छासे परद्रव्यको जानना चाहिए । जो परद्रव्यके ज्ञानसे रहित है वह आत्मद्रव्यके ग्रहणकी इच्छा नहीं करता ।’

व्याख्या—यहाँ परद्रव्यको जाननेकी दृष्टिका निर्देश किया गया है और वह है अपने आत्मद्रव्यको ग्रहणकी दृष्टि । जो अपने साथ रलेमिले परद्रव्यको नहीं जानता—पहचानता उसे अपने आत्मद्रव्यको पृथक् रूपसे ग्रहणकी इच्छा ही नहीं होती । जिसको स्व-परका भेद-विज्ञान न होनेसे आत्मद्रव्यके पृथक् रूपसे ग्रहणकी इच्छा तथा भावना नहीं होती वह पिछले पद्यमें वर्णित परद्रव्यके त्यागकी इच्छासे स्वात्मरूपकी भावना कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता । अतः शुद्धस्वात्मद्रव्यकी उपलब्धि रूप सिद्धिकी दृष्टिसे परद्रव्यका जानना आवश्यक है—अन्यथा स्वात्मोपलब्धि नहीं होती ।

जगत्के स्वभावकी भावनाका लक्ष्य

स्व-तत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्य-विरक्तये ।

स्वभावो जगतो भाव्यः समस्तमलशुद्धये ॥३२॥

‘स्वतत्त्वमें अनुरक्ति, परद्रव्योंसे विरक्ति और समस्त कर्ममलकी शुद्धिके लिए जगत्का स्वभाव भावना किये जानेके योग्य है ।’

व्याख्या—यहाँ जगत्के स्वभावकी सदा भावना करनेका उपदेश दिया है और उसके तीन उद्देश्य बतलाये हैं—एक स्वात्मद्रव्यमें रति, दूसरा परद्रव्यसे विरक्ति और तीसरा समस्त कर्ममलसे आत्माकी शुद्धि । समस्त कर्ममलमें द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप तीनों प्रकारका कर्ममल आता है । जगत् छह द्रव्योंसे बना है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन छहोंके यथार्थ स्वरूपके चिन्तनमें जगत्के स्वभावकी सारी भावना आ जाती है । ग्रन्थके प्रथमादि अधिकारोंमें इनका कितना ही वर्णन आ चुका है ।

एक आश्चर्यकी बात

यत् पञ्चाभ्यन्तरैः पापैः सेव्यमानः प्रबध्यते ।

न तु पञ्चबहिर्भूतैराश्चर्य^३ किमतः परम् ॥३३॥

‘जो जीव अन्तरंगमें स्थित पाँच पापोंसे सेव्यमान है वह तो बन्धको प्राप्त होता है किन्तु जो बहिर्भूत पाँचों पापोंसे सेव्यमान नहीं है वह बन्धको प्राप्त नहीं होता इससे ज्यादा आश्चर्यकी बात और क्या है ?’

१. गृहीतुमिच्छया ।

२. मु जगतां ।

३. मु पञ्चबहिर्भूतमाश्चर्य ।

व्याख्या—अन्तरंग सेनाके अंगरक्षक जवानोंकी सेवाको प्राप्त एवं सुरक्षित हुआ राजा शत्रुसे बाँधा नहीं जाता; परन्तु जब वे अंगरक्षक उसकी सेवामें नहीं होते और राजा अकेला पड़ जाता है तब वह शत्रुसे बाँध लिया जाता है। यहाँ इस लोक-स्थितिके विपरीत यह दिखलाया है कि जो जीव अन्तरंगमें स्थित पाँच पापरूप अंगरक्षकोंसे सेवित है वह तो कर्म शत्रुसे बाँध जाता है परन्तु जिसके उक्त पाँच सेवक बहिर्भूत हो जाते हैं—उसकी सेवामें नहीं रहते—और वह अकेला पड़ जाता है उसे कर्मशत्रु बाँधनेमें असमर्थ है। लोक-व्यवहार एवं प्रत्यक्षके विरुद्ध होनेसे इसपर भारी आश्चर्य व्यक्त किया गया है। और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि जिन पापोंको तुम अपने संगी-साथी एवं रक्षक समझते हो वे सब वस्तुतः तुम्हारे बन्धके कारण हैं, उनका साथ छोड़नेपर ही तुम बन्धको प्राप्त नहीं हो सकोगे। अज्ञानी प्राणी समझता है कि मैं हिंसा करके, झूठ बोलकर, चोरी करके, विषय सेवन करके और परिग्रहको बढ़ाकर आत्मसेवा करता हूँ—अपनी रक्षा करता हूँ, यह सब भूल है; इन पाँचों पापोंसे, जो कि वास्तवमें सेवक-संरक्षक न होकर अन्तरंग शत्रु हैं, कर्मोंका बन्धन दृढ़ होता है अतः जो कर्मोंके बन्धनसे बाँधना नहीं चाहते उन्हें अपने हृदयसे इन पाँचों पापोंको निकाल बाहर कर देना चाहिए, तभी अबन्धता और अपनी रक्षा बन सकेगी।

ज्ञानकी आराधना ज्ञानको, अज्ञानकी अज्ञानको देती है

‘ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति ।

आराधना कृता यस्माद् विद्यमानं प्रदीयते ॥३४॥

‘ज्ञानकी आराधना ज्ञानको, अज्ञानकी आराधना अज्ञानको प्रदान करती है; क्योंकि जिसके पास जो वस्तु विद्यमान है वही दी जाती है।’

व्याख्या—जिसके पास जो वस्तु विद्यमान है उसीको वह दे सकता है, यह एक सिद्धान्तकी बात है। ज्ञानके पास ज्ञानको छोड़कर और अज्ञानके पास अज्ञानको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं अतः ज्ञानकी आराधना करने पर ज्ञान और अज्ञानकी आराधना करने पर अज्ञान प्राप्त होता है।

ज्ञानके ज्ञात होनेपर ज्ञानी जाना जाता है

न ज्ञान-ज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यतः ।

ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः ॥३५॥

‘चूँकि ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेद विद्यमान नहीं है इसलिए ज्ञानके ज्ञात होनेपर वस्तुतः ज्ञानी ज्ञात होता है—जाना जाता है।’

व्याख्या—ज्ञान और ज्ञानी एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञान गुण है, ज्ञानी गुणी है, गुण-गुणीमें सर्वथा भेद नहीं होता; दोनोंका तादात्म्य-सम्बन्ध होता है और इसलिए वास्तवमें ज्ञानके मालूम पड़ने पर ज्ञानी (आत्मा) का होना जाना जाता है। यहाँ सर्वथा भेद न होनेकी जो बात कही गयी है वह इस बातको सूचित करती है कि दोनोंमें कथंचित्

१. अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः । ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

— इष्टोपदेशे पूज्यपादः ।

भेद है, जो कि संज्ञा (नाम), संख्या, लक्षण तथा प्रयोजनादिके भेदकी दृष्टिसे हुआ करता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः ।

प्रयोजनादि-भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥—देवागम ७२ ।

ज्ञानानुभवसे हीनके अर्थज्ञान नहीं बनता

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण प्रत्यक्षमनुभूयते ।

ज्ञानानुभवहीनस्य नार्थज्ञानं प्रसिद्धयति ॥३६॥

‘सबके द्वारा अपने आत्मामें ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है । जो ज्ञानके अनुभवसे रहित है उसके पदार्थका ज्ञान सिद्ध नहीं होता ’

व्याख्या—सभी प्राणी किसी भी इन्द्रियके द्वारा अपने आत्मामें ज्ञानका अनुभव करते हैं, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है । जिसे अपनेमें कुछ भी ज्ञानका अनुभव नहीं होता उसके किसी भी पदार्थका कोई ज्ञान नहीं बनता । छुईमुई (लाजवन्ती) नामका पौधा जब स्पर्शन-इन्द्रियके द्वारा यह महसूस करता है कि उसको किसीने छुआ—उसपर कोई आपत्ति आयी—तो वह अपनेको संकुचित कर लेता अथवा मृतरूपमें प्रदर्शित करता है, इससे उसके स्पर्श-विषयक अर्थज्ञानका होना पाया जाता है और इसलिए उसमें ज्ञान-गुण धारक ज्ञानीका अस्तित्व सिद्ध होता है—चाहे वह ज्ञान कितनी ही थोड़ी मात्रामें विकसित क्यों न हो ।

जिस परोक्षज्ञानसे विषयकी प्रतीति उससे ज्ञानीकी प्रतीति क्यों नहीं ?

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि ।

सोऽनेन परकीयेण तदा किं न प्रतीयते ॥३७॥

‘परोक्ष ज्ञानके द्वारा यदि विषय प्रतीत किया जाता है तो इस परकीय (परोक्ष) ज्ञानके द्वारा ज्ञानी आत्माकी प्रतीति क्यों नहीं होती ?’

व्याख्या—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच सम्यग्ज्ञानोंमें आदिके दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहे जाते हैं । इन परोक्ष ज्ञानोंसे जब इन्द्रियोंका विषय-समूह प्रतीति-गोचर होता है तब आत्मा जो ज्ञानका विषय ज्ञेय है वह इस परोक्ष ज्ञानके द्वारा क्यों प्रतीति-गोचर नहीं किया जाना चाहिए ? किया जाना ही चाहिए । ज्ञेय होनेसे वह भी ज्ञान अथवा ज्ञानीका विषय है—भले ही परोक्ष रूपमें क्यों न हो ।

जिससे पदार्थ जाना जाय उससे ज्ञानी न जाना जाय, यह कैसे ?

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथम् ।

उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किम् ॥३८॥

‘जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसके द्वारा ज्ञानी (ज्ञाता) कैसे नहीं जाना जाता ? जिसके द्वारा उद्योत (प्रकाश) देखा जाता है उसके द्वारा क्या दीपक नहीं देखा जाता ?—देखा ही जाता है ।

व्याख्या—पिछले पद्यके विषयको यहाँ दीपक और उसके प्रकाशदर्शनके उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार दीपकके प्रकाशको देखनेवाला दीपकको भी देखता है उसी प्रकार जो ज्ञेय रूप पदार्थको जानता है वह उसके ज्ञायक अथवा ज्ञानीको भी जानता है, न जाननेकी बात कैसी ?

वेद्यको जानना वेदकको न जानना आश्चर्यकारी

विदन्ति दुर्धियो वेद्यं वेदकं न विदन्ति किम् ।
द्योत्यं पश्यन्ति न द्योतमाश्चर्यं बत कीदृशम् ॥३६॥

‘दुर्बुद्धि वेद्यको तो जानते हैं वेदकको क्यों नहीं जानते ? प्रकाशको तो देखते हैं किन्तु प्रकाशकको नहीं देखते, यह कैसा आश्चर्य है ?’

व्याख्या—निःसन्देह ज्ञेयको जानना और ज्ञायकको—ज्ञान या ज्ञानीको—न जानना एक आश्चर्यकी बात है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रकाशसे प्रकाशित वस्तुको तो देखना किन्तु प्रकाशको न देखना। ऐसे ज्ञायक-विषयमें अज्ञानियोंको यहाँ दुर्बुद्धि—विकार-ग्रसित बुद्धि वाले—बतलाया है। पिछले पद्यमें दीपक और उसके उद्योतकी बातको लेकर विषयको स्पष्ट किया गया है, यहाँ उद्योत और उसके द्वारा द्योतित (द्योतनीय) पदार्थ—की बातको लेकर उसी विषयको स्पष्ट किया गया है। द्योतक, द्योत और द्योत्यका जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका है। एकके जानने-से दूसरा जाना जाता है। जिसे एकको जानकर दूसरेका बोध नहीं होता वही सचमुच दुर्बुद्धि है।

ज्ञेयके लक्ष्यसे आत्माके शुद्धरूपको जानकर ध्यानेका फल

ज्ञेय-लक्ष्येण विज्ञाय स्वरूपं परमात्मनः ।

व्यावृत्त्य लक्ष्यतः शुद्धं ध्यायतो हानिरंहसाम् ॥४०॥

‘ज्ञेयके लक्ष्य-द्वारा आत्माके परमस्वरूपको जानकर और लक्ष्यरूपसे व्यावृत्त होकर शुद्ध स्वरूपका ध्यान करनेवालेके कर्मोंका नाश होता है।’

व्याख्या—जो लोग ज्ञेयको जाननेमें प्रवृत्त होते हुए भी ज्ञायकको जाननेमें अपनेको असमर्थ बतलाते हैं उन्हें यहाँ ज्ञेयके लक्ष्यसे आत्माके उच्छुद्ध स्वरूपको जाननेकी बात कही गयी है और साथ ही यह सुझाया गया है कि इस तरह शुद्ध स्वरूपके सामने आनेपर ज्ञेयके लक्ष्यको छोड़कर अपने उस शुद्ध स्वरूपका ध्यान करो, इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

पूर्व कथनका उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण

चटुकेन यथा भोज्यं गृहीत्वा स विमुच्यते ।

गोचरेण तथात्मानं विज्ञाय स विमुच्यते ॥४१॥

‘जिस प्रकार कड़ली-चम्मचसे भोजन ग्रहण करके उसे छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार गोचरके—ज्ञेय लक्ष्य-द्वारा आत्माको जानकर वह छोड़ दिया जाता है।’

१. आ ज्ञायलक्षणे । २. दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सृजेत् ॥ —यशस्तिलक ।

व्याख्या— यहाँ कड़ली-चम्मचके उदाहरण-द्वारा पूर्व पद्यमें वर्णित विषयको स्पष्ट किया गया है। कड़ली-चम्मचका उपयोग जिस प्रकार भोजनके ग्रहण करनेमें किया जाता है उसी प्रकार आत्माके जाननेमें ज्ञेयके लक्ष्यका उपयोग किया जाता है। आत्माका ग्रहण (जानना) हो जानेपर ज्ञेयका लक्ष्य छोड़ दिया जाता है, और अपने ग्रहीत स्वरूपका ध्यान किया जाता है।

आत्मोपलब्धिपर ज्ञानियोंकी सुख-स्थिति

उपलब्धे यथाहारे दोषहीने सुखासिकः^१ ।

आत्मतत्त्वे तथा क्षिप्रमित्यहो ज्ञानिनां रतिः ॥४२॥

‘दोषरहित आहारके उपलब्ध होनेपर जिस प्रकार सुख मिलता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्वके उपलब्ध होनेपर शीघ्र सुख मिलता है, यह ज्ञानियोंकी आत्मतत्त्वमें कैसी रति है !’

व्याख्या—निर्दोष भोजनके मिलनेपर जिस प्रकार प्राणियोंकी शीघ्र ही सुखसे स्थिति होती है उसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वरूप भोजनके मिल जानेपर ज्ञानियोंकी सुखपूर्वक स्थिति होती है, यह ज्ञानियोंकी आत्मतत्त्वमें रुचिका वैचित्र्य है—वे उसीमें लीन रहकर सुखका अनुभव करते हैं।

आत्मतत्त्वरतोंके द्वारा परद्रव्यका त्याग

परद्रव्यं यथा सद्भिर्ज्ञात्वा दुःख-विभीरुभिः ।

दुःखदं त्यज्यते दूरमात्मतत्त्वरतैस्तथा ॥४३॥

‘जिस प्रकार दुःखसे भयभीत सत्पुरुषोंके द्वारा पर-द्रव्य दूरसे ही छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार आत्म-तत्त्वमें लीन व्यक्तियोंके द्वारा परद्रव्य दूरसे ही छोड़ दिया जाता है।’

व्याख्या—दुःखसे भयभीत हुए सज्जन जिस प्रकार पर-द्रव्यको दुःखदायी समझकर उसे दूरसे ही त्याग देते हैं—ग्रहण नहीं करते—उसी प्रकार जो आत्मतत्त्वमें रत हैं वे परद्रव्यको ग्रहण नहीं करते—उसमें आसक्त नहीं होते।

विशोधित ज्ञान तथा अज्ञानकी स्थिति

ज्ञाने विशोधिते ज्ञानमज्ञानेऽज्ञानमूर्जितम् ।

शुद्धं स्वर्णमिव स्वर्णे लोहे लोहमिवाश्नुते^२ ॥४४॥

‘ज्ञानके विशोधित होनेपर ज्ञान और अज्ञानके विशोधित होनेपर अज्ञान ऊर्जित—अतिशय-को प्राप्त—होता है, जैसे स्वर्णके विशोधित होनेपर शुद्ध स्वर्ण और लोहेके विशोधित होनेपर शुद्ध लोहा गुणवृद्धिको प्राप्त होता है।’

व्याख्या—ज्ञानमें जो कुछ अज्ञान मिला हो उसको दूर करना ‘ज्ञानका विशोधन’ और अज्ञानमें जो कुछ ज्ञान मिला हो उसका दूर करना ‘अज्ञानका विशोधन’ कहलाता है। यह विशोधित हुआ ज्ञान विशोधित शुद्ध स्वर्णके समान सातिशय शुद्ध ज्ञान होता है और यह विशोधित हुआ अज्ञान विशोधित शुद्ध लोहेके समान विशुद्ध (खालिस) अज्ञान होता है।

१. आ सुखासिकका । २. लभते ।

निर्मल चेतनमें मोहक दिखाई देनेका हेतु

प्रतिबिम्बं यथादर्शं दृश्यते परसंगतः ।
चेतने निर्मले मोहस्तथा^१ कल्मषसंगतः ॥४५॥

‘जिस प्रकार निर्मल दर्पणमें परके संयोगसे प्रतिबिम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार निर्मल चेतनमें कर्मके सम्बन्धसे मोह दिखाई देता है ।’

व्याख्या—निर्मल दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है उसका कारण उस परद्रव्यका सम्बन्ध है जो लेपादिके रूपमें पृष्ठभागपर लगा रहता है। निर्मल आत्मामें भी जो मोह दिखाई पड़ता है उसका कारण कषायादिरूप द्रव्यकर्मका सम्बन्ध है। यदि द्रव्यकर्मका सम्बन्ध न हो तो भाव मोहका दर्शन नहीं हो सकता।

शुद्धिके लिए ज्ञानाराधनमें बुद्धिको लगानेकी प्रेरणा

धर्मेण वासितो जीवो धर्मे पापे न वर्तते ।
पापेन वासितो नूनं पापे धर्मे न सर्वदा ॥४६॥
ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन ।
यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धि^२ विधित्सुभिः ॥४७॥

‘धर्मसे वासित—संस्कारित हुआ जीव निश्चयसे धर्ममें प्रवर्तता है, अधर्ममें नहीं। पापसे वासित—संस्कारित हुआ जीव सदा पापमें प्रवृत्त होता है, धर्ममें नहीं। चूंकि ज्ञानसे संस्कारित हुआ जीव ज्ञानमें प्रवृत्त होता है अज्ञानमें कदाचित् नहीं, इसलिए शुद्धिकी इच्छा रखनेवालोंके द्वारा ज्ञानमें—ज्ञानकी उपासना-आराधनामें—बुद्धि लगायी जानी चाहिए ।’

व्याख्या—यहाँ ‘धर्म’शब्दके द्वारा पुण्य-प्रसाधक कर्मका उल्लेख करते हुए, पुण्य-पाप तथा ज्ञानकी वासना—भावना अथवा संस्कृतिको प्राप्त व्यक्तियोंकी अलग-अलग प्रवृत्तिका उल्लेख किया गया है। जो लोग पुण्य धर्मकी भावनासे भावित अथवा संस्कारित होते हैं वे पुण्यकर्ममें प्रवृत्त होते हैं—पापकर्ममें नहीं। जो पापकी वासनासे वासित अथवा संस्कारित होते हैं वे सदा पापकर्ममें प्रवृत्ति करते हैं—पुण्य कर्ममें नहीं। और जो ज्ञान-भावनासे भावित अथवा संस्कारित होते हैं वे सदा ज्ञानाराधनमें प्रवृत्त होते हैं—अज्ञानकी साधनामें कभी नहीं। प्रथम दो प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियोंका फल शुभ-अशुभ कर्मका बन्ध है, जिससे आत्माकी शुद्धि नहीं बनती अतः आत्माकी शुद्धि चाहनेवालोंके लिए यहाँ ज्ञानाराधनमें अपनी बुद्धिको लगानेकी प्रेरणा की गयी है। ज्ञानाराधनमें बुद्धिको लगाना एक बड़ा तपश्चरण है, जिससे निरन्तर कर्मोंकी निर्जरा होती है।

निर्मलताको प्राप्त ज्ञानी अज्ञानको नहीं अपनाता

ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो नाज्ञानं प्रतिपद्यते ।
मलिनत्वं कुतो याति^३ काञ्चनं हि विशोधितम् ॥४८॥

१. आ मोहिस्तथा । २. आ सिद्धि । ३. आ जाति ।

‘निर्मलताको प्राप्त हुआ ज्ञानी अज्ञानको प्राप्त नहीं होता (ठीक है) विशोधित स्वर्ण मलिनताको कैसे प्राप्त होता है ? नहीं होता ।’

व्याख्या—अनादि सम्बन्धको प्राप्त क्लृप्त-कालिमासे विशोधित हुआ सुवर्ण जिस प्रकार पुनः उस मलिनताको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार अनादि कर्ममलका सम्बन्ध पूर्णतः छूटनेपर निर्मलताको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुनः अज्ञानको प्राप्त नहीं होता । यहाँ जिस निर्मल ज्ञानीका उल्लेख है वह मोहक्षयके अनन्तर ज्ञानावरण और अन्तराय नामके घातिया कर्मोंके क्षयसे समुत्पन्न केवलज्ञानका धनी ज्ञानी है ।

विद्वान्के अध्ययनादि कर्मोंकी दिशाका निर्देश

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं
पृच्छयं^१ श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम् ।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं^२
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम् ॥४६॥

‘इस लोकमें विद्वान्के द्वारा वह कोई भी पदार्थ स्थिर चित्तसे अध्ययनके योग्य, ध्यानके योग्य, आराधनके योग्य, पूछनेके योग्य, सुननेके योग्य, अभ्यासके योग्य, संग्रहणके योग्य, जाननेके योग्य, कहनेके योग्य, प्रार्थनाके योग्य, प्राप्त करनेके योग्य, देखनेके योग्य और स्पर्शके योग्य होता है, जिससे—जिसके अध्ययनादिसे—आत्मस्वरूपकी स्थिरता सदा वृद्धिको प्राप्त होती है ।’

व्याख्या—इस पद्यमें एक विद्वान्के लिए अध्ययनादि-विषयक जीवनके लक्ष्यको बड़ी सुन्दरताके साथ व्यापक रूपमें व्यक्त किया है । वह लक्ष्य है अपने आत्मस्वरूपमें स्थिरताकी उत्तरोत्तर वृद्धि । इसी लक्ष्यको लेकर किसी भी पदार्थका अध्ययन, ध्यान, आराधन, पृच्छन, श्रवण, अभ्यसन, ग्रहण, वेदन, कथन, याचन, दर्शन तथा स्पर्शन होना चाहिए । यदि उक्त लक्ष्य नहीं तो अध्ययनादि प्रायः व्यर्थ है । उससे कोई खास लाभ नहीं—उलटा शक्तिका दुरुपयोग होता है ।

योगीका संक्षिप्त कार्यक्रम और उसका फल

इत्थं योगी व्यपगतपर-द्रव्य-संगप्रसङ्गो
नीत्वा कामं चपल-करण-ग्राममन्तर्मुखत्वम् ।
ध्यात्वात्मानं विशदचरण-ज्ञान-दृष्टिस्वभावं,
३ नित्यज्योतिः पदमनुपमं याति निर्जीर्णकर्मा ॥५०॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते निर्जराधिकारः ॥६॥

१. आ पृश्यं । २. आ, व्या नीत्वा । ३. सु नित्यं ।

इस प्रकार पर-द्रव्यके संग-प्रसंगसे रहित हुआ कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला योगी चंचल इन्द्रिय समूहको यथेष्ट (अथवा पर्याप्त) अन्तर्मुख करके और विशुद्ध-दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव रूप आत्माका ध्यान करके उस शाश्वत ज्योतिरूप परमात्मपदको प्राप्त होता है जिसकी कोई उपमा नहीं ।'

व्याख्या—इस पद्यमें छोटे अधिकारका उपसंहार करते हुए कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले योगीके स्वरूपको, ध्यान विषयको और ध्यानके फलको संक्षेपमें स्पष्ट किया गया है । योगीका स्वरूप है परद्रव्योंके संग-प्रसंगसे अलग होकर इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करनेवाला । इस योग्यता-सम्पादनके साथ उसके ध्यानका विषय है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावको लिये हुए शुद्ध आत्मा और इस ध्यानका अन्तिम फल है शाश्वत ज्योति स्वरूप अनुपम परमात्म-पदकी प्राप्ति ।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंग योगिराज-विरचित योगसार-प्राभृतमें निर्जरा
अधिकार नामका छठा अधिकार समाप्त हुआ ॥६॥



मोक्षाधिकार

मोक्षका स्वरूप

‘अभावे बन्ध-हेतूनां निर्जरायां च भास्वरः^१ ।

समस्तकर्म-विश्लेषो मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः ॥१॥

‘कर्मबन्धके कारणोंका अभाव होनेपर और (संचित कर्मोंकी) निर्जरा होनेपर (आत्मासे) निःशेष कर्मोंका जो विश्लेष है—सम्बन्धाभाव अथवा पृथकीभवन है—वह भास्वर मोक्ष है, जिसे ‘अपुनर्भव’ कहते हैं—क्योंकि मोक्षके पश्चात् फिर संसारमें जन्म नहीं होता ।’

व्याख्या—‘मोक्ष’ नामक सातवें अधिकारका प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले मोक्षका स्वरूप दिया गया है और वह है आत्मासे समस्त कर्मोंका पूर्णतः सम्बन्धाभाव, जिसे ‘विश्लेष’ तथा ‘विप्रमोक्ष’ भी कहते हैं और वह तभी बनता है जब बन्धके मिथ्या दर्शनादि वे सभी हेतु नष्ट हो जाते हैं जिनका आस्रव तथा बन्ध अधिकारोंमें वर्णन है, साथ ही संचित कर्मोंकी पूर्णतः निर्जरा भी हो जाती है, जिससे न कोई नया कर्म बन्धको प्राप्त हो सकता है और न कोई पुराना कर्म अवशिष्ट ही रहता है। इस तरह सर्व प्रकारके समस्त कर्मोंका जो सदाके लिए पृथकीभवन (सम्बन्धाभाव) है उसे ‘मोक्ष’ कहते हैं जिसका दूसरा नाम यहाँ ‘अपुनर्भव’ बतलाया है, क्योंकि भव प्राप्ति अथवा संसारमें पुनः जन्म लेनेका कारण कर्मरूपी बीज था, वह जब जलकर नष्ट हो गया तब फिर उसमें अंकुर नहीं उगता। कहा भी है :—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।

कर्म-बीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवाङ्कुरः ॥ -तत्त्वार्थसार-८-७ ।

आत्मामें केवलज्ञानका उदय कब होता है

उदेति केवलं जीवे^३ मोह-विघ्नावृत्ति-क्षये ।

भानु-बिम्बमिवाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये ॥२॥

‘मोह अन्तराय और आवरणोंका क्षय होनेपर आत्मामें केवलज्ञान उसी प्रकार उदयको प्राप्त होता है जिस प्रकार (रात्रिका घोर) अन्धकार दूर होनेपर आकाशमें सूर्य बिम्ब उदयको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—यहाँ ‘मोह’ शब्दसे समूचा मोहनीय कर्म विवक्षित है, जिसकी मिथ्यात्व तथा कषायादिके रूपमें २८ प्रकृतियाँ हैं; ‘विघ्न’ शब्दसे सारा अन्तराय कर्म विवक्षित है, जिसकी दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य नामसे ५ प्रकृतियाँ हैं, ‘आवृत्ति’ शब्दसे आवरण विवक्षित है,

१. बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः । —त० सूत्र १०-२ । २. आ निर्जरायाश्च भावतः । ३. आ जीवो ।

जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मके रूपमें दो प्रकारका है। इस तरह जिन चार मूल प्रकृतियों-का यहाँ उल्लेख है उन्हें घाति कर्म प्रकृतियाँ कहा जाता है। उनके पूर्णतः क्षय होने पर आत्मा-में केवलज्ञानका उदय उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि रात्रिका घोर अन्धकार नष्ट होने पर आकाशमें देदीप्यमान सूर्यबिम्बका उदय होता है।

दोषोंसे मलिन आत्मामें केवलज्ञान उदित नहीं होता

न दोषमलिने तत्र प्रादुर्भवति केवलम् ।

आदर्शे न मलग्रस्ते किञ्चिद् रूपं प्रकाशते ॥३॥

‘आत्माके दोषोंसे मलिन होनेके कारण उसमें केवलज्ञान प्रादुर्भूत नहीं होता (जैसे) मलसे अभिभूत दर्पणमें रूप कुछ प्रकाशित नहीं होता।’

व्याख्या—यहाँ पिछली (केवलज्ञानके उदयकी) बातको और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो आत्मा दोषोंसे—राग-द्वेष-काम-क्रोधादि मलोंसे—मलिन है उसमें केवलज्ञान उसी प्रकारसे उदयको प्राप्त नहीं होता जिस प्रकार धूल-धूसरित दर्पणमें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। रूपके ठीक दिखलाई देनेके वास्ते जिस प्रकार दर्पणका निर्मल होना परमावश्यक है उसी प्रकार केवलज्ञानके उदयके लिए उस चतुर्विध घाति कर्ममलका नष्ट होना परमावश्यक है। जिसका पिछले पद्यमें उल्लेख है।

मोहादि-दोषोंका नाश शुद्धात्मध्यानके बिना नहीं होता

न मोह-प्रभृति-च्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना ।

कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते न हि ॥४॥

‘शुद्ध आत्माके ध्यानके बिना मोहादि कर्मोंका छेद उसी प्रकार नहीं बनता जिस प्रकार कि वज्रके बिना पर्वत नहीं भेदा जाता।’

व्याख्या—जिन मोहादि चार घातिया कर्मोंके पूर्णतः क्षय होनेपर केवलज्ञानका उदय अवलम्बित है उनका वह क्षय शुद्ध आत्माके ध्यानके बिना नहीं बनता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वज्रके बिना पर्वतका भेदन नहीं हो सकता। इस तरह यहाँ शुद्ध आत्माके ध्यान-को कर्मरूपी पर्वतोंके विदारणार्थ उपाय रूपमें निर्दिष्ट किया है, जो किसीके अधीन न होकर स्वाधीन है। मोहादिकर्मसमूहको भूधरकी उपमा उसके कठिनतासे विदीर्ण होनेका सूचक है।

ध्यान-वज्रसे कर्मग्रन्थिका छेद अतीवानन्दोत्पादक

विभिन्ने सति दुर्भेदकर्म-ग्रन्थि-महीधरे ।

तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण भूरि-संकलेश-कारिणि ॥५॥

आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।

औषधेनेव सव्याधेर्व्याधेरभिभवे कृते ॥६॥

‘बहुत भारी संक्लेशका कारण जो कर्म ग्रन्थिरूप दुर्भेद पर्वत है उसके ध्यानरूपी तीक्ष्ण वज्रसे छिन्न-भिन्न होनेपर इस योगी महात्माके अतीव तात्त्विक (असली) आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि रोगसे पीड़ित रोगीके औषधसे रोगके दूर हो जानेपर यथेष्ट आनन्द प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—जिस पर्वतके भेदनकी बात पिछले पद्यमें कही गयी है वह कर्मोंकी गाँठोंवाला बड़ा ही दुर्भेद और अतीव दुःखदायी पर्वत है । उसे शुद्धात्माके ध्यान रूप तीक्ष्ण वज्रके द्वारा ही भेदन किया जाता है—अन्यके द्वारा उसका आत्मासे पूर्णतः भेदन—विघटन नहीं बनता । उस दुर्भेद एवं महादुःखदायी कर्म पर्वतका उक्त ध्यानवज्रसे भेदन—विश्लेषण हो जानेपर ध्याता महात्माको अत्यन्त वास्तविक आनन्दकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्याधिसे पीड़ित रोगीको औषध-द्वारा व्याधिके मूलतः नष्ट हो जानेपर होती है ।

किस केवलीकी कब धर्म-देशना होती है

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा ।
प्रकृष्ट-पुण्य-सामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः ॥७॥
अवन्ध्य-देशनः श्रीमान् यथाभव्य-नियोगतः ।
महात्मा केवली कश्चिद् देशनायां प्रवर्तते ॥८॥

‘केवलज्ञान-दर्शनरूप चक्षुसे अतीन्द्रिय पदार्थोंको साक्षात्, देख-जानकर, प्रकृष्ट पुण्यके सामर्थ्यसे (अष्ट) प्रातिहार्यसे युक्त श्रीसम्पन्न अमोघ-देशना-शक्तिको प्राप्त कोई केवली महात्मा, जैसा भव्य जीवोंका नियोग होता है उसके अनुसार, देशनामें—धर्मोपदेशके देनेमें—प्रवृत्त होता है ।’

व्याख्या—जो पदार्थ इन्द्रिय-गोचर नहीं थे उन अतीन्द्रिय पदार्थोंका भी केवलज्ञानीको केवल नेत्रके द्वारा साक्षात् दर्शन होता है यह बात यहाँ पहले पद्यमें बतलायी गयी है, उसके पश्चात् महात्मा केवलीकी धर्मोपदेशके देनेमें प्रवृत्तिकी दूसरी बात कही गयी है । इस दूसरी बातके प्ररूपणमें केवलीका ‘कश्चित्’ विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि सभी केवलज्ञानी धर्मोपदेशके देनेमें प्रवृत्त नहीं होते—उसमें-से कोई महात्मा ही धर्मोपदेशके देनेमें प्रवृत्त होते हैं और वे वही होते हैं जो सातिशय पुण्योदयके प्रभावसे उन प्रातिहार्योंको प्राप्त करते हैं, जिनकी संख्या आगममें आठ कही गयी है और वे हैं—१ अशोकवृक्ष, २ सुरपुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चँवर, ५ छत्र, ६ सिंहासन, ७ भामंडल ८ दुन्दुभि ।^१ साथ ही अमोघ देशना शक्तिसे युक्त होते हैं—जिनकी धर्म-देशना कभी निष्फल नहीं जाती; परन्तु वे उस फलकी एषणा (इच्छा) से कभी आतुर नहीं होते ।^३ और उनकी उस धर्मदेशनाका निमित्त कारण होता है भव्य जीवोंके भाग्यका उदयादिक, जिसे ‘यथा-भव्य-नियोगतः’ पदके द्वारा सूचित किया गया है । अन्तरंग कारण तीर्थकर प्रकृतिके उदयको समझना चाहिए; जैसा कि आप्तपरीक्षाके “विना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशता (१६)” इस वाक्यसे जाना जाता है । मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव हो जानेसे केवलज्ञानीमें इच्छा तथा रागका अस्तित्व नहीं बनता अतः बिना इच्छा तथा रागके ही अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणोंके मिलनेपर उनकी धर्मदेशनामें स्वतः प्रवृत्ति होती है ।

१. आ केवलचक्षुषा । २. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिदिव्यध्वनिश्चामरमासनं च । भामण्डलं दुन्दुभिरात-पत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥ ३. नाऽपि शासन-फलैषणातुरः । —समस्तभद्र ।

ज्ञान किस प्रकार आत्माका स्वभाव है

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव चापलम् ।

शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥६॥

‘ज्ञान आत्माका उसी प्रकारसे स्वभाव है जिस प्रकार कि सूर्यका उष्णपना, वायुका चंचलपना और चन्द्रमाका शीतलपना स्वरूप है ।’

व्याख्या—जिस केवलज्ञानके उदयका दूसरे पद्यमें उल्लेख है वह आत्मामें किसी नयी वस्तुका उत्पाद नहीं है किन्तु आत्माका उसी प्रकारसे स्वभाव है जिस प्रकार कि सूर्यका उष्णत्व, चन्द्रमाका शीतलत्व और वायुका चंचलत्व स्वभाव है । स्वभावका कभी अभाव नहीं होता—भले ही प्रतिबन्धक कारणोंके वश उसका तिरोभाव, आच्छादन या गोपन हो जाय ।

आत्माका चैतन्यरूप क्यों स्वकार्यमें प्रवृत्त नहीं होता

चैतन्यमात्मनो रूपं तच्च ज्ञानमयं विदुः ।

प्रतिबन्धक-सामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते ॥१०॥

‘आत्माका रूप चैतन्य है और वह ज्ञानमय कहा गया है, प्रतिबन्धककी सामर्थ्यसे वह अपने कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता ।’

व्याख्या—चैतन्य भी आत्माका स्वरूप कहा जाता है, उसके विषयको यहाँ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वह ज्ञानमय है—ज्ञानसे भिन्न चैतन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है । साथ ही यह भी बतलाया है कि जो ज्ञान या चैतन्य आत्माका पिछले पद्यानुसार स्वभाव है वह प्रतिबन्धक कारणोंके बलसे अपने कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता । केवलज्ञानके प्रतिबन्धक कारण वे चार घातिया कर्म हैं जिनका दूसरे पद्यमें उल्लेख है और इसीसे उनके पूर्णतः विनाशपर केवलज्ञानके उदयकी बात कही गयी है ।

सांख्यमतमें आत्माका स्वरूप चैतन्यमात्र बतलाया गया है और उस चैतन्यको ज्ञान शून्य लिखा है ।^१ यहाँ ‘तच्च ज्ञानमयं’ वाक्यके द्वारा उसका प्रतिवाद किया गया है ।

प्रतिबन्धकके बिना ज्ञानी ज्ञेय-विषयमें अज्ञ नहीं रहता

ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो नासति प्रतिबन्धके ।

प्रतिबन्धं विना वह्निर्न दाह्येऽदाहकः कदा ॥११॥

‘ज्ञेयके होने और उसका कोई प्रतिबन्धक न होनेपर ज्ञानी उस विषयमें अनभिज्ञ नहीं होता—उसे जानकर ही रहता है । (ठीक है) अग्नि दाहके योग्य (सूखे) ईंधनके होते हुए प्रतिबन्धकके अभावमें कभी अदाहक नहीं होती—वह उसको जलाकर ही रहती है ।’

१. आ चरणोरिव; आ चरण्योरिव । २. ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा इति सांख्यमतम्—इष्टोपदेश-टीकायामाशाधरः । ३. जो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने । दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥—अष्टसहस्रीमें उद्धृत पुरातन वाक्य । ४. सु ज्ञेयो ।

व्याख्या—जो ज्ञानमय है अथवा ज्ञान जिसका-रूप—स्वभाव—है उसको 'ज्ञानी' कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेद नहीं होता, यह बात छोटे अधिकारके ३५वें पद्यमें बतलायी जा चुकी है और पिछले पद्यमें यह बतलाया गया है कि प्रतिबन्धकके बलसे ज्ञान अपने कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। वहाँ उस केवलज्ञानीका उल्लेख है जिसके ज्ञानके समस्त प्रतिबन्धक कारण नष्ट हो चुके हैं और इसलिए वह किसी भी ज्ञेयके—ज्ञानके विषयभूत पदार्थके—जाननेमें अज्ञानी नहीं होता, यह प्रतिपादन किया गया है। साथ ही एक सुन्दर उदाहरणके द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। वह उदाहरण है दाह्य और दाहकका, 'दाहक' अग्नि को और 'दाह्य' त्वरित जलने योग्य सूखे ईंधनको कहते हैं। अग्नि और उस ईंधनके सम्बन्धमें यदि कोई बाधक न हो तो अग्नि उस ईंधनको न जलावे यह कभी नहीं होता। इसी तरह केवलज्ञानीके ज्ञान-विषयक जब कोई प्रतिबन्धक—बाधक कारण—नहीं रहा तब वह किसी ज्ञेयको न जाने यह कभी नहीं हो सकता।

ज्ञानीके देशादिका विप्रकर्ष कोई प्रतिबन्ध नहीं

प्रतिबन्धो न देशादि-विप्रकर्षोऽस्य युज्यते ।

तथानुभव-सिद्धत्वात् सप्तहेतेरिव^१ स्फुटम् ॥१२॥

'इस केवलज्ञानीके देशादिका विप्रकर्ष—दूरस्थितिरूप प्रतिबन्ध—युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा अनुभवसे सिद्ध होता है, सूर्यके समान ।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें प्रतिबन्धके न होनेकी जो बात कही गयी है उसे न मानकर यदि कोई कहे कि देशादिककी दूरी केवलज्ञानका प्रतिबन्ध है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि केवलज्ञानीके यह प्रतिबन्ध नहीं बनता, ऐसा अनुभवसे सिद्ध होता है, जो लाखों मीलकी दूरीपर स्थित होनेपर भी पृथ्वीके पदार्थोंको प्रकाशित करता है। पृथ्वी और सूर्यके मध्यकी दूरीमें जितने भी पुद्गल परमाणु स्थित हैं वे सभी सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं तब दूरीका विषय प्रकाशकत्वमें बाधक नहीं कहा जा सकता। केवलज्ञानीके ज्ञान और उस दूरवर्ती पदार्थके मध्यमें भी जितने पुद्गल परमाणु तथा आकाशादि द्रव्योंके प्रदेश स्थित हैं उन सबको भी केवलज्ञान जब जानता है तब उस दूरवर्ती पदार्थकी दूरी उसके जाननेमें बाधक कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।—निकट और दूरवर्ती सभी ज्ञेय ज्ञानका विषय होनेसे उनके जाननेमें केवलज्ञानीके बाधाके लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसी तरह कालका कोई अन्तर तथा वस्तुके स्वभावकी सूक्ष्मता भी किसी वस्तुके जाननेमें केवलीके लिए बाधक नहीं होती। सभी ज्ञेय होनेसे उसके ज्ञानके विषय हैं और वह उन्हें साक्षात् रूपमें जानता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने सूक्ष्म, अन्तरित, और दूरवर्ती सभी पदार्थोंको केवलज्ञानी सर्वज्ञके ज्ञानका विषय बतलाया है।^२

यदि यह कहा जाय कि एक सूर्य एक समयमें सारे विश्वको प्रकाशित करता हुआ नहीं देखा जाता, एक जगह दिन है तो दूसरी जगह रात्रि है, इससे उसकी शक्ति सीमित जान पड़ती है अतः सूर्यका दृष्टान्त ठीक घटित नहीं होता, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दृष्टान्त विषयको समझनेके लिए प्रायः एकदेशी होता है—सर्वदेशी नहीं। रही शक्ति-

१. अग्नेरिव । २. सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥ —देवागम ।

की बात, सूर्यकी शक्ति सीमित जरूर है परन्तु केवलीकी शक्ति वीर्यान्तरायकर्मका अभाव हो जानेसे सीमित नहीं होती—असीमित तथा अनन्त होती है ।

ज्ञानस्वभावके कारण आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः ।

ज्ञायते स च वा साक्षाद् विना विज्ञायते कथम् ॥१३॥

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च ततो ज्ञानस्वभावतः ।

नास्य ज्ञान-स्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुटम् ॥१४॥

‘सामान्यकी तरह विशेषोंका स्वभाव ज्ञेय भावसे जाना जाता है और वह स्वभाव प्रत्यक्ष ज्ञानके बिना कैसे स्पष्ट जाना जाता है ? नहीं जाना जाता है । अतः ज्ञानस्वभावके कारण (आत्मा) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है अन्यथा—यदि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं तो—स्पष्टतः ज्ञान-स्वभावपना भी इस आत्माके घटित नहीं होता ।’

व्याख्या—सर्व पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हैं । ऐसा कोई भी पदार्थ संसारमें नहीं जो केवल सामान्य रूप हो या केवल विशेष रूप ही हो । सामान्यके साथ विशेषका और विशेषके साथ सामान्यका अविनाभाव-सम्बन्ध है । ऐसी स्थितिमें सामान्यको जो द्रव्यरूपमें होता है, जिस प्रकार ज्ञेय भावसे जाना जाता है उसी प्रकार उसके विशेषों-पर्यायों-के स्वभावको भी ज्ञेय भावसे जाना जाता है । स्वभावका यह परिज्ञान चूँकि बिना उस पदार्थको साक्षात् किये—प्रत्यक्ष अनुभवमें लाये—नहीं बन सकता अतः ज्ञानस्वभावके कारण यह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है, अन्यथा—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी न होनेकी हालतमें—इस आत्माके ज्ञान-स्वभाव भी नहीं बनता । यहाँ ज्ञानस्वभावहेतुसे आत्माका सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व सिद्ध किया गया है । जब आत्मा ज्ञानरूप है (आत्मा ज्ञानं) और सर्वपदार्थ ज्ञेयरूप है तब कोई भी पदार्थ चाहे वह कितनी ही दूरी पर क्यों न स्थित हो और कालके कितने ही अन्तरको लिये हुए क्यों न हो, उस केवलज्ञानका विषय होनेसे नहीं बच सकता जो कि सर्वथा ज्ञानावरणादि रूप प्रतिबन्धकसे रहित, निर्बाध और असीम (अनन्त) है ।

केवली शेष किन कर्मोंको कैसे नष्ट कर निर्वृत होता है

वेद्यायुर्नाम-गोत्राणि यौगपद्येन केवली ।

शुक्लध्यान-कुठारेण छित्त्वा गच्छति निर्वृतिम् ॥१५॥

‘केवलज्ञानी वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र (इन चार अघातिया) कर्मोंको शुक्लध्यान-रूपी कुठारसे एक साथ छेदकर मुक्तिको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—कर्मोंकी आठ मूल प्रकृतियोंमें-से जिन चार प्रकृतियोंका यहाँ उल्लेख है वे अघातिया कर्म प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जबतक उनका छेद नहीं होता तबतक मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती । केवलज्ञानी उनका किसी क्रमसे छेद नहीं करता किन्तु एक साथ सबका छेद कर डालता है । जिस शक्तिशाली कुठारसे यह छेद कर्म किया जाता है उसको यहाँ

शुक्लध्यानके नामसे उल्लेखित किया है। शुक्लध्यानके चार भेद आगममें वर्णित हैं, यहाँ 'व्युपरतक्रियानिवृत्ति' नामका अन्तिम (चौथा) शुक्लध्यान ही विवक्षित जान पड़ता है, जिसके अनन्तर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इसीसे उक्त-शुक्लध्यान-द्वारा अघातिया कर्मोंका विच्छेद करके मुक्तिकी प्राप्ति करना लिखा है। उक्त कर्मोंके विच्छेदसे पूर्व उनकी स्थितिकी योग-निरोध-द्वारा आयुकर्मकी स्थितिके तुल्य कर लिया जाता है, तभी शुक्लध्यानके एक ही झटकेमें उन सबका युगपत् छेद बनता है।

शुक्लध्यानसे कर्म नहीं छिदता, ऐसा वचन अनुचित

कर्मैव भिद्यते नास्य शुक्ल-ध्यान-नियोगतः ।

नासौ विधीयते कस्य नेदं वचनमश्रितम् ॥१६॥

कर्म-व्यपगमे(मो) राग-द्वेषाद्यनुपपत्तितः ।

आत्मनः संग (ना सह) रागाद्याः न नित्यत्वेन संगताः ॥१७॥

'यदि यह कहा जाय कि इस केवलीके शुक्लध्यानके नियोगसे कर्म सर्वथा भेदको प्राप्त नहीं होता और न किसीके मोक्ष बनता है तो यह वचन ठीक नहीं है; क्योंकि राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति न होनेमें कर्मोंका विनाश होता है—नये कर्म बँधते नहीं तथा पूर्व बँधे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है—और आत्माके साथ रागादिका कोई शाश्वत सम्बन्ध नहीं है—वे उपजते तथा विनशते देखे जाते हैं। ऐसी स्थितिमें शुक्लध्यान-द्वारा राग-द्वेषका अभाव होनेसे कर्मोंका अभाव और कर्मोंके अभावसे मोक्षका होना सुघटित है। इसमें शंका तथा आपत्तिके लिए कोई स्थान नहीं।'

व्याख्या—यहाँ शंकाकारने अपनी शंकाके समर्थनमें कोई हेतु नहीं दिया; प्रत्युत इसके समाधान रूप प्रतिवादमें एक अच्छे हेतुका प्रयोग किया गया है और वह है राग-द्वेषादिकी अनुपपत्ति। राग-द्वेषादिक रूप परिणाम कर्मोंकी उत्पत्ति स्थिति आदिके कारण हैं और किसी भी राग-द्वेषादिका आत्माके साथ कोई शाश्वत सम्बन्ध नहीं है—वे अपने-अपने निमित्तको पाकर उत्पन्न होते तथा विनाशको प्राप्त होते रहते हैं। केवलीमें मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति स्थिति आदिका कोई कारण नहीं रहता, राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति स्थिति आदिका पूर्णतः अभाव हो जानेसे कर्मका विनाश होना स्वाभाविक है और कर्मोंके सर्वथा विनाश हो जानेपर मोक्षका होना अवश्यम्भावी है, उसे फिर कोई रोक नहीं सकता।

सुखीभूत निर्वृत जीव फिर संसारमें नहीं आता

न निर्वृतः सुखीभूतः पुनरायाति संसृतिम् ।

सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥१८॥

(इसके सिवाय) सुखीभूत मुक्तात्मा पुनः संसारी नहीं बनता। (ठीक है) सुखदायी पदको छोड़कर कौन (स्वेच्छासे) दुःखद पदको प्राप्त होता है?—कोई भी नहीं होता।'

व्याख्या—१५वें पद्यके अनुसार निर्वृति (निर्वाण) को प्राप्त हुआ केवली क्या फिरसे संसारमें आता है—संसारी बनता है ? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर इस पद्यमें दिया गया है और वह है नकारात्मक अर्थात् नहीं आता । और उसका कारण यह बतलाया है कि निर्वाणको प्राप्त हुआ जीव सुखीभूत होता है—अपने स्वाधीन शुद्ध सुखको प्राप्त कर लेता है—तब वह अपने उस सुखको छोड़कर दुःखके ग्रहणमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? नहीं हो सकता; क्योंकि कोई भी स्वाधीन जीव स्वेच्छासे सुखदायी पदको छोड़कर दुःखदायी पद ग्रहण नहीं करता, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है । निर्वाण जिसे निर्वृति, निःश्रेयस तथा मोक्ष भी कहते हैं वह जन्म, जरा, रोग, मरण, शोक, दुःख और भय आदिसे परिमुक्त, शाश्वत शुद्ध सुखके रूपमें होता है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके समीचीन-धर्मशास्त्रगत निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

जन्म-जरामय-मरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।

निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

ऐसे शुद्ध और सदाके लिए प्राप्त स्वाधीन सुख पदको छोड़कर कोई भी विवेकी जीव बिना किसी परतन्त्रताके सांसारिक दुःख पदको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता । यदि किसीके विषयमें यह कहा जाता है कि उसने अमुकका उद्धार करने अथवा संसारके अमुक वर्गीय जीवोंका दुःख मिटानेके लिए अवतार धारण किया है तो समझ लेना चाहिए कि वह मुक्तिको प्राप्त अथवा पूर्णतः सुखी जीव नहीं है—मोहसे अभिभूत संसारका ही एक प्राणी है, चाहे कितने ही सांसारिक ऊँचे पदको प्राप्त क्यों न हो ।

कर्मका अभाव हो जानेसे पुनः शरीरका ग्रहण नहीं बनता

शरीरं न स गृह्णाति भूयः कर्म-व्यपायतः ।

कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति ॥१६॥

‘वह मुक्तामा कर्मका विनाश हो जानेसे पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता । (ठीक है) कारणका नाश हो जानेपर कहीं भी कार्य उत्पन्न नहीं होता ।’

व्याख्या—मुक्त हुआ जीव फिरसे शरीरको ग्रहण नहीं करता; क्योंकि संसारावस्थामें शरीरके ग्रहणका कारण ‘नाम’ कर्म था वह जब सर्वथा नष्ट हो गया तब कारणके अभावमें कार्यका उत्पाद कैसे हो सकता है ? अतः जिनके मनमें मुक्तिसे पुनरागमनकी अथवा मुक्तात्माके शरीर धारण कर सांसारिक कार्योंको करने-करानेकी बात कही गयी वह दो कारणोंसे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती—एक कारणका पिछले पद्यमें निर्देश है और दूसरेका इस पद्यमें निर्देश किया गया है ।

ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मानना असंगत

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो मन्तव्यो मान्य-बुद्धिभिः ।

अचेतनस्य न ज्ञानं कदाचन विलोक्यते ॥२०॥

‘जो मान्य बुद्धि हैं उनके द्वारा ज्ञान प्रकृतिका धर्म नहीं माना जाना चाहिए; (क्योंकि) अचेतन पदार्थके ज्ञान कभी देखा नहीं जाता ।’

व्याख्या—सांख्यमतमें आत्माको ज्ञानशून्य चैतन्य मात्र बतलाया है और ज्ञानको प्रकृतिका धर्म निर्दिष्ट किया है, यहाँ उसका प्रतिषेध करते हुए माननीय बुद्धिके धारकोंसे—विवेकशील विद्वानोंसे यह अनुरोध किया है कि उन्हें ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि अचेतनके—प्रकृतिजन्यके—कभी भी ज्ञानका होना देखनेमें नहीं आता। अतः ज्ञानको प्रकृतिजन्य मानना प्रत्यक्षके विरुद्ध है।

ज्ञानादि गुणोंके अभावमें जीवकी व्यवस्थिति नहीं बनती

दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छति ।

काञ्चनस्य मले नष्टे काञ्चनत्वं न नश्यति ॥२१॥

न ज्ञानादि-गुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः ।

लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्यवतिष्ठते ॥२२॥

‘मुक्तात्माके कर्मोंकी तरह ज्ञान नष्ट नहीं होता। (ठीक है) सुवर्णका मल नष्ट होनेपर सुवर्ण नष्ट नहीं होता। ज्ञानादि गुणोंका अभाव होनेपर जीवकी अवस्थिति नहीं बनती। (ठीक है) लक्षणका अभाव होनेपर लक्ष्य कहीं भी नहीं ठहरता है।

व्याख्या—यदि कोई वैशेषिकमतका पक्ष लेकर यह कहे कि मुक्तात्माके जिस प्रकार कर्म नष्ट होते हैं उसी प्रकार ज्ञान भी नष्ट हो जाता है तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि सुवर्णका मल नष्ट होनेपर जिस प्रकार सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार मुक्तात्मा ज्ञानीके ज्ञान-मल नष्ट होनेपर ज्ञान नष्ट नहीं होता। वास्तवमें ज्ञानादि गुणोंका अभाव होनेपर तो जीवकी कोई व्यवस्थिति ही नहीं बनती; क्योंकि ज्ञान-दर्शन गुण जीवके लक्षण हैं; जैसा कि जीवाधिकारमें बतलाया जा चुका है। लक्षणका अभाव होनेपर लक्ष्यका फिर कोई अस्तित्व नहीं बनता। ऐसी स्थितिमें वैशेषिकोंने बुद्ध्यादि वैशेषिक गुणोंके उच्छेदको मोक्ष माना है, वह तर्क-संगत मालूम नहीं होता—उनके यहाँ तब जीवका अस्तित्व भी नहीं बनता। गुणोंका अभाव हो जाय और गुणी बना रहे यह कैसे हो सकता है।—नहीं हो सकता।

बिना उपायके बन्धको जानने मात्रसे कोई मुक्त नहीं होता

विविधं बहुधा बन्धं बुध्यमानो न मुच्यते ।

कर्म-बद्धो विनोपायं गुप्ति-बद्ध इव ध्रुवम् ॥२३॥

विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा स द्विधा जीव-कर्मणोः ।

मुक्तकर्मात्मतत्त्वस्थो मुच्यते सदुपायवान् ॥२४॥

‘कर्मोंसे बँधा हुआ जीव नाना प्रकारके कर्मबन्धनोंको बहुधा (प्रायः) जानता हुआ भी निश्चयसे बिना उपाय किये मुक्त नहीं होता, जैसे कि कारागृहमें पड़ा हुआ बन्दी। जो जीव और कर्मको उनके लक्षणोंसे दो प्रकारके (भिन्न पदार्थ) जानकर कर्मको छोड़ता—कर्मसे उपेक्षा धारण करता—और आत्मतत्त्वमें लीन होता है वह सदुपायवान् है और कर्मोंसे छूटता है।’

व्याख्या—जिस प्रकार बाँध जूड़कर डाला हुआ कोई मनुष्य यह जानते हुए भी कि मुझे अमुकने बाँध जूड़ कर डाला है, अमुक प्रकारकी रस्सी आदिके बन्धनोंमें मैं बँधा हुआ

हूँ और मेरे शरीरके अमुक-अमुक अंगोंपर अमुक प्रकारके बन्धन हैं अपने इस जानने मात्रसे बिना उपाय किये उन बन्धनोंसे छुटकारा नहीं पा सकता; जो ठीक उपाय करता है वह छुटकारा पाता है। उसी प्रकार कर्मोंसे बँधा हुआ यह संसारी जीव अपनेको कर्मोंसे बँधा हुआ और कर्मोंके प्रकारों—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धके रूपसे बन्धके भेदों—आदिको जानता हुआ भी बिना उपाय किये उन कर्मबन्धनोंसे छुटकारा नहीं पा सकता, यह बात गहरे गर्तमें बँधे पड़े अथवा कारागृहमें सदाके लिए बन्द किये कैदीके उदाहरण-द्वारा प्रथम पद्यमें सुझायी गयी और दूसरे पद्यमें कर्मबन्धनसे छूटनेके समीचीन उपायको प्रदर्शित किया गया है, जो कि अपने आत्मस्वरूप और कर्मस्वरूपको लक्षणोंसे जानकर कर्ममें उपेक्षा धारण रूप विरक्ति और अपने आत्मस्वरूपमें स्थितिके रूपमें है। इस श्रेष्ठ उपायका करनेवाला भव्य मानव अवश्य ही कर्मबन्धनोंसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है। इसी बातको श्री कुन्दकुन्दाचार्यने समयसार की निम्न चार गाथाओंमें प्रदर्शित किया है :—

इय कम्मबंधणानं पएस-ठिइ-पयडिमेवमणुभावं ।
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जदि सुद्धो ॥२९०॥
जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥
जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं । २९२॥
बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्म-विमोक्खणं कुणई ॥२९३॥

इस प्रकार मुक्तिके लिए सञ्चारित्र शून्य ज्ञानको निरर्थक बतलाया गया है ।

जीवके शुद्धाशुद्धकी अपेक्षा दो भेद

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः शुद्धाशुद्ध-व्यपेक्षया ।
सुवर्णमिव लोकेन व्यवहारमुपेयुषा ॥२५॥
संसारी कर्मणा युक्तो मुक्तस्तेन विवर्जितः ।
अशुद्धस्तत्र संसारी मुक्तः शुद्धोऽपुनर्भवः ॥२६॥

‘एक जीव शुद्ध-अशुद्धकी अपेक्षासे दो प्रकारका कहा गया है, जिस प्रकार व्यवहारीजनके द्वारा सुवर्ण शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकारका कहा जाता है। जो कर्मसे युक्त है वह ‘संसारी’ और जो कर्मसे रहित है वह ‘मुक्त’ जीव है। दोनोंमें संसारी अशुद्ध और मुक्त जीव शुद्ध माना है, जो पुनः भवधारण नहीं करता ।’

व्याख्या—वस्तुतः देखा जाय तो अपने गुण-स्वभावकी दृष्टिसे सुवर्णधातु एक है, परन्तु लोकव्यवहारमें उसके शुद्ध सुवर्ण और अशुद्ध सुवर्ण ऐसे दो भेद किये जाते हैं। जो सुवर्ण किट्ट-कालिमादि मलसे युक्त है अथवा चाँदी, ताँबा, लोहा आदि अन्य धातुओंके सम्बन्धको प्राप्त उनसे मिश्रित है उसे ‘अशुद्ध सुवर्ण’ कहते हैं और जो सुवर्ण सारे मल तथा परसम्बन्धसे रहित होता है उसे ‘शुद्ध (खालिस) सुवर्ण’ कहा जाता है। इसी प्रकार जीव-द्रव्य वस्तुतः अपने गुण-स्वभावकी दृष्टिसे एक है; परन्तु शुद्ध-अशुद्धकी अपेक्षासे उसके दो भेद किये गये हैं—एक ‘संसारी’ दूसरा ‘मुक्त’ । इनमें संसारी जीव कर्ममलसे युक्त होनेके कारण

१. सु शुद्धः पुनर्मतः । २. संसारिणो मुक्ताश्च—त० सूत्र० २-१० ।

‘अशुद्ध’ और मुक्त जीव कर्ममलसे रहित हो जानेके कारण ‘शुद्ध’ माना गया है, जिसे ‘अपुनर्भव’ भी कहते हैं ।

शुद्ध जीवके अपुनर्भव कहनेका हेतु

भवं वदन्ति संयोगं यतोऽत्रात्म-तदन्ययोः ।

वियोगं तु भवाभावमापुनर्भविकं ततः ॥२७॥

‘चूँकि आत्मा और तद्भिन्न (पुद्गलकर्म) के संयोगको ‘भव’ और वियोगको ‘भवाभाव’ कहते हैं, जो फिरसे उत्पन्न न होनेका नाम है अतः फिरसे उत्पन्न होनेके कारण शुद्ध-मुक्त जीवको ‘अपुनर्भव’ कहा जाता है ।

व्याख्या—पिछले पद्यमें मुक्त जीवका जो ‘अपुनर्भव’ नाम दिया है उसीका इस पद्यमें निरुक्ति-पूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है ।—लिखा है कि जीव और जीवसे भिन्न जो पुद्गल-कर्म हैं उनके संयोगका नाम ‘भव’ है और दोनोंके वियोगका नाम ‘भवाभाव’ (अभव) है, जिसका फिर कभी संयोग न हो; फिरसे कर्मका संयोग न हो सकनेके कारण मुक्त जीवको ‘अपुनर्भव’ कहा गया है ।

मुक्तिमें आत्मा किस रूपसे रहता है

निरस्तापर-संयोगः स्व-स्वभाव-व्यवस्थितः ।

सर्वोत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तिमितोदधि-संनिभः ॥२८॥

एकान्त-क्षीण-संक्लेशो निष्ठितार्थो निरञ्जनः ।

निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्मावतिष्ठते ॥२९॥

‘मुक्ति अवस्थामें आत्मा परसंयोगसे रहित, स्वस्वभावमें अवस्थित, निस्तरंग समुद्रके समान, सर्वप्रकारकी उत्सुकतासे मुक्त, सर्वथा क्लेशवर्जित, कृतकृत्य, निष्कलंक, निराबाध और सदा आनन्दरूप तिष्ठता है—यही परब्रह्मका रूप है ।’

व्याख्या—मुक्तिको प्राप्त हुआ जीव किस रूपमें रहता है इसका इन दोनों पद्योंमें बड़ा ही सुन्दर एवं अच्छा व्यापक स्पष्टीकरण किया गया है और वह यह है कि मुक्तात्मा समस्त पर-सम्बन्धोंसे रहित हुआ अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावमें पूर्णतः अवस्थित होता है, निस्तरंग समुद्र-के समान समस्त रागादि विकल्पोंसे शून्य रहता है, किसी भी प्रकारका दुःख-क्लेश कभी उसके पास नहीं फटकता, उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध होनेके लिए शेष नहीं रहता, द्रव्य-भावादि-रूपसे सर्व प्रकारके मलों एवं विकारोंसे वह रहित होता है, वह किसीको कोई बाधा नहीं पहुँचाता और न उसे कोई किसी प्रकारकी बाधा पहुँचा सकता है, वह अपने स्वरूपमें मग्न हुआ सदा आनन्दमय बना रहता है; क्योंकि उससे अधिक सुन्दर एवं स्पृहणीय दूसरा कोई भी रूप विश्वमें कहीं नहीं है—सारा विश्व उसके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित है ।

प्रथम पद्यमें ‘निरस्तापरसंयोगः’ विशेषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस बातको सूचित करता है कि जबतक पर-सम्बन्ध बना रहता है तबतक किसीकी भी अपने स्वभावमें

१. मु भवाभावमपुनर्भविकं ।

२. निस्तरंगोदधिवत् ।

व्यवस्थिति नहीं हो पाती; जैसे स्फटिककी उपाधिके संगसे। दूसरे पद्यमें 'एकान्त-क्षीण-संकलेशः' विशेषण भी अपना खास महत्त्व रखता है और उसके द्वारा उन सारे ही दुःखोंके सर्वथा अभावको सूचित किया गया है जिनकी स्वामी समन्तभद्रने निर्वाण सुखका वर्णन करते हुए 'जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं' इस वाक्यके द्वारा सूचना की है।

ध्यानका मुख्य फल और उसमें यत्नकी प्रेरणा

ध्यानस्येदं फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम् ।

आत्मगम्यं परं ब्रह्म ब्रह्मविद्धिरुदाहृतम् ॥३०॥

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्त्वतः^१ प्रतिपत्तये ।

प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनाम् ॥३१॥

'जो ब्रह्मवेत्ता हैं उन्होंने परंब्रह्मको आत्मगम्य करना यह ध्यानका मुख्य, अव्यभिचारी और अद्वितीय फल बतलाया है। अतः समीक्ष्यकारीके द्वारा वस्तुतः उसकी प्राप्तिके लिए वादादि-की वासनाको छोड़कर सदा इस ध्यानमें ही महान् यत्न किया जाना चाहिए।'

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें-से प्रथम पद्यमें ब्रह्मवेत्ताओं-द्वारा निर्दिष्ट ध्यानके उस फलका निर्देश किया गया है जो प्रधान है, कभी अन्यथा नहीं होता तथा जिसकी जोड़का दूसरा कोई फल नहीं है और वह है परंब्रह्मको आत्मगम्य करना—अपने आत्मामें शुद्धात्मा-का साक्षात् दर्शन करना। दूसरे पद्यमें उस परंब्रह्मको आत्म-गम्य करनेके लिए संपूर्ण वाद-प्रतिवादके संस्कारोंको छोड़कर महान् प्रयत्न करनेकी परीक्षकोंको प्रेरणा की गयी है।

ध्यानमर्मज्ञ योगियोंका हितरूप वचन

ऊचिरे ध्यान-मार्गज्ञा ध्यानोद्धृत-रजश्चयाः ।

भावि-योगि-हितार्थेदं ध्वान्त-दीपसमं वचः ॥३२॥

वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितम् ।

नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बिनः ॥३३॥

'जिन्होंने ध्यानके द्वारा कर्मरजके समूहको आत्मासे दूर किया उन ध्यान मार्गके मर्मज्ञ योगियोंने भावी योगियोंके हितार्थ यह अन्धकारध्वंसक दीपकके समान वचन कहा है कि—जो वादों-प्रतिवादोंके चक्करमें पड़े रहते हैं वे निश्चित रूपसे तत्त्वके अन्तको—परंब्रह्म पदकी प्राप्ति रूप अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) को—प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार जिस प्रकार कि गति-विलम्बी मनुष्य मार्गको तय नहीं कर पाते।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिन वाद-प्रतिवादोंके संस्कारोंको छोड़नेकी बात कही गयी है उसीके सम्बन्धमें यहाँ ध्यानके मर्मज्ञ और ध्यानके द्वारा आत्मासे कर्म-मलके समूहको दूर करनेवाले योगियोंके एक वचनको उद्धृत किया है जिसे उन पूर्व योगियोंने भावी योगियों के हितके लिए कहा है और जिसे अन्धकारको दूर करनेवाले दीपस्तम्भके समान बतलाया है। वह वचन यह है कि 'वादों-प्रतिवादोंके चक्करमें फँसे रहनेवाले योगी परंब्रह्मकी प्राप्ति

१. देखो, समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) । २. आ तत्त्वत ।

रूप अन्तिम लक्ष्यको प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार जिस प्रकार कि चलनेमें विलम्ब करनेवाले प्रमादी जन इधर-उधरके झगड़े-टंटोंमें फँसकर समयपर रास्ता तय करके मंजिलको पहुँच नहीं पाते ।

परंब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

विभक्तचेतन-ध्यानमत्रोपायं विदुर्जिनाः ।

गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्ग-गमनं यथा ॥३४॥

‘जिनेन्द्रोंने—अर्हन्तोंने—परंब्रह्मकी प्राप्ति अथवा तत्त्वान्तगतिमें विभक्त चेतनके—कर्मोंसे पृथग्भूत विविक्त एवं शुद्ध आत्माके—ध्यानको उपाय बतलाया है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रमादरहितका सन्मार्गगमन—ठीक मार्गपर चलना—अभीष्ट स्थानकी प्राप्तिमें उपाय है ।’

व्याख्या—जिस फलका ३०वें पद्यमें उल्लेख है उसकी प्राप्तिके उपाय रूपमें यहाँ उस ध्यानका निर्देश किया गया है जो कर्मोंसे पृथक् हुए अन्य सम्पर्कसे रहित विविक्त, शुद्ध एवं खालिस आत्माका ध्यान है । यह ध्यान ही परंब्रह्मकी प्राप्तिमें सहायक होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि अप्रमादीका ठीक मार्गपर चलना अभीष्ट स्थानकी प्राप्तिमें सहायक होता है ।

आत्मा ध्यान-विधिसे कर्मोंका उन्मूलक कैसे ?

योज्यमानो यथा मन्त्रो विषं घोरं निषूदते ।

तथात्मापि विधानेन कर्मानेकभवार्जितम् ॥३५॥

‘जिस प्रकार (ठीक) मन्त्रकी योजना किये जानेपर घोर विष दूर किया जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अनेक भवोंके उपार्जित कर्मसमूहसे विविक्तात्म-ध्यानके द्वारा पृथक् किया जाता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस शुद्धात्माके ध्यानकी बात कही गयी है उसीको यहाँ एक दूसरे उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है, वह है विषहर मन्त्रका उदाहरण । ठीक योजना किया हुआ ऐसा मन्त्र जिस प्रकार घोर विषको सारे शरीरसे खींचकर दूर कर देता है उसी प्रकार आत्मा भी विविक्त आत्माकी ध्यान विधिसे अनेक भवोंके संचित कर्ममलको दूर कर देता है ।

विविक्तात्माका ध्यान अचिन्त्यादि फलका दाता

चिन्त्यं चिन्तामणिर्दत्ते कल्पितं कल्पपादपः ।

अविचिन्त्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिन्तितः ॥३६॥

‘चिन्तामणि चिन्तित पदार्थको, कल्पवृक्ष कल्पनामें स्थित पदार्थको देता है; परन्तु ध्यान किया गया विविक्त आत्मा अचिन्तित और अकल्पित फलको प्रदान करता है ।’

व्याख्या—यहाँ ध्यान किये गये विविक्तात्माके माहात्म्यको चिन्तामणि और कल्पवृक्षसे भी अधिक व्यक्त किया गया है, क्योंकि वह स्वयं अचिन्तित और अकल्पित पदार्थको प्रदान करता है, जबकि चिन्तामणि चिन्तित और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थोंको ही प्रदान करते हैं।

उक्त ध्यानसे कामदेवका सहज हनन

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा हन्यन्ते येन दुर्जयाः ।

मनोभू-हनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते ॥३७॥

‘जिस ध्यानके द्वारा दुर्जय जन्म, जरा, मरण और रोग नाशको प्राप्त होते हैं उसको कामदेवके हननेमें कोई भी श्रम करना नहीं पड़ता—वह तो उससे सहज ही विनाशको प्राप्त हो जाता है।’

व्याख्या—यदि कोई पूछे कि क्या विविक्तात्माका ध्यान कामविकारको दूर करनेमें भी समर्थ होता है तो उसके उत्तरमें कहा गया है कि विविक्तात्माके जिस ध्यानसे जन्म, जरा, मरण और रोग-जैसे दुर्जय विकार नष्ट हो जाते हैं उसको कामविकारके दूर करनेमें कुछ भी श्रम करना नहीं पड़ता—वह तो स्वतः उसके प्रभावसे दूर हो जाता है।

वाद-प्रवादको छोड़कर अध्यात्म-चिन्तनकी प्रेरणा

मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्यमध्यात्मं चिन्त्यतां ततः ।

नाविधूते तमःस्तोमे शोये ज्ञानं प्रवर्तते ॥३८॥

‘अतः वाद-प्रवाद आदिको छोड़कर अध्यात्मको—आत्माके परमरूपको—चिन्तित करना चाहिए। अन्धकार समूहके नाश हुए बिना ज्ञान ज्ञेयमें प्रवृत्त नहीं होता।—वाद-प्रवादादि सब अन्धकार हैं, जो कि शुद्धात्माके चिन्तनमें बाधक हैं।’

व्याख्या—जिस वाद-प्रतिवादको छोड़नेकी बात पिछले कुछ पद्यों (३१-३३) में कही गयी है उसको यहाँ फिरसे दोहराते हुए उसकी महत्ताको व्यक्त किया गया है—यह बतलाया है कि ध्यानके उक्त माहात्म्यको देखते हुए सब वाद-प्रतिवादादिको छोड़कर, जो कि घने अन्धकारके समान है, अपने शुद्धात्माका चिन्तन करना चाहिए; क्योंकि अन्धकारके दूर हुए बिना ज्ञानकी ज्ञेयमें प्रवृत्ति नहीं होती।

विद्वानोंको सिद्धिके लिए सदुपाय कर्तव्य

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्जायते सदुपायतः ।

सदुपाये ततः प्राज्ञैर्विधातव्यो महादरः ॥३९॥

‘चूँकि उपेयकी प्राप्ति समीचीन उपायसे होती है अतः विद्वानोंके द्वारा समीचीन उपाय करनेमें महान् आदर किया जाना चाहिए।’

व्याख्या—उपायके द्वारा जो साध्य अथवा प्राप्य हो उसे ‘उपेय’ कहते हैं और उपेय यहाँ शुद्धात्मा परब्रह्म विवक्षित है उसकी प्राप्तिके लिए उपायका सच्चा ठीक अथवा यथार्थ होना परम आवश्यक है; अन्यथा—मिथ्या उपायके द्वारा—उपेयकी प्राप्ति—शुद्धात्माकी उपलब्धि—नहीं हो सकती। ऐसी स्थितिमें जो विद्वान् हैं उन्हें अपनी आत्मसिद्धिके लिए सदा सच्चे—

समीचीन उपायको महान् आदरके साथ करना चाहिए । यह आचार्य महोदयका अपना कल्याण चाहनेवालोंके लिए हितोपदेश है ।

अध्यात्म-ध्यानसे भिन्न सदुपाय नहीं

नाध्यात्म-चिन्तनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते ।

दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्थितैः ॥४०॥

‘अध्यात्मचिन्तनसे भिन्न दूसरा कोई भी समीचीन उपाय (परंब्रह्मकी प्राप्ति) नहीं है, जो जीव मोह-व्यालसे कदर्थित हैं—मोहसर्पसे डसे हुए अथवा मोहरूपी हस्तीसे पीड़ित हैं—उनके द्वारा वह उपाय दुर्लभ है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस सच्चे-समीचीन उपायके प्रति महान् आदरकी बात कही गयी है वह अध्यात्मचिन्तनसे—शुद्धात्माके ध्यानसे—भिन्न दूसरा और कोई नहीं है, यह इस पद्यमें बतलाया है । साथ ही यह भी बतलाया है कि इस समीचीन उपायकी प्राप्ति उन जीवोंको नहीं होती जो मोहसे मूर्छित अथवा पीड़ित हैं ।

उक्त ध्यानकी बाह्य सामग्री

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनम् ।

जनपदात्यागः षोढा सामग्रीयं बहिर्भवा ॥४१॥

‘(अध्यात्मचिन्तनरूप ध्यानके लिए) उत्साह, निश्चय (स्थिर विचार), धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और जनपदत्याग यह छह प्रकारकी बाह्य सामग्री है ।’

व्याख्या—जिस ध्यानका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसकी सिद्धिके लिए यहाँ बाह्य सामग्रीके रूपमें छह बातें बतलायी गयी हैं, जिनमें उत्साहको प्रथम स्थान दिया गया है । यदि उत्साह नहीं तो किसी भी कार्य-सिद्धिके लिए प्रवृत्ति ही नहीं बनती । यदि ध्येयका निश्चय ही नहीं तो सब कुछ व्यर्थ है । यदि धैर्य नहीं तो साधनामें विघ्न-कष्टादिके उपस्थित होनेपर स्वलित हो जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है, इसीसे नीतिकारोंने ‘धैर्यं सर्वार्थ-साधनं’-जैसे वाक्यों-द्वारा धैर्यको सर्व प्रयोजनोंका साधक बतलाया है । विषयोंमें लालसाके अभावका नाम सन्तोष है, यह सन्तोषभी साधनाकी प्रगतिमें सहायक होता है, यदि सदा असन्तोष बना रहता है तो वह एक बड़ी व्याधिका रूप ले लेता है, इसीसे ‘असन्तोषो महाव्याधिः’-जैसे वाक्योंके द्वारा असन्तोषको महाव्याधि माना गया है । जीवादि तत्त्वोंका यदि भले प्रकार दर्शन—स्वरूपानुभवन न हो तो फिर उत्साह, निश्चय, धैर्य तथा सन्तोषसे भी क्या बन सकता है और ध्यानमें प्रवृत्ति भी कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती । अतः ‘तत्त्वदर्शन’ का होना परमावश्यक है, इसीसे इस योग ग्रन्थमें तत्त्वोंका आवश्यक निरूपण किया गया है । अन्तकी छठी सामग्री है ‘जनपदत्याग’, जबतक जनपद और जनसम्पर्कका त्याग नहीं किया जाता तबतक साधनाकी पूर्णता नहीं बनती । जनसम्पर्कसे वाक्प्रवृत्ति, वाक्प्रवृत्तिसे मनका चंचल होना और मनकी चंचलतासे चित्तमें अनेक प्रकारके विकल्प तथा क्षोभ होते हैं, जो सब ध्यानमें बाधक हैं । इसीसे श्री पूज्यपादाचार्यने समाधितन्त्रमें निम्न वाक्य-द्वारा योगीको जनसम्पर्कके त्यागनेकी खास प्रेरणा की है—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने तो प्रवचनसारमें यहाँ तक लिखा है कि जो लौकिकजनोंका संसर्ग नहीं छोड़ता है वह निश्चित सूत्रार्थपद (आगमका ज्ञाता), शमितकषाय और तपमें बड़ा-चढ़ा होते हुए भी संयत-मुनि नहीं रहता । संसर्गके दोषसे अग्निके संसर्गको प्राप्त जलकी तरह अवश्य ही विकारको प्राप्त हो जाता है । अतः ध्यानसिद्धिके लिए नगरोंका वास छोड़कर प्रायः पर्वतादि निर्जन स्थानोंमें रहनेकी आवश्यकता है ।

बुद्धिके त्रेधा संशोधकको ध्यानकी प्राप्ति

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च ।

त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं ध्यानमाप्नोति पावनम् ॥४२॥

‘आगमके द्वारा, अनुमानके द्वारा और ध्यानाभ्यास रूप रसके द्वारा तीन प्रकारसे बुद्धिको विशुद्ध करता हुआ ध्याता पवित्र ध्यानको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें ध्यानकी बाह्य सामग्रीका उल्लेख करके यहाँ अन्तरंग सामग्रीके रूपमें बुद्धिकी शुद्धिको पावन ध्यानका कारण बतलाया है । और उस बुद्धिशुद्धिके लिए तीन उपायोंका निर्देश किया है, जो कि आगम, अनुमान तथा ध्यानाभ्यास रसके रूपमें है । आगमजन्य श्रुतज्ञानके द्वारा जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप जानना ‘आगमोपाय’ है, आगमसे जाने हुए जीवादिके स्वरूपमें अनुमान प्रमाणसे दृढ़ता लाना ‘अनुमानोपाय’ है और ध्यानका अभ्यास करते हुए उसमें जो एक प्रकारका रुचिवृद्धिके रूपमें रस-आनन्द उत्पन्न होता है उसे ‘ध्यानाभ्यास रस’ कहते हैं । इन तीनों उपायोंके द्वारा बुद्धिका जो संशोधन होता है और उससे वह शुद्ध आत्मध्यान बनता है जिसमें विविक्त आत्माका साक्षात् दर्शन होता है । श्री पूज्यपादाचार्यने इन्हीं उपायोंसे बुद्धिका संशोधन करते हुए विविक्त आत्माका साक्षात् निरीक्षण किया था और तभी केवलज्ञानके अभिलाषियोंके लिए उन्होंने समाधितन्त्रमें विविक्त आत्माके कथनकी प्रतिज्ञाका यह वाक्य कहा है —

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्तिसमाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।

समीक्ष्य कैवल्य-सुख-स्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

इसमें ‘समीक्ष्य’ पदके द्वारा आत्मदर्शनका उल्लेख है, जो कि उक्त तीनों उपायोंका लक्ष्यभूत एवं ध्येय है । श्री पं० आशाधरजीने अध्यात्म-रहस्यमें इन चारोंका श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टिके रूपमें उल्लेख करते हुए, इन चारों शक्तियोंको क्रमसे सिद्ध करनेवाले योगीका परगामी लिखा है—

शुद्धे श्रुति-मति-ध्याति-दृष्टयः स्वात्मनि क्रमात् ।

यस्य सद्गुरुतः सिद्धाः स योगी योगपारगः ॥३॥

इन चारोंके सुन्दर वर्णनके लिए अध्यात्म-रहस्यको देखना चाहिए ।

१. णिच्छिदमुत्तत्यपदो समिदकसाओ तवोधिको चावि । लोगिगजणसंसर्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥६८॥ —प्रवचनसार ।

विद्वत्ताका परम फल आत्मध्यान रति

आत्म-ध्यान-रतिज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम् ।

अशेष-शास्त्र-शास्त्रत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥४३॥

‘विद्वत्ताका उत्कृष्ट फल आत्मध्यानमें रति—लीनता—जानना चाहिए । अशेष शास्त्रोंका शास्त्रीपन बुद्धिधनके धारक महान् विद्वानों-द्वारा ‘संसार’ कहा गया है ।’

व्याख्या—एक विद्वानकी सफलता ही नहीं किन्तु ऊँचे दर्जेकी सफलता इसीमें है कि उसकी आत्मध्यानमें रति हो—रुचिपूर्वक लीनता हो । यदि यह नहीं तो उसका सम्पूर्ण शास्त्रोंका शास्त्रीपना—पठन-पाठन-विवेचनादि कार्य—संसारके सिवा और कुछ नहीं—उसे भी सांसारिक धन्धा अथवा संसार-परिभ्रमणका ही एक अंग समझना चाहिए । साथ ही यह भी समझना चाहिए कि उस विद्वान्ने शास्त्रोंका महान् ज्ञान प्राप्त करके भी अपने जीवनमें वास्तविक सफलताकी प्राप्ति नहीं की ।

मूढचेतों और अध्यात्मरहित पण्डितोंका संसार क्या ?

संसारः पुत्र-दारादिः पुंसां समूढचेतसाम् ।

संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम् ॥४४॥

‘जो मनुष्य अच्छी तरह मूढचित्त हैं उनका संसार ‘स्त्री-पुत्रादिक’ हैं और जो अध्यात्मसे रहित विद्वान् हैं उनका संसार ‘शास्त्र’ है ।

व्याख्या—इस पद्यमें पिछले पद्यकी बातको और स्पष्ट करते हुए यह बतलाया है कि किसका कौन संसार है । जो मानव मूढचित्त हैं—शास्त्राभ्यासादिसे रहित अज्ञानी हैं—उनका संसार तो स्त्री-पुत्र-धनादिक हैं—वे दिन-रात उसीके चक्करमें फँसे रहते हैं । और जो शास्त्रोंके अच्छे अभ्यासी विद्वान् हैं किन्तु अध्यात्मसे रहित हैं—अपने आत्माको जिन्होंने शुद्ध स्वरूपमें नहीं पहचाना—उनका संसार शास्त्र है—वे शास्त्रोंका शास्त्रीपन करते-करते ही अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और अपना आत्महित कुछ भी करने नहीं पाते ।

ज्ञानबीजादिको पाकर भी कौन सद्ध्यानकी खेती नहीं करते

ज्ञान-बीजं परं प्राप्य मनुष्यं कर्मभूमिषु ।

न सद्बुद्धानकृषेरन्तः प्रवर्तन्तेऽल्पमेधसः ॥४५॥

‘कर्मभूमियोंमें मनुष्यता और उत्कृष्ट ज्ञान-बीजको पाकर जो प्रशस्त ध्यानरूप खेतीके भीतर प्रवृत्त नहीं होते—ध्यानकी खेती नहीं करते—वे अल्पबुद्धि हैं ।

व्याख्या—इस पद्यमें उन महाशास्त्राभ्यासी विद्वानोंको ‘अल्पबुद्धि’ (अविवेकी) बतलाया है जो कर्मभूमियोंमें मनुष्य जन्म लेकर और उत्कृष्ट ज्ञान-बीजको पाकर भी श्रेष्ठध्यानकी खेती करनेमें प्रवृत्त नहीं होते, और इस तरह अपने ध्यानकृषियोग्य मनुष्य-जन्म और उत्कृष्ट ज्ञान-बीजको व्यर्थ गँवाते हैं । ऐसे हीनबुद्धि-अविवेकी जन वे ही होते हैं जो अपनी बुद्धिको पिछले ४२वें पद्यमें वर्णित तीन प्रकारके उपायोंसे संशोधन नहीं करते ।

१. आ, व्या फलं परं । २. ज्ञातृत्वं ।

भोगसक्तिमें ध्यान त्यागी विद्वानोंके मोहको धिक्कार

बडिशाभिषवच्छेदो दारुणो भोग-शर्मणि ।

संक्तास्त्यजन्ति सद्ध्यानं धिगहो ! मोह-तामसम् ॥४६॥

‘भोग सुखमें बंशी संलग्न मांसकी तरह दारुण छेद होता है, (फिर भी) जो भोगोंके सुखमें आसक्त हैं वे प्रशस्त ध्यानका त्याग करते हैं, इस मोह अन्धकारको धिक्कार है, जिससे भोगमें जो दारुण दुःख छिपा है वह दिखाई नहीं पड़ता ।’

व्याख्या—जिन विद्वानोंको पिछले पद्यमें अल्पबुद्धि-अविवेकी बतलाया है प्रायः उन्हींको लक्ष्य करके इस पद्यमें तथा आगे भी कुछ हितकर बातें कही गयी हैं अथवा सूचनाएँ की गयी हैं । यहाँ भोगसुखकी लालसामें उस दारुण दुःखकी सूचना की गयी है जो मछलीको शिकारीकी बंशीमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको खानेकी इच्छासे कण्ठ-छेद-द्वारा प्राप्त होता है । इसी प्रकार इन्द्रिय-भोग सुखमें आसक्त हुए जो विद्वान् उत्कृष्ट ज्ञान-बीजको पाकर भी सद्-ध्यानकी खेती करनेमें उपेक्षा धारण करते हुए उसे त्यागते हैं उनके उस मोहान्धकारको धिक्कार कहा है, जिसके कारण भोगसुखमें छिपा हुआ दारुण दुःख उन्हें दिखाई नहीं पड़ता ।

मोही जीवों-विद्वानों आदिकी स्थिति

आत्म-तत्त्वमजानाना विपर्यास-परायणाः ।

हिताहित-विवेकान्धाः खिद्यन्ते सांप्रतेक्षणाः ॥४७॥

‘जो आत्मतत्त्वको नहीं जानते, हित-अहितके विवेकमें अन्धे हैं—अपने हित-अहितको नहीं पहचानते—और विपरीताचरणमें चतुर हैं वे वर्तमान दृष्टि—मौजूदा विषयसुखकी ओर लक्ष्य रखनेवाले—अन्तमें खेदको प्राप्त होते हैं ।’

व्याख्या—जिनके मोहान्धकारको पिछले पद्यमें धिक्कार कहा है वे वास्तवमें बहुत कुछ शास्त्राभ्यास कर लेने और ज्ञानकी बातें दूसरोंको सुनाते रहनेपर भी स्वयं आत्मतत्त्वके विषयमें अनजान (अनभिज्ञ) होते हैं—अपने हित-अहितके विवेकमें अन्धे बने रहते हैं, इसीसे विपरीत आचरणमें प्रवृत्त होते हैं । ऐसे मौजूदा सुखकी ओर ध्यान रखनेवाले विद्वानों आदिको यहाँ ‘सांप्रतेक्षण’ (वर्तमान सुख दृष्टि) कहा गया है और लिखा है कि वे अन्तमें खेद एवं पश्चात्तापको प्राप्त होते हैं ।

आधि-व्याधि-जरा-जाति-मृत्यु-शोकाद्युपद्रवम् ।

पश्यन्तोऽपि भवं भीमं नोद्विजन्तेऽत्र मोहिनः ॥४८॥

‘जो मोही जीव हैं वे इस संसारको आधियों—मानसिक पीड़ाओं, व्याधियों—शारीरिक कष्टप्रद-रोगों, जन्म, जरा, मरण और शोकादि उपद्रवोंसे युक्त भयंकर रूपमें देखते हुए भी उससे विरक्त नहीं होते हैं !—यह मोहका कैसा माहात्म्य है !’

व्याख्या—जिस मोहको अन्धकार बतलाते हुए पिछले एक पद्यमें धिक्कारा गया है उससे व्याप्त मोही जीवोंकी दयनीय एवं विवेक-विकल स्थितिको इस पद्यमें दर्शाते हुए उसपर खेद व्यक्त किया गया है। वास्तवमें संसारको जिन उपद्रवोंके रूपमें यहाँ चर्चित किया गया है वे सब प्रत्यक्ष हैं और उनसे वह भयंकर बना हुआ है। उसकी इस भयंकरताको देखते हुए भी जो उससे विरक्त नहीं होते हैं उन्हें मोहमें अन्धे अथवा विवेक-शून्य न कहा जाय तो और क्या कहा जाय ?

अकृत्यं दुर्धियः कृत्यं कृत्यं चाकृत्यमञ्जसा ।

अशर्म शर्म मन्यन्ते कच्छू-कण्डूयका इव ॥४६॥

‘जो दुर्बुद्धि हैं—मोह संस्कारित अथवा विकारग्रसित बुद्धिको लिये हुए हैं—वे वास्तवमें अकृत्यको कृत्य—न करने योग्य कुकर्मको सुकर्म, कृत्यको अकृत्य—करने योग्य सुकर्मको कुकर्म, और दुःखको सुख मानते हैं; उसी प्रकार जिस प्रकार दाद खुजानेवाले दादके खुजानेको अच्छा और सुखदायी समझते हैं, जबकि वह ऐसा न होकर दुःखदायी है।

व्याख्या—उक्त प्रकारके मोही जीवोंको यहाँ दुर्बुद्धि—दूषित ज्ञानी—बतलाते हुए लिखा है कि वे अकरणीयको नोकरणीय, करणीयको अकरणीय और दुःखको सुख मानते हैं और साथ ही उन्हें दादके खुजानेवालोंकी उपमा दी है जो दादको खुजानेमें सुखका अनुभव करते हुए उसे खूब खुजाकर बढ़ा लेते हैं और फिर दुःखी होते हैं।

ध्यानके लिए तत्त्वश्रुतिकी उपयोगिता

क्षाराम्भस्त्यागतः क्षेत्रे मधुरोऽमृत-योगतः ।

प्ररोहति यथा बीजं ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा ॥५०॥

‘जिस प्रकार खेतमें पड़ा हुआ बीज खारे जलके त्यागसे और मीठे जलके योगसे मधुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार तत्त्वश्रुतिके योगसे—तत्त्व वार्ता सुननेके प्रभावसे—उत्तम ध्यान उत्पन्न होता है।’

व्याख्या—यहाँ ध्यानकी उत्पत्ति एवं वृद्धिमें तत्त्वोंके श्रवण एवं अतत्त्व श्रवणके परिहारको उसी प्रकारसे उपयोगी बतलाया है जिस प्रकार खेतमें बीजकी उत्पत्ति और वृद्धि-के लिए उसे खारे जलसे न सींचकर मीठे जलसे सींचना होता है।

भोगबुद्धि त्याज्य और तत्त्वश्रुति ग्राह्य

क्षाराम्भःसदृशी त्याज्या सर्वदा भोग-शेमुषी ।

मधुराम्भोनिभा ग्राह्या यत्नात्तत्त्वश्रुतिर्बुधैः ॥५१॥

‘(ध्यानकी सिद्धिके लिए) बुधजनोंके द्वारा भोगबुद्धि, जो खारे जलके समान है, सदा त्यागने योग्य है और तत्त्वश्रुति, जो कि मधुर जलके समान है, सदा ग्रहण करने योग्य है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें बीजके उगने-अंकुरित होने आदिके लिए खारे जलके त्याग और मीठे जलसे सिंचनकी जो बात कही गयी है उसे यहाँ ४५वें पद्यमें उल्लिखित ध्यान-कृषि पर घटित करते हुए भोगबुद्धिको खारे जलके समान त्याज्य और तत्त्वश्रुतिको मीठे जलके

समान ब्राह्म बतलाया है और उस त्याग तथा ग्रहणमें यत्न करनेकी खास तौरसे प्रेरणा की है। बिना यत्नके कोरे ज्ञानसे कुछ नहीं बनता।

ध्यानका शत्रु कुतर्क त्याज्य

बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् ।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा ॥५२॥
कुतर्कोऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्ति-काङ्क्षिणाम् ।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौध-प्रवेशके ॥५३॥

‘कुतर्क ज्ञानको रोकनेवाला, शान्तिका नाशक, श्रद्धाको भंग करनेवाला और अभिमानको बढ़ानेवाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकारसे ध्यानका शत्रु है। अतः मोक्षाभिलाषियोंको कुतर्कमें अपने मनको लगाना युक्त नहीं, प्रत्युत इसको आत्मतत्त्वमें लगाना योग्य है, जो कि स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि-सदनमें प्रवेश करानेवाला है।’

व्याख्या—यहाँ कुतर्कको ध्यानका शत्रु बतलाते हुए एक महाव्याधिके रूपमें चित्रित किया गया है, जिसके फल हैं ज्ञानमें रुकावटका होना, शान्तिका विनाश, श्रद्धाका भंग, और अहंकारकी उत्पत्ति। साथ ही मुमुक्षुओंको यह प्रेरणा की गयी है कि वे कुतर्कमें अपने मनको न लगाकर आत्मतत्त्वमें संलग्न रहें, जो कि सिद्धिरूप मुक्तिके महलमें प्रवेश करानेवाला है।

यहाँ कुतर्कका अभिप्राय उसी व्यर्थके वाद-प्रवादसे है जिसका उल्लेख इसी अधिकार के ३१ से ३३ तकके पद्योंमें किया जा चुका है और जिसे परंब्रह्मकी प्राप्तिमें बाधक बतलाया है।

मोक्षतत्त्वका सार

विविक्तमिति चेतनं परम-शुद्ध-बुद्धाशयाः
विचिन्त्य सतताहता भवमपास्य दुःखास्पदम् ।
निरन्तमपुनर्भवं सुखमतीन्द्रियं स्वात्मजं
समेत्य^१ हतकल्मषं निरुपमं सदैवासते^३ ॥५४॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते मोक्षाधिकारः सप्तमः ।

‘जो परम शुद्ध-बुद्ध आशयके धारक हैं वे चेतनात्माको विविक्त रूप—कर्मकलंकसे रहित—चिन्तन कर—ध्यानका विषय बनाकर—उसके प्रति आदररूप परिणत हुए दुःखस्थान संसारका त्याग कर उस अपुनर्भवरूप मोक्षको प्राप्त करके सदा तिष्ठते हैं जो कि अपने आत्मासे उत्पन्न कल्मषरहित अतीन्द्रिय, अनुपम और अनन्त सुख स्वरूप है।’

१. मु निरन्तरमपुनर्भवं । २. प्राप्य । ३. तिष्ठन्ति ।

व्याख्या—यह सातवें अधिकारका उपसंहार-पद्य है, जिसमें मोक्षतत्त्वका सारा सार खींचकर रखा गया है। मोक्षको 'अपुनर्भव' नामके द्वारा, जो कि आत्माके पुनःभव (जन्म) धारण तथा पुनः कर्म-संयोगका निषेधक है, उल्लेखित करते हुए उसे सुखस्वरूप बतलाया है जो कि अतीन्द्रिय है—इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं—बिना किसीकी सहायताके अपने आत्मासे उत्पन्न सदा स्वाधीन रहनेवाला है, कषायादि मल-दोषसे रहित है, संसारमें जिसकी कोई उपमा नहीं और जो कभी नाश तथा ह्रासको प्राप्त नहीं होता। यह मोक्ष भवका—संसारका—जो कि दुःखोंका स्थान है, त्याग करनेपर उन्हें प्राप्त होता है जो कि शुद्ध बुद्ध आशयके—निर्मल सविवेक परिणामके—धारक होते हैं और उसकी प्राप्तिका उपाय है अपने आत्माको कर्म-कलंकसे रहित शुद्ध खालिस एवं विविक्त रूपमें ध्याना और उस रूपमें आदरवान् बने रहना। इस उपायके द्वारा भवका विनाश करके जो शुद्ध-बुद्धाशय मोक्षको प्राप्त करते हैं वे सदाके लिए सिद्धालयमें उक्त अनुपम सुखरूप होकर तिष्ठते हैं।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंग योगिराज-विरचित योगसार-प्राभृतमें मोक्ष अधिकार नामका सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

८

चारित्राधिकार

मुमुक्षुको जिनलिङ्ग धारण करना योग्य

विमुच्य विविधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहम् ।

मुक्तिं यिसासता धार्यं जिनलिङ्गं पटीयसा ॥१॥

‘जो मुक्ति प्राप्त करनेका इच्छुक अति निपुण एवं विवेकसम्पन्न मानव है उसे नाना प्रकारके आरम्भोंसे युक्त और पराधीनता-कारक घरको (गृहस्थको) त्याग कर जिनलिङ्गको धारण करना चाहिए ।’

व्याख्या—सात तत्त्वोंके स्वरूपको भले प्रकार जान लेने और समझ लेनेके अनन्तर जिसके अन्तरात्मामें मोक्ष प्राप्त करनेकी सच्ची एवं तीव्र इच्छा जागृत हो उस विवेक-सम्पन्न मुमुक्षुको घर-गृहस्थीका त्याग कर जिनलिङ्ग धारण करना चाहिए—ऐसा मानव ही जिनलिङ्ग धारणके लिए योग्य पात्र होता है, गृह त्यागमें उसकी दृष्टि नाना प्रकारके आरम्भों तथा परतन्त्रताओंके त्यागकी होती है, जो सब मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक हैं ।

जिनलिङ्गका स्वरूप

सोपयोगमनारम्भं लुञ्चित-शमश्रुमस्तकम् ।

निरस्त-तनु-संस्कारं सदा संग-विवर्जितम् ॥२॥

निराकृत-परापेक्षं निर्विकारमयाचनम् ।

जातरूपधरं लिङ्गं जैनं निर्वृति-कारणम् ॥३॥

‘जो सदा ज्ञान-दर्शन रूप उपयोगसे युक्त है, सावद्यकर्मरूप आरम्भसे रहित है, जिसमें दाढी तथा मस्तकके केशोंका लोंच किया जाता है, (तेल मर्दनादि रूपमें) शरीरका संस्कार नहीं किया जाता, जो बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे मुक्त, परकी अपेक्षासे रहित, याचना-विहीन, विकार-विवर्जित और नवजात-शिशुके समान वस्त्राभूषणसे रहित दिगम्बर रूप को लिये हुए है वह जैन लिङ्ग है, जो कि मुक्तिका कारण है—मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक है ।’

व्याख्या—जिस जिन-लिङ्गको धारण करनेकी पिछले पद्यमें सच्चे मुमुक्षुको प्रेरणा की गयी है उसका स्वरूप इन दो पद्योंमें बतलाया गया है, जो बहुत कुछ स्पष्ट है । यह नौ मुख्य विशेषणोंसे युक्त जैन लिङ्ग मुक्तिकी प्राप्तिमें सहायक है । ऐसा यहाँ निर्दिष्ट किया गया है और इसीसे मुमुक्षुको उसे धारण करना चाहिए ।

१. जघजादरूवजादं उप्पाडिदके समं सुगं सुद्धं । रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिङ्गं ॥५॥
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं । लिङ्गं ण परावेक्खं अपुण्णभवकारणं जेण्हं ॥६॥

—प्रवचनसार अ० ३

जिन-दीक्षा देनेके योग्य गुरु और श्रमणत्वकी प्राप्ति

नाहं भवामि कस्यापि न किंचन ममापरम् ।
इत्यकिंचनतोपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियम् ॥४॥
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या जिनमुद्रा-विभूषितः ।
जायते श्रमणोऽसङ्गो विधाय व्रत-संग्रहम् ॥५॥

‘मैं किसीका नहीं हूँ और न दूसरा कोई मेरा है, इस अपरिग्रह भावसे युक्त, कषायसे रहित और जितेन्द्रिय गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके तथा व्रतसमूहको धारण करके जो परिग्रहरहित हुआ जिनमुद्रासे विभूषित होता है वह ‘श्रमण’ है ।

व्याख्या—जिनलिंगको धारण करनेके लिए जिस गुरुके पास जाना चाहिए उसका यहाँ प्रथम पद्यमें प्रमुख रूप दिया है और वह तीन बातोंको लिये हुए है—एक तो यह कि ‘मैं किसीका नहीं और न दूसरा कोई पर-पदार्थ मेरा है’ इस अकिंचन भावको वह लिये हुए होना चाहिए, दूसरे कषायोंसे रहित और तीसरे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए होना चाहिए । ये गुण जिसमें नहीं वह जिनलिंगकी दीक्षा देनेके योग्य नहीं और इसलिए ऐसे गुरुसे जिन-दीक्षा नहीं लेनी चाहिए । दूसरे पद्यमें यथोक्त गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके (अपने दीक्षा-ग्रहणके भावको निवेदन करके) और गुरुके द्वारा उपदिष्ट व्रतोंको ग्रहण करके जिनमुद्रासे विभूषित निःसंग हुआ वह मुमुक्षु ‘श्रमण’ होता है । श्रमण-संज्ञाके अतिरिक्त उसे यति, मुनि आदि नामोंसे भी उल्लेखित किया जाता है; जैसा कि अगले पद्योंमें प्रयुक्त ‘यतेः’ ‘यतिः’ आदि पदोंसे जाना जाता है ।

श्रमणके कुछ मूलगुण

महाव्रत-समित्यन्तरोधाः स्युः पञ्च चैकशः ।
परमावश्यकं षोढा, लोचोऽस्नानमचेलता ॥६॥
अदन्तधावनं भूमिशयनं^२ स्थिति-भोजनम् ।
एकभक्तं च सन्त्येते पाल्या मूलगुणा यतेः ॥७॥

‘पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रिय निरोध, छह परमावश्यक, केश लोच, अस्नान, अचेलता (नग्नता), अदन्त-धावन, भूमिशयन, खड़े भोजन और एक बार भोजन ये योगीके (अट्टाईस) मूल गुण हैं जो (सदा) पालन किये जानेके योग्य हैं ।’

व्याख्या—श्रमण-मुनिके लिए जिस व्रतसमूहके ग्रहणकी सूचना पिछले पद्यमें की गयी है वे सुप्रसिद्ध २८ मूलगुण हैं, जिनका इन दोनों पद्योंमें उल्लेख है और जिनके विस्तृत स्वरूप लक्ष्य एवं उपयोगितादिके वर्णनसे मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्माभृत आदि ग्रन्थ भरे हुए हैं, विशेष जानकारिके लिए उन्हें देखना चाहिए । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं । ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण

१. आ श्रवणो । २. वदसमिदिदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं । खिदिसयणमदंतधावणं ठिदिभोयणमेगभक्तं च ॥८॥ एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता ॥९॥ (पूर्वार्ध)
—प्रवचनसार अ० चा० । ३. व्या भूमि शयनं ।

और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियोंके नाम हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ, जिनका निरोधन-वशीकरण यहाँ विवक्षित है। सामायिक, स्तव, वन्दना, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये छह परमावश्यक हैं, जिनका स्वरूप इस ग्रन्थके पिछले अधिकारमें आ चुका है। ये सब मूलगुण उक्त श्रमण दिगम्बर जैन मुनिके द्वारा अवश्य पालनीय हैं।

इन २८ मूलगुणोंमें महाव्रत मुख्य हैं, शेष सब उनके परिकर हैं—परिवारके रूपमें स्थित हैं। और ये सब निर्विकल्प सामायिक संयमके विकल्प होनेसे श्रमणोंके मूलगुण ही हैं। ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यने प्रवचनसारकी टीकामें प्रतिपादन किया है।

मूलगुणोंके पालनमें प्रमादी मुनि छेदोपस्थापक

निष्प्रमादतया पाल्या योगिना हितमिच्छता ।

सप्रमादः पुनस्तेषु छेदोपस्थापको यतिः ॥८॥

‘जो योगी अपना हित चाहता है उसके द्वारा ये मूलगुण निष्प्रमादताके साथ पालनीय हैं। जो इनके पालनमें प्रमादरूप प्रवर्तता है वह योगी ‘छेदोपस्थापक’ होता है।’

व्याख्या—उक्त मूलगुणोंके पालनेमें थोड़ा-सा भी प्रमाद नहीं होना चाहिए, इसीमें योगी-मुनिका हित है, ऐसा यहाँ सूचित किया गया है। साथ ही उस मुनिको ‘छेदोपस्थापक’ बतलाया है जो उक्त गुणोंके पालनेमें प्रमादसहित प्रवर्तता अथवा लापरवाही (असावधानी) करता है। और इसलिए जो गुण प्रमाद-दोषके कारण भंग हुआ है उसमें फिरसे अपनेको स्थापित करता है।

श्रमणोंके दो भेद सूरि और निर्यापक

प्रव्रज्या-दायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते ।

निर्यापकाः पुनः शेषाश्छेदोपस्थापका मताः ॥९॥

‘संयमियोंको दीक्षा देनेवाला ‘सूरि’—गुरु, आचार्य—कहा जाता है, शेष श्रमण, जो संयममें दोष लगानेपर अपने उपदेश-द्वारा उस छेद प्राप्त मुनिको संयममें स्थापित करते हैं वे, ‘निर्यापक’ कहे जाते हैं।

व्याख्या—इस पद्यमें श्रमणोंके दो मुख्य भेदोंका उल्लेख है—एक ‘सूरि’ और दूसरा ‘निर्यापक’। सूरि, जिसे ‘आचार्य’ तथा प्रवचनसार-कारके शब्दोंमें ‘गुरु’ भी कहते हैं, जिन-लिंग ग्रहणके इच्छुक संयतों—मुमुक्षुओंको प्रव्रज्या—दीक्षा देनेवाला होता है। शेष उन सब श्रमणोंको ‘निर्यापक’ बतलाया है जो दीक्षा ग्रहणके अनन्तर किसी भी श्रमणके व्रत-संयममें

१. सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तवशेन हिसानृतस्तेयाव्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्त्वयमावश्यकमर्चलक्यमरसनानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवम् एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव ।

२. तेसु पमत्तो समणो छेदोवद्विवागो होदि ॥ ९ उ० ॥ —प्रवचनसार चा० अ० । ३. लिंगग्रहणे तेषु गुरुत्ति पञ्चज्जदायगो होदि । छेदेसु अ वट्टगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥१०॥

—प्रवचनसार चा० अ० ।

एकदेश या सर्वदेश छेद—भंगके उत्पन्न होनेपर उसे संवेग-वैराग्य जनक परमागमके उपदेश-द्वारा फिरसे उस संयममें स्थापित करते हैं। ऐसे निर्यापक गुरुओंको जयसेनाचार्यने 'शिक्षा-गुरु' तथा 'श्रुतगुरु' के नामसे भी उल्लेखित किया है।

'छेद' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, जैसे छिद्र (सुराख), खण्डनभेदन (कर्ण नासिकादिक रूपमें), निवारण (संशयच्छेद), विनाश (धर्मच्छेद, कर्मच्छेद) विभाग-खण्ड- (परिच्छेद), त्रुटि-दोष, अतिचार, प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तभेद, दिवसमासादिके परिमाणसे दीक्षा छेद। यहाँ तथा अगले पद्योंमें वह त्रुटि आदि पिछले अर्थोंमें ही प्रयुक्त हुआ है।

चारित्र्यमें छेदोत्पत्तिपर उसकी प्रतिक्रिया

^२प्रकृष्टं कुर्वतः साधोश्चारित्र्यं कायचेष्टया ।

यदिच्छेदस्तदा कार्या क्रियालोचन-पूर्विका ॥१०॥

आश्रित्य व्यवहारज्ञं सूरिमालोच्य भक्तितः ।

दत्तस्तेन विधातव्यश्छेदश्छेदवता सदा ॥११॥

'उत्तम चारित्र्यका अनुष्ठान करते हुए साधुके यदि कायकी चेष्टासे दोष लगे—अन्तरंगसे दोष न बने—तो उसे (उस दोषके निवारणार्थ) आलोचन-पूर्वक क्रिया करनी चाहिए। यदि अन्तरंगसे दोष बननेके कारण योगी छेदको प्राप्त सदोष हुआ हो तो उसे किसी व्यवहारशास्त्रज्ञ गुरुके आश्रयमें जाकर भक्तिपूर्वक अपने दोषकी आलोचना करनी चाहिए और वह जो प्रायश्चित्त दे उसे ग्रहण करना चाहिए।'

व्याख्या—प्रयत्नपूर्वक चारित्र्यका आचरण करते हुए भी यदि मात्र कायकी चेष्टासे व्रतमें कुछ दोष लगे और अन्तरंग रागादिके परिणामरूप अशुद्ध न होने पावे तो उसका निराकरण मात्र आलोचनात्मक क्रियासे हो जाता है। परन्तु अन्तरंगके दूषित होनेपर किसी अच्छे व्यवहार-शास्त्र-कुशल गुरुका आश्रय लेकर अपने दोषकी आलोचना करते हुए प्रायश्चित्तकी याचना करना और उसके दिये हुए प्रायश्चित्तको भक्तिभावसे ग्रहण करके उसका पूरी तौरसे अनुष्ठान करना होता है।

बिहारका पात्र श्रमण

^३भूत्वा निराकृतश्छेदश्चारित्र्याचरणोद्यतः ।

सुश्रमणो निबन्धानि यतिविहरतां सदा ॥१२॥

१. "ते शेषाः श्रमणनिर्यापकाः शिक्षागुरवश्च भवन्तीति ।.....निर्विकल्पकसमाधिरूपसामायिक-स्यैकदेशेन च्युतिरेकदेशश्छेदः, सर्वथा च्युतिः सकलदेशश्छेद इति देश-सकलभेदेन द्विधा छेदः । तयोश्छेदयोरे प्रायश्चित्तं दत्त्वा संवेग-वैराग्य-परमागमवचनेन संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरवः श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते ॥" —प्रवचनसार टीका जयसेनोया । २. पद्यदम्हि समारद्धे छेदो समणसस कायचेष्टुम्हि । जायदि जदि तस्स पुणो आलोयण-पुव्विया किरिया ॥११॥ छेदपउत्तो समणो समणं वव्वहारिणं जिणमदम्हि । आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥१२॥ (जुगलं) —प्रवचनसार अ० ३ । ३. अधिवासे व विवासे छेदविहणोभवीयसामण्णे । समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णि बंधाणि ॥१३॥ —प्रवचनसार अ० ३ ।

‘दोषरहित होकर चारित्रके अनुष्ठानमें उद्यमी हुआ योगी निबन्धनोंको—परद्रव्य में रागादि भावोंको—छोड़ता हुआ सदा विहार करे ।’

व्याख्या—यहाँ योगी (श्रमण) में विहारकी पात्रताका उल्लेख करते हुए तीन बातोंको आवश्यक बतलाया है—एक तो चारित्रके पालनेमें जो दोष लगा हो उससे प्रायश्चित्तादिके द्वारा वह रहित हो चुका हो, दूसरे आगेके लिए यथार्थ चारित्रके पालनमें पूर्णतः उद्यमी हो और तीसरे परद्रव्योंमें रागादिकको छोड़ रहा हो । ये तीनों बातें जबतक नहीं बनती तबतक योगीमें सम्यक् विहारकी पात्रता नहीं आती ।

किस योगीके श्रमणताकी पूर्णता होती है

शुद्ध-रत्नत्रयो योगी यत्नं मूलगुणेषु च ।

विधत्ते सर्वदा पूर्णं श्रामण्यं तस्य जायते ॥१३॥

‘(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप) शुद्ध रत्नत्रयका धारक जो योगी मूलगुणोंके पालनेमें सदा पूरा यत्न करता है उसके पूर्ण श्रमणता होती है ।’

व्याख्या—यहाँ श्रमणताकी पूर्णता किस योगीके होती है, इसका उल्लेख किया गया है । जिस योगीकी चर्या शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है और जो २८ मूल गुणोंके पालनमें सदा पूर्ण प्रयत्नवान है उसे पूर्ण श्रमणताकी प्राप्ति होती है । अतः जिस मुनिकी उक्त चर्यामें दोष लगते हैं तथा जिससे मूलगुणोंका पूर्णतः पालन नहीं बनता उसे अपनेको तथा दूसरोंको उसे पूर्ण श्रमण न समझना चाहिए ।

निर्ममत्व-प्राप्त योगी किनमें राग नहीं रखता

उपधौ वसतौ सङ्गे विहारे भोजने जने ।

प्रतिबन्धं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः ॥१४॥

‘जो योगी निर्ममत्व हो गया है वह उपधि (परिग्रह) में, वस्तिका (आवासस्थान) में, (चतुर्विध) संघमें, विहारमें, भोजनमें, जनसमुदायमें प्रतिबन्धको नहीं बाँध सकता है—अनु-रागरूप प्रवृत्त नहीं होता है ।’

व्याख्या—जिन निबन्धनोंको छोड़नेकी १२वें पद्यमें सूचना की गयी है उनमें-से छहके नामोंका यहाँ उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस योगीने निर्ममत्वको अधिकृत किया है वह इनमें-से किसीके भी साथ रागका कोई बन्धन नहीं बाँधता । वास्तवमें किसी भी पर-वस्तुके साथ ममकारका जो भाव है—उसे मेरी-अपनी समझता है—वही रागरूप बन्धकी उत्पत्तिमें कारण है । अतः योगीके लिए पर-पदार्थोंमें ममत्वका छोड़ना परमावश्यक है, तभी उसकी योगसाधनामें ठीक गति हो सकेगी । ममकार और अहंकार ये दोनों ही परम शत्रु हैं, जिनलिंग धारणके लक्ष्यको बिगाड़नेवाले और संसार-परिभ्रमण करनेवाले हैं ।

१. चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसण-मुहम्मि । पयदो मूलगुणेषु य जो सो पडिपुण्ण-सामण्णो ॥१४॥ —प्रवचनसार, अ० ३ । २. आ श्रावण्यं । ३. भत्ते व खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा । उवधिम्मि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि ॥१५॥ —प्रवचनसार चा० अ० ।

अशनादिमें प्रमादचारी साधुके निरन्तर हिंसा

‘अशने शयने स्थाने गमे चङ्क्रमणे ग्रहे’ ।

प्रमादचारिणो हिंसा साधोः सान्ततिकीरिता ॥१५॥

‘जो साधु खाने-पीनेमें, लेटने-सोनेमें, उठने-बैठनेमें, चलने-फिरनेमें, हस्त-पादादिकके पसारनेमें, किसी वस्तुको पकड़नेमें, छोड़ने या उठाने-धरनेमें प्रमाद करता है—यत्नाचारसे प्रवृत्त नहीं होता—उसके निरन्तर हिंसा कही गयी है—भले ही वैसा करनेमें कोई जीव मरे या न मरे ।’

व्याख्या—चारित्र्यमें तथा २८ मूल गुणोंमें हिंसाकी पूर्णतः निवृत्तिरूप जिस अहिंसा महाव्रतकी प्रधानता है उसको दृष्टिमें रखते हुए यहाँ उस साधुको निरन्तर हिंसाका भागी बतलाया है जो भोजन-शयनादि रूप उक्त क्रियाओंमें प्रमादसे वर्तता है—चाहे उन क्रियाओंके करनेमें कोई जीव मरे या न मरे । इसीसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारमें कहा है ‘मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा’ कोई जीव मरे या न मरे, जो यत्ना-चारसे प्रवृत्त नहीं होता ऐसे प्रमादीके निश्चित रूपसे बराबर हिंसा होती रहती है । अतः हिंसामें प्रधान कारण प्रमादचर्या है—जीवघात नहीं । जीवघातके न होनेपर भी प्रमादीको हिंसाका दोष लगता है ।

यत्नाचारीकी क्रियाएँ गुणकारी, प्रमादीकी दोषकारी

गुणायेदं सयत्नस्य दोषायेदं प्रमादिनः ।

सुखाय ज्वरहीनस्य दुःखाय ज्वरिणो घृतम् ॥१६॥

‘जो यत्नाचारसे प्रवृत्त होता है उसके यह सब आचरण गुणकारी हैं और जो प्रमादी है उसके यह सब आचरण दुःखकारी हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि ज्वररहितके घृतका सेवन सुखकारी है और ज्वरवालेको दुःखका कारण है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें अशन-शयनादिके रूपमें जिस आचरणका उल्लेख है उस सयत्ना-चारीके लिए यहाँ गुणकारी और प्रमादचारीके लिए दोषकारी बतलाया है साथमें घृतका उदाहरण देकर उसको स्पष्ट किया है, जो कि ज्वरहीनके लिए सुखकारी और ज्वरवानके लिए दुःखकारी होता है । इस तरह एक ही वस्तु आश्रय भेदसे भिन्न फलको फलती है ।

पर पीडक साधुमें ज्ञानके होते हुए भी चारित्र्य मलिन

ज्ञानवत्यपि चारित्र्यं मलिनं पर-पीडके ।

कज्जलं मलिनं दीपे स प्रकाशेऽपि तापके ॥१७॥

‘परको पीड़ा पहुँचानेवाले (साधु) में (सम्यक्) ज्ञानके होनेपर भी चारित्र्य मलिन होता है । (ठीक है) तापकारी दीपकमें प्रकाशके होते हुए भी काजल मलिन (काला) होता है—प्रकाशके समान उज्ज्वल नहीं होता ।’

१. अपयता वा चरिया सयणासणठाणचंक्रमादीसु । समणस्स सब्बकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥३-१६॥ —प्रवचनसार । २. व्या आशने । ३. आ गृहे । ४. मु ज्वरिणे ।

व्याख्या—यहाँ उस साधुको मलिनचारित्री बतलाया है जो ज्ञानी होनेपर भी पर-पीडक बना हुआ है और उसे उस दीपककी उपमा दी है जो प्रकाशसे युक्त होनेपर भी तापक बना हुआ है—अनेक कीट-पतंगोंको जला-भुनाकर पीड़ा पहुँचाता है—और इसलिए उससे जो काला काजल प्रसूत होता है वह उसके मलिनाचारका द्योतक है।

भवाभिनन्दी मुनियोंका रूप

भवाभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः ।

कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पङ्क्ति-कृतादराः ॥१८॥

‘कुछ मुनि परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी भवाभिनन्दी—संसारका अभिनन्दन करनेवाले अनन्त संसारी तक—होते हैं, जो कि संज्ञाओंके—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नामकी चार संज्ञाओं—अभिलाषाओंके—वशीभूत हैं और लोकपंक्तिमें आदर किये रहते हैं—लोगोंके आराधने-रिझाने आदिमें रुचि रखते हुए प्रवृत्त होते हैं।’

व्याख्या—यद्यपि जिनलिंगको—निर्ग्रन्थ जैनमुनि-मुद्राको—धारण करनेके पात्र अति निपुण एवं विवेक-सम्पन्न मानव ही होते हैं^१ फिर भी जिनदीक्षा लेनेवाले साधुओंमें कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बाह्यमें परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी अन्तरंगसे संसारका अभिनन्दन करनेवाले होते हैं। ऐसे साधु-मुनियोंकी पहचान एक तो यह है कि वे आहारादि चार संज्ञाओंके अथवा उनमें-से किसीके भी वशीभूत होते हैं; दूसरे लोकपंक्तिमें—लौकिकजनों-जैसी क्रियाओंके करनेमें—उनकी रुचि बनी रहती है और वे उसे अच्छा समझकर करते भी हैं। आहार-संज्ञाके वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरोंमें भोजन करते हैं जहाँ अच्छे रुचिकर एवं गरिष्ठ-स्वादिष्ट भोजनके मिलनेकी अधिक सम्भावना होती है, उच्छिष्ट भोजनके त्याग-की—आगमोक्त दोषोंके परिवर्जनकी—कोई परवाह नहीं करते, भोजन करते समय अनेक बाह्य क्षेत्रोंसे आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाज्ञाके विरुद्ध होता है। भय-संज्ञाके वशीभूत मुनि अनेक प्रकारके भयोंसे आक्रान्त रहते हैं, परीषहोंके सहनसे घबराते तथा वनवाससे डरते हैं; जबकि सम्यग्दृष्टि सप्त प्रकारके भयोंसे रहित होता है। मैथुनसंज्ञाके वशीभूत मुनि ब्रह्मचर्य महाव्रतको धारण करते हुए भी गुप्त रूपसे उसमें दोष लगाते हैं। और परिग्रह-संज्ञावाले साधु अनेक प्रकारके परिग्रहोंकी इच्छाको धारण किये रहते हैं, पैसा जमा करते हैं, पैसेका ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इष्टजनोंको पैसा दिलाते हैं, पुस्तकें छपा-छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोड़ते हैं, तालाबन्द बोकस रखते हैं, बोकसकी ताली कमण्डलु आदिमें रखते हैं, पीछीमें नोट छिपाकर रखते हैं, अपनी पूजाएँ बनवा-कर छपवाते हैं और अपनी जन्मगाँठका उत्सव मनाते हैं। ये सब लक्षण उक्त भवाभि-नन्दियोंके हैं, जो पद्यके ‘संज्ञावशीकृताः’ और ‘लोकपंक्तिकृतादराः’ इन दोनों विशेषणोंसे फलित होते हैं और आजकल अनेक मुनियोंमें लक्षित भी होते हैं।

१. आहार-भय-परिग्रह-मेहुण-सण्णाहि मोहितोसि तुमं । भमिओ संसारवणे आणाइकालं आणप्पवसो ॥११०॥ —कुन्दकुन्द, भावपाहुड । २. मुक्तिं यियासता धायं जिनलिङ्गं पटीयसा । —यो० प्रा०, ८-१ ।

मूढा लोभपराः क्रूरा भीरवोऽसूयकाः शठाः ।

भवाभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः ॥१६॥

‘जो मूढ—दृष्टिविकारको लिये हुए मिथ्यादृष्टि—लोभमें तत्पर, क्रूर, भीरु (डरपोक), ईर्ष्यालु और विवेक-विहीन हैं वे निष्फल-आरम्भकारी—निरर्थक धर्मानुष्ठान करनेवाले—भवाभिनन्दी हैं ।’

व्याख्या—यहाँ भवाभिनन्दियोंके लिए जिन विशेषणोंका प्रयोग किया गया है वे उनकी प्रकृतिके द्योतक हैं । ऐसे विशेषण-विशिष्ट मुनि ही प्रायः उक्त संज्ञाओंके वशीभूत होते हैं, उनके सारे धर्मानुष्ठानको यहाँ निष्फल—अन्तःसार-विहीन—घोषित किया गया है । अगले पद्यमें उस लोकपंक्तिका स्वरूप दिया है, जिसमें भवाभिनन्दियोंका सदा आदर बना रहता है ।

भवाभिनन्दियों-द्वारा आदृत लोकपंक्तिका स्वरूप

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना ।

क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता ॥२०॥

‘अविवेकी साधुओंके द्वारा मलिन अन्तरात्मासे युक्त होकर लोगोंके आराधन-अनुरंजन अथवा अपनी ओर आकर्षणके लिए जो धर्म-क्रिया की जाती है वह ‘लोक-पंक्ति’ कहलाती है ।’

व्याख्या—यहाँ लौकिकजनों-जैसी उस क्रियाका नाम ‘लोकपंक्ति’ है जिसे अविवेकीजन दूषित-मनोवृत्तिके द्वारा लोकाराधनके लिए करते हैं अर्थात् जिस लोकाराधनमें ख्याति-लाभ-पूजादि-जैसा अपना कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित होता है । इसीसे जिस लोकाराधनरूप क्रियामें ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित नहीं होता और जो विवेकी विद्वानोंके द्वारा केवल धर्मार्थ की जाती है वह लोकपंक्ति नहीं होती, तब क्या होती है उसे अगले पद्यमें दर्शाया है ।

धर्मार्थ लोकपंक्ति और लोकपंक्तिके लिए धर्म

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणाङ्गं मनीषिणाम् ।

तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसाम् ॥२१॥

‘जो विवेकशील विद्वान् साधु हैं उनकी धर्मार्थ की गयी उक्त लोकाराधनरूप क्रिया कल्याण-कारिणी होती है और जो मूढ़चित्त अविवेकी हैं, उन साधुओंका लोकाराधनके निमित्त—लोगों-को अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए—किया गया धर्म पापबन्धका कारण होता है ।’

व्याख्या—यहाँ विवेकी जनोंके द्वारा धर्मके अर्थ—धर्मकी वृद्धि प्रसृति रक्षा और प्रभावनाके लिए—जो लोकाराधन-क्रिया की जाती है उसे तो कल्याणकारिणी बतलाया है परन्तु लोकाराधनके लक्ष्यको लेकर जो धर्म किया जाता है उसे पापबन्धका कारण बतलाया है । इस तरह धर्मके लिए लोकाराधन और लोकाराधनके लिए धर्मसाधन इन दोनोंमें परस्पर बड़ा अन्तर है—एक पुण्यरूप है, दूसरा पापरूप है । इससे यह भी फलित हुआ कि धर्मसाधन पुण्यबन्ध ही नहीं, कभी-कभी दृष्टिभेदके कारण पापबन्धका भी कारण होता है । भवाभिनन्दियोंका धर्मानुष्ठान प्रायः इसी कोटिमें आता है ।

मुक्तिमार्गपर तत्पर होते हुए भी सभीको मुक्ति नहीं

मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धि-निबन्धनम् ।

मुक्तिरासन्नभव्येन^१ न कदाचित्पुनः परम् ॥२२॥

‘जो चित्त मुक्तिमार्गपर तत्पर है वह कर्ममलको हटाकर आत्मशुद्धिका कारण है। परन्तु मुक्तिकी प्राप्ति आसन्नभव्यको होती है और दूसरेको कदाचित् (कभी) नहीं।’

व्याख्या—मुक्तिमार्गपर तत्पर होते हुए भी सभीको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती; मुक्तिकी प्राप्तिके लिए निकटभव्यताकी योग्यताका होना साथमें आवश्यक है, यह यहाँपर दर्शाया है।

भवाभिनन्दियोंका मुक्तिके प्रति विद्वेष

कल्मष-क्षयतो मुक्तिर्भोग-सङ्गम(वि)वर्जिनाम् ।

भवाभिनन्दिनामस्यां विद्वेषो मुग्धचेतसाम् ॥२३॥

‘जो भोगोंके सम्पर्कसे रहित हैं, अथवा इन्द्रिय विषय भोग और परिग्रहसे विवर्जित हैं—पूर्णतः विरक्त हैं—उन (महात्माओं) के कर्मोंके क्षयसे मुक्ति होती है। जो मूढ़चित्त भवाभिनन्दी हैं उनका इस मुक्तिमें विशेषतः द्वेषभाव रहता है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें यह बतलाया है कि मुक्ति आसन्नभव्योंको होती है—दूसरोंको नहीं। इस पद्यमें एक तो उन आसन्नभव्योंको ‘भोगसंगविवर्जित’ विशेषणके द्वारा स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि जो भोगों और परिग्रहोंसे सर्वथा अथवा पूर्णतः विरक्त हैं। दूसरे मुक्तिके हेतुका निर्देश किया है और वह है कर्मोंका सर्वथा विनाश। तीसरे यह उल्लेख किया है कि जो भवाभिनन्दी मुनि होते हैं उन विवेकशून्य मूढ़-मानसोंका इस मुक्तिमें अति-द्वेषभाव रहता है—संसारका अभिनन्दन करनेवाले दीर्घ संसारी होनेसे उन्हें मुक्तिकी बात नहीं सुहाती—नहीं रुचती—और इसलिए वे उससे प्रायः विमुख बने रहते हैं—उनसे मुक्तिकी साधनाका कोई भी योग्य प्रयत्न बन नहीं पाता; सब कुछ क्रियाकाण्ड ऊपरी और कोरा नुमायशी ही रहता है।

मुक्तिसे द्वेष रखनेका कारण वह दृष्टिविकार है जिसे ‘मिथ्यादर्शन’ कहते हैं और जिसे आचार्य महोदयने अगले पद्यमें ही ‘भवबीज’ रूपसे उल्लेखित किया है।

जिनके मुक्तिके प्रति विद्वेष नहीं वे धन्य

नास्ति येषामयं तत्र भवबीज-वियोगतः ।

तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याण-फल-भागिनः ॥२४॥

‘जिनके भवबीजका—मिथ्यादर्शनका—वियोग हो जानेसे मुक्तिमें यह द्वेषभाव नहीं है वे महात्मा भी धन्य हैं—प्रशंसनीय हैं—और कल्याणरूप फलके भागी हैं।’

व्याख्या—यहाँ उन महात्माओंका उल्लेख है और उन्हें धन्य तथा कल्याणफलका भागी बतलाया है जो मुक्तिमें द्वेषभाव नहीं रखते, और द्वेषभाव न रखनेका कारण भवबीज जो मिथ्यादर्शन उसका उनके वियोग सूचित किया है।

१. आ मुक्तेरासन्नभव्येन ।

निःसन्देह संसारका मूल कारण 'मिथ्यादर्शन' है, मिथ्यादर्शनके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र होता है, तीनोंको भवपद्धति—संसार मार्गके रूपमें उल्लेखित किया जाता है, जो कि मुक्तिमार्गके विपरीत है। यह दृष्टिविकार ही वस्तु तत्त्वको उसके असली रूपमें देखने नहीं देता, इसीसे जो अभिनन्दनीय नहीं है उसका तो अभिनन्दन किया जाता है और जो अभिनन्दनीय है उससे द्वेष रखा जाता है। इस पद्यमें जिन्हें धन्य, महात्मा और कल्याणफलभागी बतलाया है उनमें अविरत-सम्यग्दृष्टि तकका समावेश है।

स्वामी समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डाल-पुत्रको भी 'देव' लिखा है— आराध्य बतलाया है; और श्री कुन्दकुन्दाचार्यने सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको भ्रष्ट ही निर्दिष्ट किया है, उसे निर्वाणकी^१—सिद्धि-मुक्तिकी—प्राप्ति नहीं होती।

इस सब कथनसे यह साफ फलित होता है कि मुक्तिद्वेषी मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी-मुनियोंकी अपेक्षा देशव्रती श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तक धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं तथा कल्याणके भागी हैं। स्वामी समन्तभद्रने ऐसे ही सम्यग्दर्शन-सम्पन्न सद्गृहस्थोंके विषयमें लिखा है --

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान् ।

अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो, मोहिनो मुनेः ॥

'मोह (मिथ्यादर्शन) रहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है। मोहसहित (मिथ्या-दर्शन-युक्त) मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। (और इसलिए) मोही-मिथ्यादृष्टिमुनिसे निर्मोही—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिमात्रका दर्जा गृहस्थसे ऊँचा नहीं है, मुनियोंमें मोही और निर्मोही दो प्रकारके मुनि होते हैं। मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थका दर्जा ऊँचा है—यह उससे श्रेष्ठ है। इसमें मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि अविवेकी मुनिसे विवेकी गृहस्थ भी श्रेष्ठ है और इसलिए उसका दर्जा अविवेकी मुनिसे ऊँचा है।

जो भवाभिनन्दीमुनि मुक्तिसे अन्तरंगमें द्वेष रखते हैं वे जैन मुनि अथवा श्रमण कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते। जैन मुनियोंका तो प्रधान लक्ष्य ही मुक्ति प्राप्त करना होता है। उसी लक्ष्यको लेकर जिनमुद्रा धारणकी सार्थकता मानी गयी है।^२ यदि वह लक्ष्य नहीं तो जैन मुनिपना भी नहीं; जो मुनि उस लक्ष्यसे भ्रष्ट हैं उन्हें जैनमुनि नहीं कह सकते—वे भेषी-ढोंगी मुनि अथवा श्रमणाभास हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारके तृतीय चारित्र्याधिकारमें ऐसे मुनियोंको 'लौकिक-मुनि' तथा 'लौकिकजन' लिखा है। लौकिकमुनि-लक्षणात्मक उनकी वह गाथा इस प्रकार है:—

णिगंथो पञ्चद्वदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि ।

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि ॥६९॥

इस गाथामें बतलाया है कि 'जो निर्ग्रन्थरूपसे प्रव्रजित हुआ है—जिसने निर्ग्रन्थ दिग्म्बर जैन मुनिकी दीक्षा धारण की है—वह यदि इस लोक-सम्बन्धी सांसारिक दुनिया-दारीके कार्योंमें प्रवृत्त होता है तो तप-संयमसे युक्त होते हुए भी उसे 'लौकिक' कहा गया है।' वह पारमार्थिक मुनि न होकर एक प्रकारका सांसारिक दुनियादार प्राणी है। उसके लौकिक

१. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः । यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥—समन्तभद्र ।

२. दंसणभट्टा भट्टादंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।-दंसणपाहुड । ३. मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते—रामसेन,

तत्त्वानुशासन । ४. मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिङ्गं पटीयसा । —योगसारप्रा० ८-१ ।

कार्योंमें प्रवर्तनका आशय मुनिपदको आजीविकाका साधन बनाना, ख्याति-लाभ-पूजादिके लिए सब कुछ क्रियाकाण्ड करना, वैद्यक-ज्योतिष-मन्त्र-तन्त्रादिका व्यापार करना, पैसा बटोरना, लोगोंके झगड़े-टण्टेमें फँसना, पार्टीबन्दी करना, साम्प्रदायिकताको उभारना और दूसरे ऐसे कृत्य करने-जैसा हो सकता है जो समतामें बाधक अथवा योगीजनोंके योग्य न हो।

एक महत्त्वकी बात इससे पूर्वकी गाथामें आचार्य महोदयने और कही है और वह यह है कि 'जिसने आगम और उसके द्वारा प्रतिपादित जीवादि पदार्थोंका निश्चय कर लिया है, कषायोंको शान्त किया है और जो तपस्यामें भी बढ़ा-चढ़ा है, ऐसा मुनि भी यदि लौकिक-मुनियों तथा लौकिक-जनोंका संसर्ग नहीं त्यागता तो वह संयमी मुनि नहीं होता अथवा नहीं रह पाता है—संसर्गके दोषसे, अग्निके संसर्गसे जलकी तरह, अवश्य ही विकारको प्राप्त हो जाता है :—

णिच्छिदमुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।

लोगिगजन-संसर्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥६८॥

इससे लौकिक-मुनि ही नहीं किन्तु लौकिक-मुनियोंकी अथवा लौकिक-जनोंकी संगति न छोड़नेवाले भी जैन मुनि नहीं होते, इतना और स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि इन सबकी प्रवृत्ति प्रायः लौकिकी होती है, जबकि जैन मुनियोंकी प्रवृत्ति लौकिकी न होकर अलौकिकी हुआ करती है; जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार-नित्य-निरभिमुखा ।

एकान्त-विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१३॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमें अलौकिकी वृत्तिके दो विशेषण दिये गये हैं—एक तो करम्बित (मिलावटी-बनावटी-दूषित) आचारसे सदा विमुख रहनेवाली; दूसरे एकान्ततः (सर्वथा) विरतिरूपा—किसी भी पर-पदार्थमें आसक्ति न रहनेवाली। यह अलौकिकी वृत्ति ही जैन मुनियोंकी जान-प्राण और उनके मुनि-जीवनकी शान होती है। बिना इसके सब कुछ फीका और निःसार है।

इस सब कथनका सार यह निकला कि निर्ग्रन्थ रूपसे प्रव्रजित-दीक्षित जिनमुद्राके धारक दिग्म्बर मुनि दो प्रकारके हैं—एक वे जो निर्मोही—सम्यग्दृष्टि हैं, मुमुक्षु-मोक्षाभिलाषी हैं, सच्चे मोक्षमार्गी हैं, अलौकिकी वृत्तिके धारक संयत हैं और इसलिए असली जैन मुनि हैं। दूसरे वे, जो मोहके उदयवश दृष्टि-विकारको लिये हुए मिथ्यादृष्टि हैं, अन्तरंगसे मुक्तिद्वेषी हैं, बाहरसे दम्भी मोक्षमार्गी हैं, लोकाराधनके लिए धर्मक्रिया करनेवाले भवाभिनन्दी हैं, संसारावर्तवर्ती हैं, फलतः असंयत हैं, और इसलिए असली जैनमुनि न होकर नकली मुनि अथवा श्रमणाभास हैं। दोनोंकी कुछ बाह्यक्रियाएँ तथा वेष सामान्य होते हुए भी दोनोंको एक नहीं कहा जा सकता; दोनोंमें वस्तुतः जमीन-आसमानका-सा अन्तर है। एक कुगुरु संसार-भ्रमण करने-करानेवाला है तो दूसरा सुगुरु संसार-बन्धनसे छूटने-छुड़ानेवाला है। इसीसे आगममें एकको वन्दनीय और दूसरेको अवन्दनीय बतलाया है। संसारके मोही प्राणी अपनी सांसारिक इच्छाओंकी पूर्तिके लिए भले ही किसी परमार्थतः अवनन्दनीयकी वन्दना-विनयादि करें—कुगुरुको सुगुरु मान लें—परन्तु एक शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करेगा। भय, आशा, स्नेह और लोभमें-से किसीके भी वश होकर उसके लिए वैसा करनेका निषेध है।

१. भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥

—स्वामी समन्तभद्र

मुक्तिमार्गको मलिनचित्त मलिन करते हैं

संज्ञानादिरूपायो यो निर्वृतेर्वर्णितो जिनैः ।

मलिनीकरणे तस्य प्रवर्तन्ते मलीमसाः ॥२५॥

‘जिनेन्द्र देवोंने मुक्तिका जो उपाय सम्यग्ज्ञानादिरूप बर्णन किया है उसको मलिनचित्त-साधु तथा गृहस्थ विद्वान्—मलिन करनेमें प्रवृत्त होते हैं।’

व्याख्या—मुक्तिका जो मार्ग सम्यग्ज्ञानादि-शुद्ध रत्नत्रयरूप जिनेन्द्रदेव-द्वारा वर्णित हुआ है उसे मलिन करनेमें वही प्रवृत्त होते हैं जो मलिनहृदय होते हैं। इसीसे लोकपंक्तिमें प्रवृत्त होनेवाले भवाभिनन्दी मुनिको ‘मलिन अन्तरात्मा’ (२०) लिखा है।

मुक्तिमार्गके आराधन तथा विराधनका फल

आराधने यथा तस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।

मलिनीकरणे तस्य तथानर्थो बहुव्यथः ॥२६॥

‘जिस प्रकार सम्यग्ज्ञानादिरूप मुक्तिमार्गकी आराधना-साधना करनेपर उसका फल अति उत्तम मोक्ष सुख कहा गया है उसी प्रकार उस मार्गके मलिन करनेपर उसका फल बहुत अनर्थ तथा दुःखरूप कहा गया है।’

व्याख्या—जिस मोक्षमार्गका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसके आराधनका फल जहाँ परमोत्कृष्ट सुखकी प्राप्तिरूप होता है वहाँ उसके विराधन अथवा मलिनीकरणका फल बहुत दुःख तथा अनर्थके रूपमें होता है, ऐसा यहाँ विधान किया गया है।

मार्गकी मलिनतासे होनेवाले अनर्थका सूचन

तुङ्गारोहणतः पातो यथा तृप्तिर्विषान्नतः ।

यथानर्थोऽवबोधादि-मलिनीकरणे तथा ॥२७॥

‘जिस प्रकार ऊँची सीढ़ीपरसे गिरना तथा विषमिश्रित भोजनसे तृप्तिका होना अनर्थकारी है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादिको मलिन-दूषित करना अनर्थकारी है।’

व्याख्या—मुक्तिमार्गको मलिन करनेपर जिस अनर्थकी बात पिछले पद्यमें कही गयी है उसका यहाँ दो उदाहरणोंके द्वारा कुछ आभास कराया गया है—एक है तुङ्गारोहणसे पतन, जितना कोई अधिक ऊँचा चढ़कर गिरेगा उतना ही वह अधिक दुःखका पात्र होगा। दूसरा उदाहरण है विष-मिश्रित अन्नके भोजनसे तृप्तिका—ऐसे विषाक्त भोजनसे जितनी किसीको अधिक तृप्ति होगी उतनी ही अधिक उसे वेदना उठानी पड़ेगी। यही दुःख तथा अनर्थकी स्थिति निर्मल सम्यग्ज्ञानादिको मलिन करनेपर होती है।

हिंसा पापका बन्ध किसको और किसको नहीं

अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च ।

प्रयत्नचारिणो बन्धः समितस्य वधेऽपि नो ॥२८॥

‘जो यत्नाचाररहित (प्रमादी) है उसके जीवके मरने तथा न मरनेपर भी हिंसा होती है और जो ईर्ष्यादि समितियोंसे युक्त हुआ यत्नाचारी है उसके जीवका घात होनेपर भी (हिंसा कर्मका) बन्ध नहीं होता ।’

व्याख्या—मोक्षमार्गके अंगभूत सम्यक् चारित्रमें हिंसाकी पूर्णतः निवृत्तिरूप अहिंसा महाव्रतकी प्रधानता है, उस अहिंसा महाव्रतकी मलिनताका विचार करते हुए यहाँ सिद्धान्त-रूपमें एक बड़े ही महत्त्वकी सूचना की गयी है और वह यह कि हिंसा-अहिंसाका सम्बन्ध किसी जीवके मरने-न-मरने (जीने) पर अवलम्बित नहीं है, कोई जीव न मरे परन्तु जो अयत्नाचारी-प्रमादी है उसको हिंसाका दोष लगाकर महाव्रत मलिन होता ही है और जो प्रयत्नपूर्वक मार्ग शोधता हुआ सावधानीसे चलता है, फिर भी उसके शरीरसे किसी जीवका घात हो जाता है तो उस जीव घातका उसको कोई दोष नहीं लगता और इससे उसका अहिंसा महाव्रत मलिन नहीं होता। सारांश यह निकला कि हमारा अहिंसाव्रत हमारी प्रमादचर्यासे मलिन होता है किसी जीवकी मात्र हिंसा हो जानेसे नहीं। अतः साधुको अपने व्रतकी रक्षाके लिए सदा प्रमादके त्यागपूर्वक यत्नाचारसे प्रवृत्त होना चाहिए। इस विषयमें श्री अमृतचन्द्र सूरिके निम्न हेतु-पुरस्सर-वाक्य सदा ध्यानमें रखने योग्य है :—

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।

न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।

स्त्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।

पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

—पुरुषार्थसिद्धचुपाय

इनमें बतलाया है कि ‘जो साधु यत्नाचारसे प्रवृत्त हो रहा है उसके रागादिके आवेशका अभाव होनेसे किसीका प्राणव्यपरोपण हो जानेपर भी कभी हिंसा नहीं होती। रागादिके वश प्रवृत्त होनेवाली प्रमादोवस्थामें तो कोई जीव मरे या न मरे हिंसा आगे-आगे दौड़ती हुई चलती है—निश्चित रूपसे हिंसा होती ही है। क्योंकि जो जीव कषायरूप प्रवृत्त होता है वह पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है पश्चात् दूसरे जीवोंका घात हो या न हो—यह उनके भविष्यसे सम्बन्ध रखता है।

१. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा । पयदस्स णत्थि वंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥३-१७॥ —प्रवचनसार ।

पूर्व कथनका स्पष्टीकरण

पादमुत्क्षिपतः साधोरीर्यासमिति-भागिनः ।

यद्यपि म्रियते सूक्ष्मः शरीरी पाद-योगतः ॥२६॥

तथापि तस्य तत्रोक्तो^१ बन्धः सूक्ष्मोऽपि नागमे ।

प्रमाद-त्यागिनो यद्वन्निर्मूर्च्छस्य परिग्रहः ॥३०॥

‘यद्यपि ईर्यासमितसे युक्त—भले प्रकार देखभालकर सावधानीसे चलते हुए—योगीके पैरको उठाकर रखते समय (कभी-कभी) सूक्ष्म जन्तु पैरतले आकर मर जाता है तथापि जिनागममें उस प्रमादत्यागी योगीके उस जीवघातसे सूक्ष्म भी बन्धका होना नहीं कहा गया है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मूर्च्छा-ममत्तरहितके परिग्रह नहीं कहा गया ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जो कुछ कहा गया है उसीको इन दोनों पद्योंमें उदाहरणके साथ स्पष्ट करके बतलाया गया है । एक साधु ईर्यासमितसे चार हाथ आगे तककी भूमिको देखता—श्लेधता हुआ इस सावधानीके साथ मन्दगतिसे चला जा रहा है कि किसी जीवके ऊपर उसका पैर न पड़ जाये, फिर भी कोई सूक्ष्म जीव पैरको उठाते समय अचानक इधर-उधरसे आकर पैरके नीचे आ जाता और मर जाता है तो उस जीवके बन्धका सूक्ष्म भी पापबन्ध जैनागमकी दृष्टिसे उस प्रमादरहित साधुको नहीं होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मूर्च्छा (ममत्वपरिणाम) से रहितके परिग्रहका दोष नहीं लगता; क्योंकि ‘मूर्च्छा परिग्रहः’ परिग्रहका लक्षणही मूर्च्छा कहा गया है और ‘मूर्च्छा तु ममत्व-परिणामः’ इस लक्षणके अनुसार मूर्च्छा ममत्व-परिणामका नाम है । इसीसे समवसरण-जैसे महाविभूतिके होते हुए भी ममत्व-परिणामके जनक मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे तीर्थकर परमदेव परिग्रहके शेषसे अलिप्त रहते हैं ।

अन्तरंग परिग्रहको न छोड़कर बाह्यको छोड़नेवाला प्रमादी

प्रमादी त्यजति ग्रन्थं बाह्यं मुक्त्वापि नान्तरम् ।

हित्वापि कञ्चुकं सर्पो गरलं न हि मुञ्चते ॥३१॥

‘जो प्रमादी (मुनि) है वह अन्तरंग परिग्रहको न छोड़ते हुए भी बाह्य परिग्रहको छोड़ता है । (ठीक है) सर्प काँचलीको छोड़कर भी विषको नहीं छोड़ता ।’

व्याख्या—जो राग-द्वेष-काम-क्रोधादि अन्तरंग-परिग्रहोंका त्याग न करके वस्त्रादि बाह्य परिग्रहोंका त्याग करता है उस निर्ग्रन्थ साधुको यहाँ ‘प्रमादी’ बतलाया है, वह गरल (विष) को न छोड़कर काँचली छोड़नेवाले सर्पके समान होता है । ऐसे ही निर्ग्रन्थ मुनियोंको लक्ष्य करके श्री मल्लिषेणाचार्यने सज्जनचित्तवत्त्वभमें लिखा है :

किं वस्त्र-त्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते

क्ष्वेडेन च्युतपन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले ॥

१. उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए । आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१८।१॥ ण हि तस्म तण्णिमित्तो बंधो सुहमो यदेसिदो समये । मुच्छापरिग्रहो च्चिय अज्झप्पपमा-णदो दिट्ठो ॥१८।२॥ —प्रवचनसार अ० ३ । २. आद्रि तत्रोक्तम् ।

इसमें बतलाया है कि हे मुनि ! वस्त्रको त्यागने मात्रसे ही क्या कोई मुनि हो जाता है, क्या इस भूतलपर काँचलीके छोड़नेसे कोई सर्प निर्विष हुआ है ?

अन्तःशुद्धिके बिना बाह्य-शुद्धि अविश्वसनीय

अन्तःशुद्धिं विना बाह्या न साश्वासकरी मता ।

धवलोऽपि बको बाह्ये हन्ति मीनाननेकशः ॥३२॥

‘अन्तरंगकी शुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि विश्वासके योग्य नहीं होती । बगुला बाह्यमें धवल-उज्ज्वल होनेपर भी (अन्तरंग शुद्धिके अभावमें) अनेक मछलियोंको मारता रहता है ।’

व्याख्या—अन्तःशुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि विश्वासका कारण नहीं होती, इस बातको स्पष्ट करते हुए यहाँ बगुलेका दृष्टान्त दिया गया है जो बाह्यमें स्वच्छ धवल होते हुए भी अन्तरंगमें मलिनताके कारण अनेक मछलियोंको मारा करता है । उसकी इस अन्तःशुद्धि-विहीन कपट वृत्तिको लेकर ही किसी कविने कहा है—

‘उज्ज्वल वर्ण अधीन गति एक चरण दो ध्यान ।

मैं जाना कोई साधु है, निरी कपट की खान ॥’

इसीसे जिन साधुओंका अन्तरंग शुद्ध नहीं होता उन्हें ‘बगुला भगत’ कहा जाता है । उनका विश्वास नहीं किया जाता, जो भूलसे विश्वास कर बैठता है वह ठगाया जाता है हानि उठाता है ।

प्रमादी तथा निष्प्रमादी योगीकी स्थिति

‘योगी षट्स्वपि कायेषु सप्रमादः प्रबध्यते ।

सरोजमिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते ॥३३॥

‘जो योगी षट्कायके जीवोंमें प्रमादसे प्रवृत्त होता है वह कर्मोंसे बँधता है और जो प्रमादसे प्रवृत्त नहीं होता वह कर्मोंसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार जलमें कमल ।’

व्याख्या—संसारी जीव त्रस-स्थावरके भेदसे दो प्रकारके होते हुए भी कायकी दृष्टिसे छह प्रकारके हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतिके शरीरको धारण करनेवाले—पाँच प्रकारके एक इन्द्रिय स्थावर जीव होते हैं और दो इन्द्रियादि रूप त्रस शरीरको धारण करनेवाले त्रस जीव कहलाते हैं । इन छहो प्रकारके देहधारी जीवोंके प्रति जो योगी प्रमादसे प्रवृत्त होता है वह हिंसाके दोषका भागी होकर कर्मके बन्धनको प्राप्त होता है और जिसकी प्रवृत्ति प्रमादरूप न होकर यत्नाचारको लिये हुए होती है वह जलमें कमलके समान निर्लेप रहता है—कर्मबन्धको प्राप्त नहीं होता ।

१. अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदी । चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥३-१८॥ —प्रवचनसार । २. आ षडपि ।

जीव घात होनेपर बन्ध हो न भी हो, परिग्रहसे उसका होना निश्चित

^१साधुर्यतोऽङ्घ्रिघातेऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा ।

उपधिभ्यो ध्रुवो बन्धस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः ॥३४॥

‘चूँकि कायचेष्टाके द्वारा जीवका घात होनेपर भी साधु (कभी तो प्रमादरूप अशुद्ध उपयोगोंके कारण) कर्मोंसे बँधता है और कभी (अप्रमादरूप शुद्ध उपयोगके कारण) नहीं भी बँधता; परन्तु परिग्रहोंके द्वारा तो निश्चित बन्ध होता है—इसलिए साधुओंके द्वारा परिग्रह सर्वथा त्याज्य है ।’

व्याख्या—कायचेष्टासे जीवका घात होनेपर तो बन्धके विषयमें अनेकान्त है, वह कभी होता है और कभी नहीं भी होता । अन्तरंगमें यदि प्रमादरूप अशुद्ध उपयोगका सद्भाव है तो होता है और सद्भाव नहीं किन्तु अभाव है तो बन्ध नहीं होता, परन्तु परिग्रहके विषयमें बन्धका अनेकान्त नहीं किन्तु एकान्त है—वह अवश्य ही होता है । इसीसे सच्चे मुमुक्षु साधु परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करते हैं—किसीमें भी अपना ममत्व नहीं रखते ।

एक भी परिग्रहके न त्यागनेका परिणाम

^३एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते ।

चित्तशुद्धिं विना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः ॥३५॥

‘एक भी परिग्रहके न त्यागो जानेपर (पूर्णतः) चित्तशुद्धि नहीं बनती और चित्तशुद्धिके बिना साधुके कर्मोंसे मुक्ति कैसी ?’

व्याख्या—भूमि, भवन, धन-धान्यादिके भेदसे बाह्य परिग्रह दस प्रकारका और मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादिके भेदसे अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकारका कहा गया है । इन चौबीस प्रकारके परिग्रहोंमेंसे यदि एकका भी त्याग नहीं किया जाता तो चित्तशुद्धि पूरी नहीं बनती और जबतक चित्तशुद्धि पूरी नहीं बनती तबतक कर्मोंसे मुक्ति भी पूर्णतः नहीं हो पाती । अतः मुक्तिके इच्छुक साधुको सभी परिग्रहोंका त्याग कर अपने उपयोगको शुद्ध करना चाहिए । इसीसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यने परिग्रहके त्यागको निरपेक्ष बतलाया है । यदि वह निरपेक्ष न होकर तिलतुष मात्र थोड़े-से भी परिग्रहकी अपेक्षा रखता है तो उससे साधुके शुद्धोपयोग नहीं बनता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि बाह्यमें जबतक तुषका सम्बन्ध रहता है तबतक चावलमें जो ललाईरूप मल है वह दूर होनेमें नहीं आता । जिस साधुके शुद्धोपयोग नहीं बनता उसके कर्मोंसे मुक्ति भी नहीं होती—राग-द्वेषकी प्रवृत्तिमें शुभाशुभ कर्म बँधते ही रहते हैं ।

१. हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेष्टमि । बंधो ध्रुवमुवधोदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥३-१९॥ —प्रवचनसार । २. मु उपाधिभ्यो । ३. ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी । अविमुद्धस्स य चित्ते कंहुं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥३-२०॥—प्रवचनसार ।

चेलखण्डका धारक साधु निरालम्ब-निरारम्भ नहीं हो पाता

^१'सूत्रोक्त'मिति गृह्णानश्चेलखण्डमिति स्फुटम् ।
निरालम्बो निरारम्भः संयतो जायते कदा ॥३६॥

'जो संयमी-मुनि 'आगममें कहा है' ऐसा कहकर वस्त्रखण्ड (लंगोटी आदि) को स्पष्टतया धारण करता है वह निरालम्ब और निरारम्भ कब होता है ?—कभी भी नहीं हो पाता ।'

व्याख्या—यदि साधुके लिए वस्त्रखण्ड आदिका रखना शास्त्र-सम्मत माना जाय तो वह साधु कभी भी आलम्बनरहित—परकी अपेक्षा-अधीनतासे वर्जित—और निरारम्भ—स्व-पर-घातसे शून्य—नहीं हो सकेगा । सदा पराधीन तथा हिंसक बना रहेगा और इसलिए स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि एवं मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकेगा ।

वस्त्र-पात्रग्राही योगीके प्राणघात और चित्तविक्षेप अनिवार्य

^२अलाबु-भाजनं वस्त्रं गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुवम् ।
प्राणारम्भो यतेश्चेतोव्याक्षेपो वायते कथम् ॥३७॥

'तुम्बी पात्र, वस्त्र तथा और भी परिग्रहको निश्चित रूपसे ग्रहण करनेवाले साधुके प्राण-वध और चित्तका विक्षेप कैसे निवारण किया जा सकता है ?—नहीं किया जा सकता ।

व्याख्या—पिछले पद्यमें प्रयुक्त 'चेलखण्ड' पद यद्यपि 'वस्त्रखण्डमात्र'का वाचक है परन्तु उपलक्षणसे उसमें भाजन आदि भी शामिल हैं, इसी बातको यहाँ 'वस्त्र' पदके साथ 'अलाबुभाजनं' और 'अन्यदपि' पदोंके द्वारा स्पष्ट किया गया है, 'अन्यत्' शब्द कम्बल तथा मृदु शय्यादिका वाचक—सूचक है और इसलिए इन्हें भी 'सूत्रोक्त' परिग्रहकी कोटिमें लेना चाहिए । इन पर-पदार्थोंके ग्रहणमें प्रवृत्त योगीके प्राणघात और चित्तके विक्षेपका निराकरण नहीं किया जा सकता, शुद्धोपयोगके न बननेसे वे दोनों बराबर होते ही रहते हैं । 'अलाबु-भाजन, और प्रवचनसारका 'द्रग्धिका भाजन' दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं ।

विक्षेपकी अनिवार्यता और सिद्धिका अभाव

^३स्थापनं चालनं रक्षां चालनं शोषणं यतेः ।
कुर्वतो वस्त्रपात्रादेर्व्याक्षेपो न निवर्तते ॥३८॥
^४आरम्भोऽसंयमो मूर्च्छा कथं तत्र निषिध्यते ।
पर-द्रव्य-रतस्यास्ति स्वात्म-सिद्धिः कुतस्तनी ॥३९॥

१. गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते । जदि सो चत्तालंबो ह्वदि कहं वा अणारंभो ॥२१॥ (क)—प्रवचनसार अ० ३ । २. वत्थक्खंडं द्दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं । विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥२१॥ (ख)—प्रवचनसार अ० ३ । ३. गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता । पत्थं च चेलखंडं विभेदिपरदो य पालयदि ॥३-२१ (ग) ॥ —प्रवचनसार । ४. किध तमिह णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स । तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥३-२१॥ —प्रवचनसार ।

‘जो योगी वस्त्र-पात्रादिका रखना-धरना, चलाना-रक्षा करना, धोना-सुखाना करता है उसके चित्तका विक्षेप नहीं मिटता । उनको करते हुए आरम्भ, असंयम तथा ममताका निषेध (अभाव) कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता और इस तरह परद्रव्यमें आसक्त साधुके स्वात्म-सिद्धि कैसी ?—वह नहीं बन सकती ।’

व्याख्या—वस्त्र-पात्रादि-परिग्रहोंको रखकर जो कार्य साधुको करने पड़ते हैं उनका संक्षेपमें उल्लेख करके यहाँ चित्तके विक्षेपको स्पष्ट किया गया है । साथ ही यह बतलाया है कि उक्त कार्योंको करते हुए प्राणवधका, असंयमका और ममत्व-परिणामका अभाव कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता और इन अभावोंके न बन सकनेसे पर-द्रव्यमें रतिके कारण स्वात्मसिद्धि कैसे हो सकती है ? वह किसी प्रकार भी नहीं बन सकती, और इसलिए स्वात्म-साधनाका मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है । अतः उक्त परिग्रहोंका रखना सर्वथा उचित नहीं कहा जा सकता ।

जिसका ग्रहण-त्याग करते कोई दोष न लगे उसमें प्रवृत्तिकी व्यवस्था

‘न यत्र विद्यते छेदः कुर्वतो ग्रह-मोक्षणे ।

द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम् ॥४०॥

‘जिस (बाह्य) परिग्रहको ग्रहण-मोक्षन करते हुए साधुके दोष नहीं लगता—प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं होती—उसमें द्रव्य-क्षेत्रको भले प्रकार जानकर साधु प्रवृत्त होवे ।’

व्याख्या—यहाँ अपवाद मार्गकी दृष्टिको लेकर कथन किया गया है । उत्सर्ग मार्गमें चूँकि आत्माके अपने शुद्धात्मभावके सिवाय दूसरे परद्रव्य—पुद्गलका कोई भाव नहीं होता इसीलिए उसमें सभी परिग्रहोंका पूर्णतः त्याग विहित है । अपवाद मार्ग उससे कुछ भिन्न है, उसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी दृष्टिको लेकर अशक्तिके कारण कुछ बाह्य परिग्रहका ग्रहण किया जाता है, उसी परिग्रहके सम्बन्धमें यहाँ कुछ व्यवस्था की गयी है और वह यह है कि जिस परिग्रहके ग्रहण-त्यागमें उसके सेवन करनेवालेको छेद—दोष न लगे—शुद्धोपयोग रूप संयमका घात न हो—उस परिग्रहको वह साधु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको जानकर ग्रहण कर सकता है । यहाँ प्रयुक्त हुए ‘द्रव्यं क्षेत्रं’ शब्द उपलक्षणसे काल और भावके भी सूचक हैं । प्रवचनसारमें जहाँ ‘कालं’ ‘क्षेत्रं’ पदोंका प्रयोग है वहाँ इस पद्यमें ‘द्रव्यं’ ‘क्षेत्रं’ पदोंका प्रयोग है, जो कि उपलक्षणसे स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिके अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारोंके द्योतक जान पड़ते हैं, यही इसमें प्रवचनसारके कथनसे विशेषता पायी जाती है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारोंके परिज्ञानसे ही वस्तुका ठीक परिज्ञान होता है और इसीसे अपनी शक्तिको तोलकर अपवादमार्गको ग्रहण किया जाता है । यहाँ वही अपवाद मार्ग ग्राह्य है जिसमें छेदके लिए स्थान न हो—ऐसा कोई बाह्य परिग्रह ग्रहण न किया जाय जो अपने शुद्धोपयोगरूप संयमका घातक हो ।

१. छेदो जेण ण विज्जदि ग्रहण-विसग्गेषु सेवमाणस्स । समणो तेणिह वट्टु कालं क्षेत्रं वियाणित्ता ॥३-२२॥ —प्रवचनसार ।

कौन पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए

संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते यदसंयतैः ।

येन संपद्यते मूर्च्छा तन्न ग्राह्यं हितोद्यतैः ॥४१॥

‘जो अपने हितकी साधनामें उद्यमी साधु हैं उनके द्वारा वह पदार्थ ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए जिससे संयमकी हानि हो, ममत्व परिणामकी उत्पत्ति हो अथवा जो असंयमियोंके द्वारा प्रार्थित हो—असंयमी लोग जिसे निरन्तर चाहते हैं ।’

व्याख्या—अपवादमार्गमें जिस परिग्रहको ग्रहण नहीं करना चाहिए उसका यहाँपर प्रायः स्पष्टीकरण किया गया है और उसमें मुख्यतः तीन बातोंका समावेश किया गया है— एक तो जिससे संयमका हनन होता हो, दूसरे जो असंयमी जनोंकी प्रार्थनाका विषय हो और तीसरे जो ममत्व-परिणामका कारण हो, इन तीन दोषोंमें-से किसी भी दोषका जो कारण हो उस परिग्रहको यहाँ निषिद्ध बतलाया है। अतः जो परिग्रह इन दोषोंमें-से किसीका कारण नहीं उसे अप्रतिषिद्ध समझना चाहिए। प्रवचनसारमें अप्रतिषिद्धरूपसे ही ऐसे परिग्रहका उपधि—उपकारके रूपमें वर्णन करके उसके अन्यरूपमें ग्रहणकी प्रेरणा की है, जैसा कि पादटिप्पणीमें उद्धृत तुलनात्मक गाथा २३ से प्रकट है।

कायसे भी निस्पृह मुमुक्षु कुछ नहीं ग्रहण करते

^२मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निस्पृहा ।

न वस्त्वकिंचनाः किंचित् ते गृह्णन्ति कदाचन ॥४२॥

‘जिन मोक्षाभिलाषियोंकी अपने शरीरमें भी विरक्ति है वे निष्किंचन साधु कदाचित् कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते ।’

व्याख्या—यहाँ उन उत्कट मोक्षाभिलाषियोंका उल्लेख है जो उस प्राकृतिक रूपसे गृहीत हुए शरीरमें भी निस्पृहताके साथ वर्तते हैं जो कि मुनिपर्यायका सहकारी कारण होनेके कारण निषिद्ध नहीं है। वे उसे परद्रव्य होनेसे परिग्रह समझते हैं, अनुग्रहका विषय न मानकर उपेक्ष्य मानते हैं और इसलिए उसके प्रतिकारमें—इलाज-उपचारमें—प्रवृत्त नहीं होते। ऐसे महान् उत्सर्गमार्गी अकिंचन—निष्परिग्रह मुनि कभी कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते हैं। ऐसे उत्सर्गमार्गी मुनिके शरीरसे भिन्न अन्य परिग्रह तो भला कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता। शरीर भी निर्ममत्वके कारण पूर्णतः परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता।

स्त्रियोंका जिनलिंग-ग्रहण सव्यपेक्ष क्यों ?

^३यत्र लोकद्वयापेक्षा जिनधर्मे न विद्यते ।

तत्र लिङ्गं कथं स्त्रीणां सव्यपेक्षमुदाहृतम् ॥४३॥

१. अप्पडिकुट्टं उवाधि अपत्थणिज्जं असंजदजणेहि । मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥३-२३॥ —प्रवचनसार । २. किं किंचण त्ति तक्कं अपुण्णभवकामिणोऽध देहे वि । संगं त्ति जिणवरिदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा । ३-२४॥ —प्रवचनसार । ३. पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिद देसिदो धम्मो । धम्ममिह तमिह कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥३-२५(क)॥ —प्रवचनसार ।

‘जिस जिनेन्द्र-देशित धर्ममें दोनों लोकोंकी अपेक्षा नहीं पायी जाती—इस लोक तथा परलोकको लक्ष्य करके धर्म नहीं किया जाता—उसमें स्त्रियोंके लिंगको अपेक्षा-सहित—वस्त्र-प्रावरणकी अपेक्षा रखनेवाला—क्यों कहा गया?’

व्याख्या—यह पद्य प्रश्नात्मक है। इसमें लोक-परलोककी अपेक्षा न रखनेवाले जिन-धर्ममें स्त्रियोंके जिनलिंग-ग्रहणको ‘सव्यपेक्ष’ क्यों कहा गया है? यह एक प्रश्न उपस्थित हुआ है, अगले कुछ पद्योंमें इसका उत्तर दिया गया है।

पूर्व प्रश्नका उत्तर : स्त्री पर्यायसे मुक्ति न होना आदि

नाम्नुना जन्मना स्त्रीणां सिद्धिनिश्चयतो यतः ।
अनुरूपं ततस्तासां लिङ्गं लिङ्गविदो विदुः ॥४४॥

‘चूँकि स्त्रियोंके अपने उस जन्मसे—स्त्री पर्यायसे—स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिकी (मुक्तिकी) प्राप्ति नहीं होती अतः लिंगके जानकारोंने उनके अनुरूप लिंगकी देशना की है।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर इस पद्यमें यह दिया है कि स्त्रीजनोंको स्त्रीपर्यायसे मुक्तिकी प्राप्ति निश्चित रूपसे न हो सकनेके कारण लिंगके विशेषज्ञोंने उनके लिए उनके अनुकूल लिंगकी—वस्त्रादि सहित वेषकी—व्यवस्था का है।

प्रमाद-मय-मूर्तीनां प्रमादोऽतो यतः सदा ।
प्रमदास्तास्ततः प्रोक्ताः प्रमाद-बहुलत्वतः ॥४५॥
विषादः प्रमदो मूर्च्छा जुगुप्सा मत्सरो भयम् ।
चित्ते चित्रायते माया ततस्तासां न निर्वृतिः ॥४६॥

‘चूँकि प्रमाद-मय-मूर्तियों, स्त्रियोंके सदा प्रमाद बना रहता है अतः प्रमादकी बहुलताके कारण उन्हें ‘प्रमदा’ कहा गया है। और चूँकि उनके चित्तमें प्रमद, विषाद, ममता, ग्लानि, ईर्ष्या, भय तथा माया चित्रित रहती है इससे उनकी (स्त्रीपर्यायसे) मुक्ति नहीं होती।

व्याख्या—यहाँ स्त्रीजनोंको स्त्रीपर्यायसे मुक्तिकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? इस पिछले पद्यमें-से उठनेवाले प्रश्नका समाधान किया गया है और उसमें कुछ ऐसे दोषोंको दर्शाया गया है जो मुक्तिमें बाधक होते हैं और स्त्रियोंमें स्वभावसे अथवा प्रायः बहुलतासे पाये जाते हैं। उनमें प्रमादको सबसे पहले लिया गया है, जिसकी बहुलताके कारण स्त्रियोंको ‘प्रमदा’ कहा जाता है और उन्हें यहाँ ‘प्रमाद-मय-मूर्ति’के नामसे भी उल्लेखित किया गया है। ‘प्रमाद’ शब्द मात्र आलस्य तथा असावधानीका वाचक नहीं, बल्कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, स्त्री, राज, भोजन तथा चोर ये चार प्रकारकी विकथाएँ राग, निद्रा और पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय ये १५ बातें शामिल हैं। आम तौरसे स्त्रियोंमें इनकी

१. निच्छयदो इत्थीणं सिद्धी णहि तेण जम्मणदिट्ठा । तम्हा तप्पडिरुवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥३-२५ (ख)—प्रवचनसार । २. पयडो पमादमया एदासि वि त्ति भासिया पमदा । तम्हा ताओ पमदा पमादबहुले त्ति णिद्धिटां ॥३-२५ (ग) ॥ संति धुवं पमदाणं मोह पदोसा भयं दुगुंछा य । चित्ते चित्ता माया तम्हा तासि ण णिब्वाणं ॥ ३. २५ (घ) ॥ —प्रवचनसार ।

स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा बहुलता पायी जाती है। इस प्रमादके अनन्तर विषाद, ममता, ग्लानि, ईर्ष्या, भय और उस मायाचार दोषको गिनाया गया है जो प्रयत्न-पूर्वक न होकर स्वाभाविक होता है। ये सब दोष मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक हैं अतः स्त्रियोंको अपनी उस पर्यायसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

‘न दोषेण विना नार्यो यतः सन्ति कदाचन ।
गात्रं च संवृतं तासां संवृतिर्विहिता ततः ॥४७॥

‘चूँकि स्त्रियाँ (पूर्वोक्त दोषोंमें-से किसी एक) दोषके बिना कदाचित् भी नहीं होतीं और गात्र उनका स्पष्टतः संवृत (ढका हुआ) नहीं होता, इससे उनके वस्त्रावरणकी व्यवस्था की गयी है।’

व्याख्या—पिछले पद्योंमें जिन दोषोंका उल्लेख है वे सब यदि एकत्र न भी होवें तो भी उनमें-से कोई-न-कोई एक दोष स्त्रियोंमें जरूर होता है, ऐसा यहाँ नियम किया गया है और वह एक दोष भी शुद्धात्मस्वभावके विपरीत होनेके कारण मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक होता है। मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक दोषके कारण और स्त्रियोंका गात्र स्वयं संवृत-आच्छादित न होनेके कारण उसके वस्त्रावरणसे आच्छादनकी व्यवस्था की गयी है।

‘शैथिल्यमार्तवं चेतश्चलनं श्रा(स्त्रा)वर्णं तथा ।
तासां सूक्ष्म-मनुष्याणामुत्पादोऽपि बहुस्तनौ ॥४८॥
कक्षा-श्रोणि-स्तनाद्येषु देह-देशेषु जायते ।
उत्पत्तिः सूक्ष्म-जीवानां यतो, नो संयमस्ततः ॥४९॥

‘चूँकि स्त्रियोंके शरीरमें शिथिलता, ऋतुकाल (रक्तोत्पाद), रक्तस्राव, चित्तकी चंचलता, लब्धि अपर्याप्तिक सूक्ष्म मनुष्योंका बहुत उत्पाद और कांख-योनि-स्तनादिक शरीरके अंगोंमें सूक्ष्म जीवोंकी बहुत उत्पत्ति होती है इसलिए उनके (सकल) संयम नहीं बनता।’

व्याख्या—यहाँ स्त्रियोंमें पाये जानेवाले दूसरे कुछ ऐसे दोषोंको उल्लेखित किया है जो प्रायः शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं और जिनके कारण स्त्रियोंके पूर्णतः संयमका पालन नहीं बनता। पूर्णतः संयमका न पालन भी मुक्तिकी प्राप्तिमें बाधक है। जब स्त्रियोंके स्वभावतः कुछ शारीरिक तथा मानसिक दोषोंके कारण पूर्णतः संयम नहीं बनता और इसलिए मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती तब उनके शरीरको बिलकुल नग्न दिग्म्बर रूपमें रखनेकी आवश्यकता नहीं और इसलिए वस्त्रसे उसके आच्छादनकी व्यवस्था की गयी है।

१. ण विना वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोगमिह । ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासि च संवरण ॥ ३-२५ (ङ) —प्रवचनसार । २. चित्तस्सावो तासि सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं । विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुत्राणं ॥ ३-२५ (च) ॥ लिगमिह य इत्थीणं थणंतरे णाहि-कक्ख-देसेसु । भणिदो सुहुमुप्पादो तासि कह संजमो होदि ॥ ३-२५ (छ) । —प्रवचनसार । लिगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु । भणिश्रो सुहमो काओ. तासि कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥ चित्तासोहि ण तेसि ढिल्लं भावं तहा सहावेण । विज्जदि मासा तेसि इत्थीसु णऽसंकया क्षाणं ॥२६॥ —सुत्तपाहुड ।

शशाङ्कामल-सम्यक्त्वाः समाचार-परायणाः ।

सचेलास्ताः स्थिता लिङ्गं तपस्यन्ति विशुद्धये ॥५०॥

‘जो स्त्रियाँ चन्द्रमाके समान निर्मल सम्यक्त्वसे युक्त हैं और समीचीन आचारमें प्रवीण हैं वे जिर्नालिंगमें सवस्त्र रूपसे स्थित हुई आत्मविशुद्धिके लिए तपश्चरण करती हैं ।’

व्याख्या—यहाँ उन ऊँचे दर्जेकी साधियोंके लिए भी सचेल (वस्त्रसहित) रहनेका विधान किया है जो अति निर्मल सम्यक्त्वकी धारिका हैं और समाचारमें—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके अनुष्ठानमें—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप और वीर्य रूप पंचाचारके पालनमें—समताकी साधनामें अथवा उस समाचारकी आराधनामें, जिसका मूलाचारमें एक अधिकार (न० ४) ही अलगसे दिया गया है, प्रवीण हैं । ऐसी साध्वी स्त्रियाँ सवस्त्र रहकर अपनी आत्मशुद्धिके लिए तपश्चरण करती हैं ।

कौन पुरुष जिर्नालिंग ग्रहणके योग्य

शान्तस्तपः^१ क्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु ।

कल्याणाङ्गो नरो योग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मतः ॥५१॥

‘जो मनुष्य शान्त है, तपश्चरणमें समर्थ है, दोषरहित है, तीन वर्ण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-मेंसे किसी एक वर्णका धारक है और कल्याणरूप सुन्दर शरीरके अंगोंसे युक्त है वह जिर्नालिंगके ग्रहणमें योग्य माना गया है ।’

व्याख्या—जिस जिर्नालिंगका रूप इस अधिकारके आरम्भमें दिया गया है उसको धारण करनेका पात्र कौन है उसकी यहाँ देशना की गयी है । वह एक तो स्वभावसे शान्त होना चाहिए, दूसरे तपश्चरण-सम्बन्धी कष्टोंके सहनकी उसमें सामर्थ्य होनी चाहिए—अति बाल, तथा अति वृद्ध अवस्थाको लिये हुए न होना चाहिए—तीसरे वह कुत्सारहित होना चाहिए—लोकमें किसी दुराचारादिके कारण बदनाम न होना चाहिए, चौथे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णोंमेंसे किसी भी एक वर्णका धारक पुरुष होना चाहिए—स्त्री नहीं, और पाँचवें शरीरसे नीरोग होना चाहिए । ये बातें यदि नहीं हैं तो जिर्नालिंगका पात्र नहीं है ।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है और वह यह कि श्री जयसेनाचार्यने प्रवचनसारकी ‘वण्णेषु तीसु एक्को’ इस गाथाकी टीका में “एवंगुणविशिष्टो पुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति” लिखकर यह भी लिखा है कि “यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि” जिसका आशय है कि योग्यताके अनुसार सत् शूद्र और आदि शब्दसे म्लेच्छ भी जिनदीक्षाका पात्र हो सकता है । ‘यथा योग्यं’ पदमें उसकी दृष्टि संनिहित है और वह इस बातको सूचित करती है कि सब सत् शूद्रादिक नहीं किन्तु कुछ खास योग्यता प्राप्त शूद्रादिक, जैसे म्लेच्छ खण्डोंसे, जहाँ कोई वर्णव्यवस्था नहीं, तथा हिंसामें रति और मांसभक्षणमें प्रीति आदि दुराचार चलता है,

१. आ सचेलताः । २. वण्णेषु तीसु एक्को कल्लापंगो तवोसहो वयसा । सुमहो कुंछारहिदो लिङ्गग्रहणे हवदि जोग्गो ॥३-२५॥ (ज) —प्रवचनसार ।

चक्रवर्तीके साथ आये हुए कुछ म्लेच्छ राजादिक, जिन्हें जिनदीक्षाके योग्य बतलाया गया है।

जिनलिंग-ग्रहणमें बाधक व्यङ्ग

कुल-जाति-वयो-देह-कृत्य-बुद्धि-क्रुधादयः ।

नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्गयोग्यता ॥५२॥

‘(जिनलिंगके ग्रहणमें) कुकुल, कुजाति, कुवय, कुदेह, कुकृत्य, कुबुद्धि और कुक्रोधादिक, ये मनुष्यके जिनलिंग-ग्रहणमें व्यंग है, भंग हैं अथवा बाधक हैं। इनसे भिन्न सुकलादिक लिंग ग्रहणकी योग्यताको लिये हुए हैं।’

व्याख्या—यहाँ जिनलिंगके ग्रहणमें अयोग्यताके द्योतक कारणोंको व्यंगके रूपमें उल्लेखित किया गया है, जिसके लिए प्राकृतमें ‘भंग’ शब्दका प्रयोग पाया जाता है। ‘कुत्सिताः’ विशेषण कुल, जाति, वय, देह, कृत्य, बुद्धि और क्रुधादिक सबके लिए लागू किया गया है, जो खोटे, बुरे, निन्दनीय तथा अप्रशस्त अर्थका वाचक है और इसलिए उसको यथायोग्य सबपर लगा लेना चाहिए। जो कुल जाति आदि उक्त विशेषणोंके पात्र हैं उनमें जिनलिंगके ग्रहणकी योग्यता नहीं है। इसके विपरीत अकुत्सित विशेषणके जो पात्र हैं उन सबमें जिनलिंगके ग्रहणकी योग्यता समझनी चाहिए। अतः दीक्षाचार्यको इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर जो जिन-दीक्षाका पात्र समझा जाय उसे ही जिनदीक्षा देनी चाहिए—अपनी कुलवृद्धि या मोह-लोभादिकके वश होकर नहीं।

व्यंगका वास्तविक रूप

‘येन रत्नत्रयं साधोर्नाश्यते^३ मुक्तिकारणम् ।

स व्यङ्गो भण्यते नान्यस्तत्त्वतः सिद्धिसाधने ॥५३॥

‘वास्तवमें जिसके कारण साधुका मोक्षमें कारणीभूत रत्नत्रय धर्म नाशको प्राप्त होता है वह व्यंग (भंग) कहा गया है, अन्य कोई सिद्धिके साधनमें बाधक नहीं है।’

व्याख्या—यहाँ साररूपमें अथवा निश्चयनयकी दृष्टिसे व्यंग (भंग) का कथन किया गया है और उसे ही वास्तवमें व्यंग बतलाया है, जिससे साधुके सिद्धि—मुक्तिके साधनभूत रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का नाश होता हो अथवा ठीक पालन न बनता हो। दूसरा और कोई व्यंग इस विषयमें वस्तुतः नहीं है। सम्भव है इसी दृष्टिको लेकर जयसेना-चार्यने यथा योग्य सत् शूद्रादिको भी जिन-दीक्षाका पात्र लिखा हो।

१ म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशङ्कितव्यम् । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूपन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथा जातीयदीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥” —लब्धिसार टीका गाथा १९३ । २. जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिहिट्ठो । सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो ॥३-२५॥ —प्रवचनसार । ३. आ नश्यते, आद्वि नाश्यते ।

व्यावहारिक व्यंग सल्लेखनाके समय अव्यंग नहीं होता

‘यो व्यावहारिको व्यङ्गो मतो रत्नत्रय-ग्रहे ।

न सोऽपि जायतेऽव्यङ्गः साधुः (धोः) सल्लेखना-कृतौ ॥५४॥

‘जो रत्नत्रय (जिनलिंग) के ग्रहणमें व्यावहारिक व्यंग माना गया है वह सल्लेखनाके अवसरपर साधुके अव्यंग नहीं हो जाता ।’

व्याख्या—यहाँ सल्लेखनाके अवसरपर साधु बननेवालेके विषयमें व्यावहारिक व्यंगकी बातको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो रत्नत्रयरूप जिनलिंगके ग्रहणमें व्यावहारिक व्यंग पद्य न० ५२ के अनुसार माना गया है वह सल्लेखनाके अवसरपर अव्यंग नहीं हो जाता—व्यंग ही रहता है। अर्थात् सल्लेखनाके अवसरपर जो साधु-मुनि बनना चाहे और उक्त प्रकारके व्यंगोंमें किसी व्यंगको लिये हुए हो तो वह मुनिदीक्षाको प्राप्त नहीं हो सकता—उसे दिग्म्बर मुनिदीक्षा नहीं दी जा सकती।

‘यस्यैह लौकिकी नास्ति नापेक्षा पारलौकिकी ।

युक्ताहारविहारोऽसौ श्रमणः सममानसः ॥५५॥

‘जिसके इस लोककी और परलोककी अपेक्षा नहीं है, जो योग्य आहार-विहारसे युक्त है और समचित्तका धारक है वह ‘श्रमण’ है ।’

व्याख्या—जिसके धर्मसाधनमें इस लोककी तथा परलोककी अपेक्षा (दृष्टि) नहीं रहती—जो सब कुछ आत्मीय कर्तव्य समझकर करता है; लोक-दिखावा, लोकाराधन, लौकिक कार्यसिद्धि अथवा परलोकमें स्वर्गादिककी प्राप्तिके लिए कुछ नहीं करता—और अपने चित्तको सम—राग-द्वेषसे रहित—रखता हुआ योग्य आहार-विहार किया करता है उस साधुको ‘श्रमण’ कहते हैं, जिसका मूल प्राकृतरूप ‘समण’ है और जो अपने उस रूपमें ‘सम-मानस’ का वाचक है। सम-मानस, समचित्त, समाशय-जैसे शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं। ‘युक्ताहार-विहार’का आशय यहाँ आगमके अनुकूल उद्गम-उत्पादनादि दोषोंसे रहित, भोजन तथा विहरनकी प्रवृत्तिसे है, जिसकी विशेष जानकारी मूलाचार, भगवती आराधनादि-जैसे ग्रन्थोंसे प्राप्त की जा सकती है।

कौन श्रमण अनाहार कहे जाते हैं

कषाय-विकथा-निद्रा-प्रेमाक्षार्थ-पराङ्मुखाः ।

जीविते मरणे तुल्याः शत्रौ मित्रे सुखेऽसुखे ॥५६॥

‘आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिक्षा येषामणेषणा ।

संयता सन्त्यनाहारास्ते सर्वत्र समाशयाः ॥५७॥

१. सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो ॥३-२५॥ —प्रवचनसार । २. व्या विगाः ।
३. इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि । जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥३-२६॥ —प्रवचनसार । ४. आ व्या यस्येह । ५. जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा । अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥३-२७॥ —प्रवचनसार ।

‘जो कषाय, विकथा, निद्रा, राग और इन्द्रियविषयोसे विमुख हैं, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र और सुख-दुःखमें समता धारण करते हैं; आत्माकी जिनके अन्वेषणा—खोज बनी रहती है, भिक्षा जिनकी एषणा—इच्छासे रहित है और सर्वत्र समचित्त रहते हैं ऐसे श्रमण साधु ‘अनाहार’ कहे गये हैं।’

व्याख्या—क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषायें; स्त्री, राज, भोजन, चोर ये चार प्रकारकी विकथाएँ, निद्रा, प्रेम (वेद-राग) और पाँच इन्द्रिय विषय, इन पन्द्रह प्रमादोंसे जो मुनि मुख मोड़े रहते हैं; जीवन-मरण, शत्रु-मित्र और सुख-दुःख उपस्थित होनेपर जिनकी समता बनी रहती है—राग-द्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती, जो सदा आत्माकी चिन्ता—अन्वेषणा-आराधनामें लीन रहते और यह समझते हैं कि आत्मा आहार-रूपमें कभी कोई पुद्गल-परमाणु ग्रहण नहीं करता—स्वभावसे निराहार हैं वे यदि देहकी स्थिति आदिकी दृष्टसे कभी आहार लेते भी हैं तो भी उन्हें ‘अनाहार’ कहा गया है, जिसके दो मूल कारण हैं—१. आत्माको स्वभावसे अनाहार समझना, २. आहारमें कोई खास इच्छा तथा आसक्ति न रखकर उसे लेना।

केवल देह साधुका स्वरूप

^१यः स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते ।

साधुः केवलदेहोऽसौ निष्प्रतीकार-विग्रहः ॥५८॥

‘जो शरीरका प्रतिकार नहीं करता और अपनी शक्तिको न छिपाकर सदा तपश्चरणमें प्रवृत्त रहता है वह केवल देह—देहमात्र परिग्रहका धारक—साधु (श्रमण) होता है।’

व्याख्या—जो साधु देहको भी परिग्रह समझता हुआ उसमें ममता-रहित होकर वर्तता है वह रोग-उपसर्गादिके आनेपर शरीरका कोई प्रतिकार नहीं करता और अपनी शक्तिको न छिपाकर सदा तपश्चर्यामें लीन रहता है, उसे ‘केवल देह’—देहमात्र परिग्रहका धारक—साधु कहते हैं।

केवल देह-साधुकी भिक्षाचर्याका रूप

^२एका सनोदरा भुक्तिर्मांस-मध्वादिवर्जिता ।

यथालब्धेन भैक्षेण नीरसा परवेशमनि ॥५९॥

उस केवल-देह श्रमण साधुकी आहार चर्या पराये घरपर यथालब्ध भिक्षाके द्वारा, एक बार, उनोदरके रूपमें, मांस-मधु आदि सदोष पदार्थोंसे रहित, मधुरादि रसोंमेंसे किसीकी अपेक्षा न रखनेवाली अथवा (प्रायः) नीरस होती है—रसास्वादको लिये हुए नहीं होती।’

व्याख्या—यहाँ ‘मधु’ और ‘वर्जिता’ शब्दोंके मध्यमें प्रयुक्त हुआ ‘आदि’ शब्द उन अन्वेषणीय कन्द-मूलादिका वाचक है जिनका कुछ उल्लेख एवं सूचन आगे ६३वें पद्यमें किया गया है। और भिक्षाका ‘यथालब्ध’ विशेषण इस बातका सूचक है कि वह बिना किसी प्रेरणा-

१. केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो । आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिये अप्पणो सत्ति ॥३-२८॥ —प्रवचनसार । २. एकं खलु तं भतं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं । चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥३-२९॥ —प्रवचनसार ।

प्रार्थना तथा संकेतके प्राप्त होनी चाहिए। यदि थाल आदिमें रखे हुए किसी भोजनको देनेके लिए अंगुलीका इशारा भी किया जाता है तो उस भोजनका ग्रहण यथालब्ध भिक्षाकी कोटिसे निकल जाता है। इसी तरह जो साधु भोजनके आगमविरुद्ध निर्दोष होनेपर भी उसे अपनी पसन्द तथा रुचिका न होने आदिके कारण नहीं लेता वह भी यथालब्ध भिक्षाका भोजी नहीं रहता।

वज्रित मांस-दोष

पक्वेऽपक्वे सदा मांसे पच्यमाने च संभवः ।
तज्जातीनां^२ निगोदानां^३ कथ्यते जिनपुङ्गवैः ॥६०॥
मांसं पक्वमपक्वं वा स्पृश्यते येन भक्ष्यते ।
अनेकाः कोटयस्तेन हन्यन्ते किल जन्मिनाम्^५ ॥६१॥

‘मांस चाहे कच्चा हो, पक्का हो या पक रहा हो उसमें जिनेन्द्रोंने तज्जातीय निगोदिया जीवोंका (निरन्तर) उत्पाद कहा है (अतः) जिसके द्वारा कच्चा या पक्का मांस छुआ जाता है, खाया जाता है उसके द्वारा निश्चित रूपसे अनेक कोटि—करोड़ों जीवोंका घात होता है।’

व्याख्या—भोजनमें जिस मांसके ग्रहणका पिछले पद्यमें निषेध है और जो द्वीन्द्रियादि-त्रस जीवोंके रस-रक्तादि-मिश्रित कलेवरसे निष्पन्न होता है; उसमें क्या दोष है उसे इन दोनों पद्योंमें स्पष्ट करते हुए यह सूचित किया गया है कि जिनेन्द्र देवोंके कथनानुसार मांस चाहे किसी भी अवस्थामें क्यों न हो उसमें तज्जातीय निगोदिया जीवोंका (जो एक स्वाँसमें अठारह बार जन्म-मरण करते रहते हैं) बराबर उत्पाद बना रहता है और इसलिए जो कोई भी मांसको छूता या खाता है वह बहुत सूक्ष्म जीवोंकी हत्याका भागी होता है।

मधु-दोष तथा अन्य अनेषणीय पदार्थ

बहुजीव-प्रघातोत्थं बहु-जीवोद्भवास्पदम् ।
असंयम-विभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते ॥६२॥
कन्दो मूलं फलं पत्रं नवनीतमगृह्णुभिः ।
अनेषणीयमग्राह्यमन्नमन्यदपि त्रिधा ॥६३॥

‘जो असंयमसे भयभीत है उस साधुके द्वारा मन-वचन-कायसे वह मधु त्यागा जाता है जो बहुजीवोंके घातसे उत्पन्न हुआ और बहुत जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है। जो भोजनमें लालसा रहित साधु हैं उनके द्वारा वह कन्द, मूल, फल, पत्र, मक्खन जो अनेषणीय (अभक्ष्य) है और दूसरा (उद्गमादि दोषोंके कारण) अग्राह्य अन्न (भोजन) भी मन-वचन-कायसे और कृत-कारित-अनुमोदनासे त्यागा जाता है।’

१. पक्वेसु अ आमेषु अ विपच्यमानासु मंसपेसीसु । संतत्तियमुववादी तज्जादीणं निगोदाणं ॥३-२९॥ (क) जो पक्वमपक्वं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा । सो किल निहणदि पिंडं जीवाणमणेगकीडीणं ॥३-२९॥ (ख)—प्रवचनसार । २. आ तज्जातानां । ३. आ व्या निगोतानां । ४. आ व्या जन्मिनां किल । ५. उद्गम-उत्पादनादि दोषोंका स्वरूप जाननेके लिए मूलाचार आदि ग्रन्थोंको देखना चाहिए ।

व्याख्या—यहाँ प्रथम पद्यमें मधुके दोषोंको दर्शाया है और दूसरे पद्यमें अन्य अग्राह्य पदार्थोंकी कुछ सूचना की गयी है। मधु वर्जनीय बतलाते हुए उसके दो विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—एक तो यह कि वह बहुत जीवोंके घातसे उत्पन्न होता है, दूसरा यह कि वह बहुत जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है—बहुत जीव उसमें उत्पन्न होते रहते हैं। अपने इन दोनों गुणोंके कारण मधुका सेवन असंयमका जनक है और इसलिए जो साधु संयमका भंग होनेसे भय रखते हैं वे मन-वचन-कायसे तथा कृत-कारित-अनुमोदनासे मधुका त्याग करते हैं।

मधु, जिसका त्याग यहाँ विवक्षित है, वह पदार्थ है जिसे मधुमक्खियाँ पुष्पोंसे लाकर अपने छत्तोंमें संचय करती हैं और जो बादमें प्रायः छत्तोंको तोड़-मरोड़ कर मनुष्योंके खानेके लिए प्रस्तुत किया जाता है और जिसके इस प्रस्तुतीकरणमें मधुमक्खियोंको भारी बाधा पहुँचती है, उनका तथा उनके अण्डे-बच्चोंका रसादिक भी निचुड़कर उसमें शामिल हो जाता है और इस तरह जो एक घृणित पदार्थ बन जाता है। 'क्षौद्र' संज्ञा भी उसे प्रायः इस प्रक्रियाकी दृष्टिसे ही प्राप्त है। इस प्रक्रियासे उत्पन्न हुआ मधु अपने प्रथम विशेषण 'बहुजीवप्रघातोत्थं' को सार्थक करता है और इस प्रकारसे उत्पन्न हुआ घृणित मधु स्वभावसे ही बहुत-से जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान होनेके कारण उसपर दूसरा विशेषण भी सहज घटित हो जाता है। परन्तु जो मधु उक्त प्रक्रियासे—मधुमक्खियोंके छत्तोंको तोड़-मरोड़-निचुड़कर—उत्पन्न नहीं होता किन्तु सहज स्वभावसे टपकता हुआ ग्रहण किया जाता है अथवा आजकल मधुमक्खियोंके पालनकी जो प्रथा प्रचलित हुई है उसके अनुसार मधुमक्खियों तथा उनके अण्डे-बच्चोंको कोई कष्ट पहुँचाये बिना तथा उनके भोजनकी पूरी व्यवस्था रखकर जो मधु उनके छत्तोंसे यत्नपूर्वक ग्रहण किया जाता है उसपर प्रथम विशेषण लागू नहीं होता; तब दूसरा विशेषण लागू होता है या नहीं, यह विचारणीय है। इस विषयकी छान-बीन करनेपर श्री अमृतचन्द्राचार्यका निम्नवाक्य उसके समाधान रूपमें पाया जाता है —

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधु-गोलात् ।

तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रय-प्राणिनां घातात् ॥७०॥ —पुरुषार्थसिद्धचुपाय

इसमें बतलाया है कि जो मधु मधुछत्तेसे स्वयं झरता हो अथवा जिसे छत्तेसे छलपूर्वक ग्रहण किया गया हो उसके सेवनसे भी तदाश्रित जीवोंका घात होनेके कारण हिंसाका दोष लगता है। इससे मालूम होता है कि मधुके आश्रयमें सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है इसीसे उसको यहाँ 'बहुजीवोद्भवास्पदम्' विशेषण दिया गया है। अपनेमें बहुत-से जीवोंकी उत्पत्तिको लिये हुए होनेसे मधु खानेके योग्य नहीं—खानेसे उन जीवोंकी हिंसा होती है और इसलिए प्रथम विशेषणके अभावमें भी उसका खाना निषिद्ध है।

जिन कन्द-मूलादिका यहाँ निषेध किया गया है उनका 'अनेषणीय' विशेषण खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है। इसका तथा इसके प्रतिपक्षी 'एषणीय' विशेषणका अच्छा खुलासा मूलाचारकी निम्न दो गाथाओं और उनकी वसुनन्दी आचार्यकृत टीकासे हो जाता है —

फलकंदमूलबीयं अणगिपक्वकं तु आमयं किञ्चि ।

णच्चा अणेषणीयं ण वि य पडिच्छन्ति ते धीरा ॥९-५९॥

टीका—फलानि कन्द-मूलानि बीजानि चाग्निपक्वानि न भवन्ति यानि अन्यदपि आमकं यत्किञ्चिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति ते धीराः ।

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टियं फासुयकयं चैव ।

णाऊ ण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥९-६०॥

टीका—यद्भवत्यबीजं निर्बीजं निर्वातियं निर्गतमध्यसारं प्रासुककृतं चैव ज्ञात्वाशनीयं तद्भक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छन्तीति ॥

इन दोनों गाथाओंमें-से पहलीमें लिखा है कि 'जो फल कन्द मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नहीं हैं तथा और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको 'अनशनीय' (अभक्ष्य) समझकर धीरवीर मुनि भोजनके लिए ग्रहण नहीं करते हैं।' दूसरी गाथामें यह बतलाया है कि 'जो बीजरहित हैं, जिसका मध्यसार (जलभाग) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किया गया है ऐसे सब वनस्पतिकाय पदार्थोंको अशनीय (भक्ष्य) समझकर मुनिजन भिक्षामें ग्रहण करते हैं।'

मूलाचारके इस कथनसे यह स्पष्ट है और अनशनीय कन्द-मूलोंका 'अग्निपक्व' विशेषण इस बातको साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कन्द-मूल नहीं खाते, परन्तु अग्निमें पकाकर शाक-भाजी आदिके रूपमें प्रस्तुत किये हुए पदार्थोंको भी भोजनमें ग्रहण कर लेनेका उनके लिए विधान है। यद्यपि अग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुककी सीमा उससे कहीं अधिक बड़ी-चढ़ी है। उसमें सुखाये, तपाये, खटाई-नमक मिलाये और यन्त्रादिकसे छिन्न-भिन्न किये हुए सचित्त पदार्थ भी शामिल होते हैं; जैसा कि निम्नलिखित शास्त्र प्रसिद्ध गाथासे प्रकट है —

सुककं पक्कं तत्तं अंवल-लवणेण मिसियं दव्वं ।

जं जंतेण छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥

प्रासुकके इस लक्षणानुसार जैन मुनि अग्निपक्वके अतिरिक्त दूसरी अवस्थाओं-द्वारा प्रासुक हुए कन्द-मूलोंको भी खा सकते हैं; क्योंकि वे 'अनेषणीय'की कोटिसे निकलकर 'एषणीय' की कोटिमें आ जाते हैं।

हस्तगत पिण्ड दूसरेको देकर भोजन करनेवाला यति दोषका भागी

'पिण्डः पाणि-गतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते ।

दीयते चेन् न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेद् दोषभाग् यतिः ॥६४॥

'साधुके हाथमें पड़ा हुआ आहार दूसरेको देनेके योग्य नहीं होता (और इसलिए नहीं दिया जाता) यदि दिया जाता है तो साधुको फिर भोजन नहीं लेना चाहिए, यदि वह साधु अन्य भोजन करता है तो दोषका भागी होता है।'

व्याख्या—साधुके हाथमें पड़ा हुआ आगमसे अविहृद्ध योग्य आहार (भोजनका प्रास) किसी दूसरेको देनेके योग्य नहीं होता। यदि वह साधु अपनी रुचि तथा पसन्दका न होनेके कारण उसे स्वयं न खाकर किसीको देता है—या किसी अन्यको खानेके निमित्त कहीं रख देता है—तो उस साधुको फिर और भोजन नहीं करना चाहिए, यदि वह दूसरा भोजन करता है तो दोषका भागी होता है—सम्भवतः 'यथालब्ध' शुद्ध भोजन न लेने आदिका उसे दोष लगता है।

१. यथा शुष्क-पक्व-व्वस्ताम्ललवणसंमिश्र-दग्धादिद्रव्यं प्रासुकं इति । —गोम्मटसारटीकायाम् ।

२. अप्पडिकुट्टं पिण्डं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स । दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो

॥३-३० (क)॥ —प्रवचनसार ।

बाल-वृद्धादि यतियोंको चारित्र्याचरणमें दिशा बोध

‘बालो वृद्धस्तपोऽग्लानस्तीव्रव्याधि-निपीडितः ।

तथा चरतु चारित्रं मूलच्छेदो यथास्ति नो ॥६५॥

‘जो साधु बालक हो, वृद्ध हो, महोपवासादिक अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी^१ हो, रोगादिकसे कृश शरीर अथवा किसी तीव्र व्याधिसे पीड़ित हो उसे चारित्रको उस प्रकारसे पालन करना चाहिए जिससे मूलगुणोंका विच्छेद अथवा चारित्रका मूलतः विनाश न होने पावे ।’

व्याख्या—युवक, नीरोग तथा अश्रान्त साधुकी बातको छोड़कर जो साधु बाल-वृद्ध-रोगादिकी अवस्थाओंको लिये हुए हों उनके विषयमें यहाँ यह नियम किया गया है कि वे चारित्रके अनुष्ठानमें उस प्रकारसे प्रवृत्त हों जिससे मूल गुणरूप संयमकी विराधना न होने पावे—उसकी रक्षा करते हुए अपनी कमजोरीके कारण वे और जो चाहें रियायतें प्राप्त कर सकते हैं । मूल चारित्रका यदि भंग होगा तब तो वे पुनः दीक्षाके योग्य ठहरेंगे ।

स्वल्पलेपी यति कब होता है

‘आहारमुपधिं शय्यां देशं कालं बलं श्रमम् ।

वर्तते यदि विज्ञाय ‘स्वल्पलेपो’ यतिस्तदा ॥६६॥

‘यदि साधु आहार, परिग्रह (उपकरण) शयन, देश, काल, बल और श्रमको भले प्रकार जानकर प्रवृत्त होता है तो वह अल्पलेपी होता है—थोड़ा कर्मबन्ध करता है ।

व्याख्या—यहाँ ‘उपधि’ शब्द बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानसम्बन्धी शरीर मात्र परिग्रहका वाचक है, और ‘आहार’ भिक्षामें आमतौरपर मिलनेवाले भोजनको समझना चाहिए । जो बाल-वृद्धादि साधु अपने आहार, शरीर, शय्या-संस्तर, देश, काल, बल और श्रमकी स्थितिको भले प्रकार जानकर तदनुकूल भद्र आचरणको अपनाता है वह अल्प कर्मबन्धका कर्ता होता है ।

तपस्वीको किस प्रकारके काम नहीं करने

संयमो हीयते येन येन लोको विराध्यते ।

ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः ॥६७॥

‘जिसके द्वारा संयमकी हानि हो, जिसके द्वारा लोकको पीड़ा पहुँचती हो तथा जिसके द्वारा संक्लेश मालूम पड़े वह काम तपस्वियों—साधुओंको नहीं करना चाहिए ।’

१. बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा । चरियं चरदु सजोगं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥३-३०॥ —प्रवचनसार । २. महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी (सर्वार्थसि०) । ३. आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं । जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥३-३१॥—प्रवचनसार । ४. बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान-सम्बन्धिनं शरीरमात्रोपधिं परिग्रहमिति । —प्रवचनसार टीका जयसेनोया ।

व्याख्या—साधु तपस्वीको कौन काम नहीं करने चाहिए उनकी यहाँ संक्षेपमें सूचना की गयी है। वे तीन काम हैं—एक तो जिससे संयमको—मूलगुणोंके अनुष्ठानको—हानि पहुँचे, दूसरा वह जिससे लोककी विराधना हो—लौकिक जनोंको पीड़ा पहुँचे और तीसरा वह जिससे अपनेको संक्लेश मालूम पड़े—अपने परिणामोंमें संक्लिष्टता आती हो। ऐसे सब कार्य पापबन्धके कारण होते हैं।

आगमकी उपयोगिता और उसमें सादर प्रवृत्तिकी प्रेरणा

एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः ।

यस्मादागमतस्तस्मात् तस्मिन्नाद्रियतां तराम् ॥६८॥

‘एकाग्रचित्तके धारक साधुके चूँकि आगमसे पदार्थोंमें निश्चय होता है अतः आगममें विशेष आदरसे प्रवृत्त होना चाहिए।’

व्याख्या—आत्मा अथवा मुक्तिका साधन करनेवाले श्रमण—साधुका यहाँ ‘एकाग्रमन’ विशेषण दिया है, जो बहुत ही युक्तियुक्त है, क्योंकि मनकी एकाग्रताके बिना साधना नहीं बनती और साधनाके बिना साधुता नाममात्रकी ही रह जाती है। मनकी एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयपर अवलम्बित है। जिस साधुको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका, पर-पदार्थोंका, पर-पदार्थोंके संयोग-वियोग हेतुओंका, कर्मपुद्गलों तथा उनकी शक्तिका और इस विश्वके रूपका ठीक निश्चय नहीं उसका चित्त डावाँडोल होनेके कारण स्थिरताको प्राप्त नहीं होता। पदार्थोंके निश्चयकी प्राप्ति आगमसे—सर्वज्ञदेशित अथवा सर्वज्ञदेशनानुसारी शास्त्रोंसे—होती है अतः आगम-शास्त्रोंके प्रति विशेषतः आदरभाव रखनेकी यहाँ साधुओंको प्रेरणा की गयी है।

परलोकविधौ शास्त्रं प्रमाणं प्रायशः परम् ।

यतोऽत्रासन्नभव्यानामादरः परमस्ततः ॥६९॥

‘चूँकि परलोकके सम्बन्धमें शास्त्र प्रायः उत्कृष्ट परमप्रमाण हैं। इसलिए जो निकट भव्य हैं उनका शास्त्रमें परम आदर होता है।’

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया है कि जो निकट भव्य साधु होते हैं उनका आगममें परम आदर होता है और उसका कारण यह है कि परलोकके विषयमें अथवा अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थोंके सम्बन्धमें प्रायः शास्त्र ही प्रमाणभूत है; क्योंकि वह घातिया कर्मोंके क्षयसे समुद्भूत हुए अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयके धारक सर्वज्ञके द्वारा देशित (कथित) होता है। ऐसा सर्वज्ञ कथितप्रमाण ही यहाँ तथा आगेके पद्योंमें विवक्षित है।

उपदेशं विनाप्यङ्गी पटीयानर्थकामयोः ।

धर्मे तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥७०॥

१. एयगगदो समणो एयगं णिच्छिदस्स अत्थेमु। णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्टा तदो जेट्टा ॥३-३२॥ —प्रवचनसार।

‘यह प्राणी अर्थ और काम (पुरुषार्थ) के साधनमें बिना उपदेशके भी निपुण होता है—स्वतः प्रवृत्ति करता है—परन्तु धर्म (पुरुषार्थ) के साधनमें बिना शास्त्रोंके—शास्त्रोपदेशके अभावमें—प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए शास्त्रमें आदरका होना हितकारी है ।’

व्याख्या—यहाँ शास्त्रमें आदर और उसकी आवश्यकताकी बातको यह कहकर और पृष्ट किया गया है कि संसारी प्राणी अर्थोपार्जन और कामसेवन इन दो पुरुषार्थोंमें तो बिना किसीके उपदेशके स्वतः प्रवीण होता तथा प्रवृत्ति करता है परन्तु धर्माचरणमें बिना शास्त्रके नहीं प्रवर्तता अतः आगमशास्त्रमें आदर करना हितरूप है ।

अर्थकामाविधानेन तदभावः परं नृणाम् ।

धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावश्च जायते ॥७१॥

‘अर्थ और कामके साधनमें प्रवृत्ति न करनेसे उनका अभाव ही होता है । परन्तु धर्मके साधनमें प्रवृत्ति न करनेसे धर्मका अभाव ही नहीं किन्तु अनर्थ भी घटित होता है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिन तीन पुरुषार्थोंका उल्लेख है उनमें प्रवृत्तिके न होनेसे जो दोष आता है उसे इस पद्यमें बतलाते हुए लिखा है कि अर्थ-कामको न करनेसे तो मनुष्योंके उनका अभाव ही घटित होता है, परन्तु धर्मका अनुष्ठान न करनेसे धर्मका अभाव ही नहीं किन्तु दूसरा अनर्थ भी घटित होता है जिसे पापाचार प्रवृत्तिके रूपमें समझना चाहिए और इस तरह मुनियोंको धर्मके साधनभूत आगममें सादर प्रवृत्त होनेके लिए प्रेरित किया है ।

तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वच्छास्त्रे यत्नो विधीयते ।

मोहान्धकारिते लोके शास्त्रं लोक-प्रकाशकम् ॥७२॥

‘अतः जो धर्मके अभिलाषी हैं उनके द्वारा सदा शास्त्रमें—शास्त्रोपदेशकी प्राप्तिमें—यत्न किया जाता है । मोहरूपी अन्धकारसे व्याप्त लोकमें शास्त्र (ही) लोकका प्रकाशक है—लोकको यथार्थरूपमें दिखलानेवाला है ।’

व्याख्या—धर्मसाधनाके लिए आगम-शास्त्रकी उक्त आवश्यकताको देखते हुए धर्मार्थी साधुओंका यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वे सदा आगम-शास्त्रके अध्ययन, श्रवण तथा मननका यत्न करें । वस्तुतः मोहान्धकारसे व्याप्त लोकमें शास्त्र ही लोकके स्वरूपका सच्चा प्रकाशक है ।

यहाँ पीछे तथा आगे जिस शास्त्र (आगम) का उल्लेख है वह वही है जिसका स्वरूप स्वामी समन्तभद्रने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) के निम्न पद्यमें दिया है —

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्ट-बिरोधकम् ।

तत्त्वोपदेशकृत्सारं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥९॥

अर्थात्—‘जो आप्तोपज्ञ हो—आप्तके द्वारा प्रथमतः ज्ञान होकर उपदिष्ट हुआ हो—अनुल्लङ्घ्य हो—उल्लङ्घनीय अथवा खण्डनीय न होकर ग्राह्य हो, दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमानादि-विषयक-स्वसम्मत सिद्धान्त) का विरोधक न हो—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जिसमें कोई बाधा न आती हो और न पूर्वापरका कोई विरोध ही पाया जाता हो, तत्त्वोपदेशका कर्ता हो—वस्तुके यथार्थस्वरूपका प्रतिपादक हो, सबके लिए हितरूप हो और कुमार्गका निराकरण करनेवाला हो, उसे ‘शास्त्र’—परमार्थ आगम—कहते हैं ।’

इसकी विशेष व्याख्याके लिए समीचीन धर्मशास्त्र पृष्ठ ४३, ४४ देखना चाहिए ।

मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकम् ॥७३॥

‘मायारूप रोगकी दवा शास्त्र, पुण्यका कारण शास्त्र, सर्वपदार्थोंको देखनेवाला नेत्र शास्त्र और सर्वप्रयोजनोंका साधक शास्त्र है ।’

व्याख्या—यहाँ आगम-शास्त्रकी महिमाका वर्णन करते हुए उसे मायाचार रूप रोगकी ओषधि, सर्वव्यापी नेत्र, पुण्यके उपार्जनमें सहायक और सर्वप्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला साधक बतलाया है ।

न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति तस्य धर्म-क्रियाखिला ।
अन्धलोकक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥७४॥

‘जिसकी आगम-शास्त्रमें भक्ति नहीं उसकी सारी धर्मक्रिया कर्मदोषके कारण अन्धे व्यक्तिकी क्रियाके समान होती है, और वह क्रिया दूषित होनेके कारण सत्फलको—उत्तम अथवा यथेष्ट फलको—नहीं फलती ।’

व्याख्या—उक्त आगम-शास्त्रके प्रति जिसकी भक्ति नहीं—आदरभाव नहीं उस साधुकी सब क्रियाको—सारे धर्माचरणको—यहाँ अन्धपुरुषकी क्रियाके समान बतलाया है; क्योंकि वह क्रिया विवेक-विहीन दूषित होनेके कारण सत्फलको नहीं फलती ।

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनम् ।
रागादि-दोष-दुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा ॥७५॥

‘जिस प्रकार मलिन वस्त्रका जलसे शोधन होता है उसी प्रकार रागादि दोषसे दूषित हुए मनका संशोधन शास्त्रसे होता है ।’

व्याख्या—यहाँ भी शास्त्रके महत्त्वको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रागादिक दोषोंसे दूषित हुआ साधुका मन शास्त्रके अध्ययनादिसे उसी प्रकार विशुद्धिको प्राप्त होता है जिस प्रकार कि मलसे मलिन वस्त्र जलसे धुलनेपर शुद्ध तथा साफ होता है ।

आगमे शाश्वती बुद्धिर्मुक्तिस्त्री-शंफली यतः ।
ततः सा यत्नतः कार्या भव्येन भवभीरुणा ॥७६॥

‘चूँकि आगम—शास्त्रमें निरन्तर लगी हुई बुद्धि मुक्तिस्त्रीको प्राप्त करनेमें दूतीके समान है—मुक्तिको प्राप्त कराती है—इसलिए जो संसारसे—संसारके दुःखोंसे—भयभीत भव्य है उसे यत्नपूर्वक बुद्धिको शास्त्रमें—शास्त्रके अध्ययन-श्रवण-मननादिमें—लगाना चाहिए ।’

व्याख्या—यहाँ अलंकारकी भाषामें आगममें निरन्तर लगी रहनेवाली साधुकी बुद्धिको मुक्तिस्त्रीसे मिलानेवाली दूतीके समान बतलाया है और इसलिए संसारसे भयभीत भव्य साधुको सदा यत्नके साथ अपनी बुद्धिको आगमके अध्ययनादिमें प्रवृत्त करना चाहिए—इससे उसको मुक्तिमार्गकी प्राप्ति होगी ।

कान्तारे पतितो दुर्गे गर्ताद्यपरिहारतः ।
 यथाऽन्धो नाश्नुते मार्गमिष्टस्थान-प्रवेशकम् ॥७७॥
 पतितो भव-कान्तारे कुमार्गापरिहारतः ।
 तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो मार्गं मुक्तिप्रवेशकम् ॥७८॥

‘जिस प्रकार दुर्गम वनमें पड़ा हुआ अन्धा मनुष्य खड्डे आदिका परित्याग न कर सकनेसे इष्ट-स्थानमें प्रवेश करानेवाले मार्गको नहीं पाता है उसी प्रकार संसार-वनमें पड़ा हुआ अशास्त्रज्ञ प्राणी कुमार्गाका परित्याग न कर सकनेसे मुक्तिप्रवेशक मार्गको प्राप्त नहीं होता—उस सन्मार्गपर नहीं लगता है जिसपर चलनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।’

व्याख्या—यहाँ आगम-शास्त्रकी उपयोगिता, आवश्यकता तथा महिमाका उपसंहार करते हुए उसे दुर्गम-वनमें अकेले पड़े हुए अन्ध पुरुषके उदाहरण-द्वारा कुल्ल और स्पष्ट करके बतलाया गया है। दुर्गम वनमें अकेला पड़ा हुआ अन्धा जिस प्रकार चलते समय गड्डे, खड्डे तथा कूप-खाई आदिका परिहार न कर सकनेसे उनमें गिर जाता है, पड़ा-पड़ा कष्ट भोगता है और अपने इष्ट स्थानको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार संसार-वनमें पड़ा हुआ शास्त्रज्ञानसे विहीन अन्धा साधु-चर्या करते समय कुमार्गाका परिहार न कर सकनेसे कुमार्गमें फँसकर अपने इष्टस्थान—मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले सन्मार्गको प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है।

इस प्रकार ११ पद्योंमें साधुके लिए आगम-शास्त्रकी भारी उपयोगितादिका यहाँ वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा प्राप्त ज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

समान अनुष्ठानके होनेपर भी परिणामादिसे फल-भेद

यतः समेऽप्यनुष्ठाने फलभेदोऽभिसन्धितः ।
 स ततः परमस्तत्र ज्ञेयो नीरं कृषाविव ॥७९॥
 बहुधा भिद्यते सोऽपि रागद्वेषादिभेदतः ।
 नानाफलोपभोक्तृणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः ॥८०॥

‘चूँकि समान अनुष्ठानके होनेपर भी परिणामसे फलमें भेद होता है इसलिए फलप्राप्तिमें परिणामको उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि खेतीमें (जोतने-बोने आदि रूप समान अनुष्ठानके होनेपर भी) जलको विशेष स्थान प्राप्त है—ठीक समयपर यथेष्ट मात्रामें यदि खेतीको जल दिया जाता है तो वह उत्तम होती है। और वह परिणाम (अभिप्राय) भी राग-द्वेषादिके भेदसे तथा फलका उपभोग करनेवाले विविध मनुष्योंकी बुद्धि आदिके भेदसे बहुधा भेद रूप है।’

व्याख्या—इन दोनों पद्योंमें चारित्रिका अनुष्ठान समान होनेपर भी उसके फलभेदकी बात कही गयी है। फलभेदमें भावकी प्रधानताको बतलाते हुए खेतीमें जलके उदाहरण-द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है, शुभराग तथा अशुभराग और द्वेष-मोहादिककी तर-तमताके भेदसे

भी फलमें भेद होता है। इसके अतिरिक्त फल भोगनेवालोंकी बुद्धि आदिके भेदसे भी फलमें भेद होता है, यह बात यहाँ खास तौरसे सूचित की गयी है।

बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे सारे कर्म भेदरूप

बुद्धिज्ञानमसंमोहस्त्रिविधः प्रक्रमः स्मृतः ।

सर्वकर्माणि भिद्यन्ते तद्धेदाच्च शरीरिणाम् ॥८१॥

‘बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह ऐसे तीन प्रकारका प्रक्रम—कार्यमें प्रवर्तनरूप उद्यम—है और इसके भेदसे देहधारियोंके सब कार्य भेदको प्राप्त होते हैं—कोई बुद्धिपूर्वक, कोई ज्ञान-पूर्वक और कोई असम्मोहरूप होते हैं।

व्याख्या—जिस बुद्धि आदिके भेदसे पिछले पद्यमें फलभेदकी बात कही गयी है उसे यहाँ बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहके भेदसे तीन प्रकार प्रक्रम—उद्यम बतलाया है—एक बुद्धि-पूर्वक, दूसरा ज्ञानपूर्वक और तीसरा असम्मोहहेतुक। इन तीनोंका स्पष्टीकरण अगले कुछ पद्योंमें किया गया है। यहाँ इतनी ही सूचना की गयी है कि इन तीनोंके भेदसे देहधारियोंके सारे कार्य भेदको प्राप्त होते हैं।

बुद्धि, ज्ञान और असम्मोहका स्वरूप

बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकम् ।

तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः ॥८२॥

‘विज्ञ पुरुष उन बुद्धि आदि तीन भेदोंमें इन्द्रियाश्रितको ‘बुद्धि’ आगमपूर्वकको ‘ज्ञान’ और आगमपूर्वक ज्ञान ही जब सत्य अनुष्ठानको—अभ्रान्तरूपसे स्थिरताको—प्राप्त होता है तब उसे ‘असम्मोह’ कहते हैं।’

व्याख्या—इस पद्यमें बुद्धिको इन्द्रियाश्रित और ज्ञानको आगमाश्रित बतलाकर दोनोंके भेदको स्पष्ट किया गया है, अन्यथा बुद्धि और ज्ञानमें साधारणतया कोई भेद मालूम नहीं होता—एकके स्थानपर दूसरेका प्रयोग पाया जाता है; जैसे ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है वैसे ‘प्रमाणं बुद्धिलक्षणम्’ वाक्यके द्वारा स्वामी समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्र (६३) में उस ज्ञानको ही ‘बुद्धि’ शब्दके द्वारा उल्लेखित किया है। साथ ही जो आगमपूर्वक ज्ञान सदनुष्ठानको प्राप्त हो—अभ्रान्तरूपसे स्थिर हो—उसे ‘असम्मोह’ बतलाया है।

बुद्ध्यादि पूर्वक कार्योंके फलभेदकी दिशासूचना

चारित्रदर्शनज्ञानतत्स्वीकारो यथाक्रमम् ।

तत्रोदाहरणं ज्ञेयं बुद्ध्यादीनां प्रसिद्धये ॥८३॥

‘चारित्र-दर्शन-ज्ञानका जो यथाक्रम—दर्शन-ज्ञान-चारित्रके क्रमसे—स्वीकार है—जो चारित्र दर्शन-ज्ञान-पूर्वक है—उसमें बुद्धि आदिकी प्रसिद्धिके लिए यहाँ उदाहरणरूपसे भेदको जानना चाहिए।’

व्याख्या—बुद्धि आदिकी विशेषताको दर्शानेके लिए यहाँ जिस फलभेदके उदाहरणकी बात कही गयी है उसे संक्षेपतः अगले कुछ पद्योंमें बतलाया गया है ।

बुद्धिपूर्वक सब कार्य संसार-फलके दाता

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि समस्तानि तनूभृताम् ।

संसारफलदायीनि विपाकविरसत्वतः ॥८४॥

‘देहधारी जीवोंके जो बुद्धिपूर्वक कार्य हैं वे सब संसारफलके देनेवाले हैं, क्योंकि वे विपाकमें विरस होते हैं ।’

व्याख्या—यहाँ संसारी जीवोंके जितने भी बुद्धिपूर्वक कार्य हैं उन सबको सांसारिक फल अथवा संसार-परिभ्रमणरूप फलके देनेवाले लिखा है और उसका हेतु यह दिया है कि वे विपाककालमें विरस होते हैं । जो विपाककालमें रसरहित अथवा विकृत रस हो जाते हैं उन इन्द्रियाश्रित बुद्धिपूर्वक कार्योंकी ऐसी ही स्थिति है कि वे संसार-फलको ही देनेवाले होते हैं ।

ज्ञानपूर्वक कार्य मुक्तिहेतुक

तान्येव ज्ञान-पूर्वाणि जायन्ते मुक्तिहेतवे ।

अनुबन्धः फलत्वेन श्रुतशक्तिनिवेशितः ॥८५॥

‘वे ही कार्य जब ज्ञान-पूर्वक होते हैं तो वे मुक्तिके हेतु होते हैं; क्योंकि श्रुतशक्तिको लिये हुए जो अनुराग है वह (क्रमशः) मुक्ति फलको फलता है ।’

व्याख्या—जो कार्य इन्द्रियाश्रित बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं वे ही कार्य जब आगमाश्रित ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं तो वे बन्धके फलको न फलकर क्रमसे मुक्तिके फलको फलते हैं । इससे यह साफ ध्वनित होता है कि इन्द्रियाश्रित बुद्धि अज्ञानरूपा है और आगमाश्रित बुद्धि ज्ञानरूपा है । इसीसे अज्ञानीके भोगोंको बन्धका और ज्ञानीके भोगोंको निर्जराका कारण बतलाया जाता है ।

असम्मोह-पूर्वक कार्य निर्वाण सुखके प्रदाता

सन्त्यसंमोहहेतूनि कर्माण्यत्यन्तशुद्धितः ।

निर्वाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनाम् ॥८६॥

‘जो कार्य असम्मोहपूर्वक होते हैं वे भवातीत मार्गपर चलनेवालोंको अत्यन्त शुद्धिके कारण निर्वाणसुखके प्रदाता होते हैं ।’

व्याख्या—यहाँ तीसरे असम्मोह हेतु कार्योंके फलकी बातको लिया गया है, जिनके स्वामी भवातीत मार्गगामी होते हैं—भवाभिनन्दी नहीं—और उन्हें मुक्ति-सुखका दाता लिखा है; क्योंकि वे चित्तकी अत्यन्त शुद्धिके लिये हुए होते हैं ।

भवातीत मार्गगामियोंका स्वरूप

भावेषु कर्मजातेषु मनो येषां निरुद्यमम् ।

भव-भोग-विरक्तास्ते भवातीताध्वगामिनः ॥८७॥

‘कर्मजनित पदार्थोंमें जिनका मन उद्यमरहित है वे भवभोगसे विरक्त (योगी) ‘भवातीतमार्गगामी’ होते हैं ।’

व्याख्या—जिन भवातीतमार्गगामियोंका पिछले पद्यमें उल्लेख है उनका इस पद्यमें संक्षिप्त रूप दिया गया है—यह बतलाया है कि ‘जिनका मन कर्मोद्यमजनित पदार्थोंमें निरुद्यम रहता है—अनुरक्ति आदिके रूपमें कोई प्रवृत्ति नहीं करता—और जो संसारके भोगोंसे सदा विरक्त रहते हैं उन्हें ‘भवातीतमार्गगामी’ कहते हैं । ऐसे मुनियोंकी प्रवृत्ति भवाभिनन्दी मुनियोंसे बिलकुल विपरीत ‘अलौकिकी’ होती है ।

भवातीतमार्गगामियोंका मार्ग सामान्यकी तरह एक ही

एक एव सदा तेषां पन्थाः सम्यक्त्वचारिणाम् ।

व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदेऽपि जायते ॥८८॥

‘जो भवातीतमार्गगामी सम्यक् चारित्री हैं उनका मार्ग दशाका कुछ भेद होनेपर भी एक ही है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्यक्तियोंमें अवस्थाका कुछ भेद होनेपर भी समानता-द्योतक धर्म एक ही होता है ।’

व्याख्या—जिन भवातीतमार्गगामियोंका पिछले पद्यमें उल्लेख है उनके विषयमें यहाँ दो बातें खासतौरसे कही गयी हैं—एक तो यह कि वे सब सम्यक्चारित्री होते हैं, दूसरे यह कि उनमें परस्पर पन्थभेद नहीं होता—सबका पन्थ एक ही रहता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्यक्तियोंमें—विशेषोंमें—अवस्थाका कुछ भेद होनेपर भी सामान्य सदा एक ही रहता है ।

शब्दभेदके होनेपर निर्वाणतत्त्व एक ही है

निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं संसारातीतलक्षणम् ।

एकमेवावबोद्धव्यं शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥८९॥

‘संसारातीत लक्षणको लिये हुए जो निर्वाण—संज्ञा प्राप्त (मोक्ष) तत्त्व है उसे शब्द-भेदके होनेपर भी वस्तुतः एक ही जानना चाहिए ।’

व्याख्या—निर्वाण नामका तत्त्व, जिसे सात तत्त्वोंमें ‘मोक्ष’ नामसे गिनाया गया है और जिसका लक्षण संसारपनेका अभाव है—अर्थात् जिसमें भव-परिवर्तन नहीं, जन्म-मरण नहीं, शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, इन्द्रियों-द्वारा विषयग्रहण नहीं, राग-द्वेष-मोह नहीं, क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा नहीं, कामसेवा नहीं, किसी प्रकारकी इच्छा नहीं, तृष्णा नहीं, अहंकार-ममकार नहीं, संयोग-वियोग नहीं, इष्टवियोग-

१. मु सम्यपरायिणां । २. मु दशाभेदो ।

अनिष्ट योग-जन्य कोई कष्ट नहीं, रोग नहीं, जरा नहीं, बाल-युवा-वृद्धावस्था नहीं, भूख-प्यास नहीं, खाना-पीना-सोना-जागना नहीं, कहीं जाना-आना नहीं, किसीसे कोई वार्तालाप नहीं, कोई धन्धा-व्यापार नहीं, किसी प्रकारकी साधना-आराधना नहीं, मिट्टी-ईंट-पत्थर-चूने आदिके मकानोंमें रहना नहीं, संसारका कोई सुख-दुःख नहीं, अनित्यता-क्षणभंगुर नहीं; और न किसी प्रकारका कोई विभाव परिणमन है, उस स्व-स्वभाव-स्थित निर्विकार शुद्ध शाश्वत ज्ञानानन्द स्वरूपको 'संसारातीत लक्षण' कहते हैं। इस लक्षणसे युक्त 'निर्वाण' तत्त्व वस्तुतः एक ही है; मोक्ष, मुक्ति, निर्वृति, सिद्धि आदि शब्दभेद अथवा संज्ञा (नाम) भेदके कारण भेद होनेपर भी अर्थका कोई भेद नहीं है—सब नाम तात्त्विक दृष्टिसे एक ही अर्थके वाचक हैं।

यहाँ मोक्ष (निर्वाण) का जो लक्षण 'संसारातीत' अर्थात् 'भव-विपरीत' दिया है वह अपनी खास विशेषता रखता है और उसे सबकी समझमें आने योग्य बना देता है। यद्यपि वह उस लक्षणसे जो मोक्षाधिकारके प्रारम्भमें 'अभावो बन्धहेतूनां' इत्यादि रूपसे दिया है, प्रकटरूपमें भिन्न जान पड़ता है परन्तु वस्तुतः भिन्न नहीं है—उसीका फलितार्थ है। वह दार्शनिकोंकी—शास्त्रियोंकी समझमें आने योग्य बड़ा ही गूढ़-गम्भीर तथा, जँचा-तुला लक्षण है और यह सर्वसाधारणकी सहज समझमें आने योग्य खुला एवं सीधा-सादा लक्षण है। बन्ध और बन्धका कार्य जो संसार उससे मोक्ष विपरीत है। संसाररूप सबके सामने है, जिसे संक्षेपमें ऊपर प्रदर्शित किया गया है, जबकि बन्धके हेतु और सर्व कर्म सामने नहीं हैं, इससे सांसारिक सभी प्रवृत्तियोंके अभावरूप मोक्षको आसानीसे समझा जा सकता है और इसीलिए सर्वसाधारणकी समझ तथा फलितार्थकी दृष्टिसे यह लक्षण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

विमुक्तादि शब्द अन्वर्थक

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परंब्रह्माभवः शिवः ।

अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते ॥६०॥

'विमुक्त, निर्वृत, सिद्ध, परंब्रह्म, अभव तथा शिव शब्द अन्वर्थक हैं। शब्दभेदके होते हुए भी इनमें एकके वाच्यका दूसरेके वाच्यके साथ वास्तवमें अर्थभेद नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ निर्वाणको प्राप्त व्यक्तियोंके कुछ नामोंका उल्लेख करके यह बतलाया है कि ये सब ताम अन्वर्थ संज्ञक हैं—नामभेदको लिये हुए होनेपर भी इनमें कोई भी नाम उस निर्वाण तत्त्वके जपभेदकी लिये हुए नहीं है—सबका अभिधेय वही एक निर्वाणतत्त्व है जिसका पिछले पद्यमें उल्लेख किया गया है। विमुक्तिको—विभावपरिणमनमें कारणभूत बन्धनोंसे विशेषतः निवृत्तिको—जो प्राप्त उसे 'विमुक्त' कहते हैं, जो सांसारिक सब प्रवृत्तियोंसे छुटकारा पा चुका है उसे 'निर्वृत' कहते हैं, जिसने सिद्धिको—दोषों-विकारों तथा आवरणोंके अभावरूप स्वात्मोपलब्धिको—प्राप्त कर लिया है उसे 'सिद्ध' कहते हैं, जो सब विभावोंका अभाव कर अपने शुद्ध चिदानन्दमय आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया है उसे 'परंब्रह्म' कहते हैं, जो भवके—संसारके—सब प्रपंचोंसे रहित हो गया है अथवा संसारके रूपमें नहीं रहा उसे 'अभव' कहते हैं और जो शिवको—परम सौख्यरूप निर्वाणको अथवा परम-कल्याण-को—प्राप्त हो गया है उसे 'शिव' कहते हैं। उक्त नामोंकी इन अर्थोंपर-से सबका वाच्य एक ही पाया जाता है और इसलिए इनमें वस्तुतः अर्थ-भेदका न होना सुघटित है।

१. बन्धस्य कार्यः संसारः (रामसेनाचार्य) । २. मोक्षस्तद्विपरीतात्मा (समन्तभद्र) ।

निर्वाणतत्त्व तीन विशेषणोंसे युक्त

तल्लक्षणाविसंवादा निराबाधमकल्मषम् ।

कार्यकारणतातीतं जन्ममृत्युवियोगतः ॥६१॥

‘उस निर्वाणतत्त्वके लक्षणमें जो विसंवाद-रहित हैं वे उसे ‘निराबाध’—सब प्रकारकी आकुलतादि बाधाओंसे रहित—‘अकल्मष’—सारे कर्ममलोंसे शून्य—और जन्म-मरणका अभाव हो जानेसे ‘कार्य-कारणता-से विमुक्त’ कहते हैं ।’

व्याख्या—निर्वाण तत्त्वके उक्त संसारातीत लक्षणमें जिन्हें कोई विवाद नहीं है वे उस निर्वाण तत्त्वको तीन खास विशेषणोंसे युक्त अनुभव करते हैं—एक निराबाध, जिसमें कभी किसी प्रकारसे कोई बाधा नहीं आती, दूसरे अकल्मष, जिसमें कभी किसी प्रकारसे कर्ममलका सम्बन्ध नहीं हो पाता, तीसरे जन्म-मरणका वियोग हो जानेसे जो सदा कार्य-कारणतासे रहित रहता है—न कभी किसीका कार्य बनता और न कभी कारण ।

असम्मोहसे ज्ञात निर्वाण-तत्त्वमें कोई विवाद तथा भेद नहीं होता

ज्ञाते निर्वाण-तत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः ।

मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ विवाद उपपद्यते ॥६२॥

सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः ।

प्राञ्जलोऽयं ततो भेदः कदाचिन्नात्र विद्यते ॥६३॥

‘इस निर्वाणतत्त्वके वस्तुतः असम्मोह (अभ्रान्त) रूपसे ज्ञात हो जानेपर मुमुक्षुओंको उसकी युक्ति-योजनामें विवाद उत्पन्न नहीं होता । क्योंकि सर्वज्ञके द्वारा देखा गया जो मुक्ति-प्रवेशक मार्ग है वह प्राञ्जल है—स्पष्ट एवं निर्दोष है—और इसलिए उसमें कभी कोई भेद नहीं है ।’

व्याख्या—मोक्षतत्त्वको जबतक असम्मोह (अभ्रान्त) रूपसे नहीं जाना जाता तबतक उसमें विवादका होना सम्भव है । आगम-ज्ञानपूर्वक निश्चित रूपसे जान लेनेपर मुमुक्षुओंको उसमें फिर कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता । वे दृढ़ श्रद्धाके साथ समझते हैं कि सर्वज्ञदेवने मोक्ष-प्राप्तिका जो मार्ग—उपाय बन्धके हेतुओं मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्यका अभाव और मोक्षहेतुओं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यका सद्भाव बतलाया है वह बिलकुल ठीक है—उसमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता । बन्धहेतुओंके अभावसे नये कर्म नहीं बँधते और मोक्ष-हेतुओंके सद्भावसे जो तपश्चर्या बनती है उससे संचित सारे कर्मोंकी निर्जरा होकर स्वतः मुक्तिकी प्राप्ति होती है । और इसलिए वे निःशंक होकर उस मार्गमें प्रवृत्ति करते हैं ।

निर्वाणमार्गकी देशनाके विचित्र होनेके कारण

विचित्रादेशनास्तत्र भव्यचित्तानुरोधतः ।

कुर्वन्ति सूरयो वैद्या यथाव्याध्यनुरोधतः ॥६४॥

‘उस मुक्तिमार्गके सम्बन्धमें आचार्य महोदय भव्यजनोंके चित्तानुरोधसे नाना प्रकारकी देशनाएँ उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार वैद्य व्याधियोंके अनुरोधसे नाना प्रकारकी

१. आ जन्ममृत्योर्वियोगतः, व्या जन्ममृत्यादियोगतः ।

चिकित्सा करते हैं—जिस समय जिस रोगीकी जिस प्रकारकी व्याधि (बीमारी) होती है उस समय चतुर वैद्य उस व्याधि तथा रोगीकी प्रकृति आदिके अनुरूप योग्य औषधकी योजना करते हैं ।’

व्याख्या—पिछले पद्यसे कोई यह न समझ ले कि मुक्तिका मार्ग बिलकुल एक ही साँचेमें ढला हुआ होता है, सबके लिए समान रूपसे ही उसकी देशना की जाती है, उसकी प्रक्रियामें कहीं कोई रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं होता, इस गलतफहमीको दूर करनेके लिए ही इस पद्यका अवतार हुआ जान पड़ता है। यहाँ स्पष्ट रूपसे मोक्षमार्गकी देशनाका विशेषण ‘विचित्रा’ दिया गया है जो इस बातको सूचित करता है कि सबके लिए देशनाका एक ही रूप नहीं होता, क्योंकि सामान्यतः संसार-रोग एक होने पर भी उसकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न चित्तोंके अनुरोधसे भिन्न-भिन्न होती हैं। एक चतुर वैद्य एक ही रोगसे पीड़ित विभिन्न रोगियोंकी चिकित्सामें रोगीकी अवस्था आदिके अनुरोधसे जिस प्रकार विभिन्न चिकित्सा करता है उसी प्रकार संसार-रोगके ज्ञाता आचार्य भी संसारी प्राणियोंके रोगकी विभिन्न स्थिति तथा अवस्था आदिके अनुसार उन्हें विभिन्न प्रकारकी देशना किया करते हैं जिसमें रोग-विषयक सिद्धान्तादिका कोई विरोध न होकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार उसकी चिकित्सा-प्रक्रियामें अन्तर हुआ करता है। इसीसे अनेक आचार्योंके कथनोंमें परस्पर शासन-भेद पाया जाता है, इतना ही नहीं किन्तु जैन तीर्थंकरोंके शासनमें भी भेद पाया जाता है। इसके लिए जैन ग्रन्थरत्नाकर हीराबाग बम्बईसे प्रकाशित ‘जैनाचार्योंका शासनभेद’ नामकी पुस्तकको देखना चाहिए, जिसमें परिशिष्ट रूपसे जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद भी दिया हुआ है।

उक्त चारित्र-व्यवहारसे मुक्ति हेतु, निश्चयसे विविक्त चेतनाका ध्यान

कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः ।

विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थतः ॥६५॥

‘यह चारित्र जो ऊपर वर्णित हुआ वह व्यवहारसे निर्वाणका कारण है, निश्चयसे कर्म-कलंक विमुक्त शुद्ध आत्माका जो ध्यान है वह निर्वाणका कारण होता है ।’

व्याख्या—यहाँ पूर्व वर्णित चारित्रके विषयमें यह घोषणा की गयी है कि वह व्यवहार नयकी दृष्टिसे मुक्तिका मार्ग है—मुक्तिकी प्राप्तिका सहायक है—निश्चय नयकी दृष्टिसे विविक्त चेतनाका—कर्मकलंकसे रहित शुद्धात्माका—ध्यान मुक्तिका कारण होता है।

व्यावहारिक चारित्रके भेद

यो व्यावहारिकः पन्थाः सभेद-द्वय-संगतः ।

अनुकूलो भवेदेको निर्वृतेः संसृतेः परः ॥६६॥

‘जो व्यावहारिक (व्यवहारनयाश्रित) मार्ग है वह दो भेदोंको लिये हुए है, एक निर्वाणके अनुकूल है, दूसरा संसारके अनुकूल है ।’

व्याख्या—यहाँ व्यवहार-मार्गके दो भेद किये गये हैं—एक वह जो कि मुक्तिके अनुकूल होता है और दूसरा वह जो कि संसारके अनुकूल होता है। फलतः उसे मुक्तिके प्रतिकूल समझना चाहिए। जो व्यवहार-मार्ग मुक्तिके अनुकूल होता है उसीको मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक समझना चाहिए।

कौन चारित्र मुक्तिके अनुकूल और कौन संसृतिके

निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं जिन-भाषितम् ।

संसृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं पर-भाषितम् ॥६७॥

‘निर्वाण (मुक्ति) के अनुकूल जो मार्ग है वह जिनभाषित चारित्र है और जो संसारके अनुकूल मार्ग है वह पर-भाषित सर्वज्ञ—जिनदेवसे भिन्न अन्य व्यक्तियों (असर्वज्ञों, आत्मा-भासों) का कहा हुआ—चारित्र है ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें व्यवहार चारित्रके जो दो भेद किये हैं उनके स्वरूपकी कुछ सूचना इस पद्यमें की गयी है और वह यह है कि जो चारित्र-धर्म जिनभाषित है—याति-कर्ममलके क्षयसे उत्पन्न अनन्तज्ञानादि चतुष्टयके धारक केवलजिन-प्रज्ञप्त है—वह मुक्तिके अनुकूल है और जो पर-भाषित है—केवलज्ञानादिसे रहित दूसरोंके द्वारा कहा गया है—वह संसारके अनुकूल है—संसारको बढ़ानेमें सहायक है ।

जिनभाषित चारित्र कैसे मुक्तिके अनुकूल है

चारित्रं चरतः साधोः कषायेन्द्रिय-निर्जयः ।

स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः ॥६८॥

‘(जिनभाषित) सम्यक् चारित्ररूप आचरण करते हुए साधुके कषाय तथा इन्द्रियोंका जीतना होता है, कषाय और इन्द्रियोंको जीतनेसे स्वाध्याय—अपने आत्माका अध्ययन-बनता है और स्वात्माध्ययनसे निर्वाणका संगम होता है—अविनाशी एवं पूर्णतः निराकुल मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है ।’

व्याख्या—यहाँ जिनभाषित चारित्रके विषयमें यह स्पष्ट किया गया है कि वह कैसे मुक्तिके अनुकूल है । उस चारित्रपर चलनेवाले साधुके कषायों तथा इन्द्रियोंपर विजय होता है, कषायों तथा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त होनेसे स्वाध्याय—अपने आत्मस्वरूपका अध्ययन—बनता है और आत्मस्वरूपके अध्ययनसे विविक्त आत्माका वह ध्यान बनता है जिसे पिछले एक पद्य (९४) में निश्चय चारित्र कहा गया है और उसके बननेसे मुक्तिका संगम स्वतः होता है । इस तरह जिनभाषित व्यवहार चारित्र मुक्तिको प्राप्त करनेमें सहायक है और इसलिए उसको भी ‘मोक्षमार्ग’ कहना संगत है ।

उक्त व्यवहार चारित्रके बिना निश्चय चारित्र नहीं बनता

इदं चरित्रं विधिना विधीयते

ततः शुभध्यान-विरोधि-रोधकम् ।

विविक्तमात्मानमनन्तमीशते

न साधवो ध्यातुमृतेऽमुना यतः ॥९९॥

‘यह (जिनभाषित) चारित्र जो कि शुभध्यान (धर्मध्यान) के विरोधियों (आर्त-रौद्र-ध्यानों) को रोकनेवाला है जब यथाविधि किया जाता है तो उससे साधुजन अनन्तरूप विविक्त-निर्मल आत्माको ध्यानेके लिए समर्थ होते हैं । इस चारित्रके बिना वे साधुजन शुद्धात्माके ध्यानमें समर्थ नहीं होते ।’

व्याख्या—यहाँ जिन-भाषित चारित्रिके अनुष्ठानका दो प्रकारसे महत्त्व ख्यापित किया गया—एक तो यह कि वह शुभध्यानके विरोधी ध्यानोंका निरोधक है दूसरे उससे शुद्धात्माके ध्यानकी शक्ति, पात्रता अथवा भोग्यता प्राप्त होती है, बिना इस चारित्रिका अनुष्ठान किये वह नहीं बनती। इसीसे व्यवहारचारित्रिको निश्चय चारित्रिका साधन कहा गया है। उसके अनुष्ठान-द्वारा शक्ति एवं पात्रता प्राप्त किये बिना शुद्ध आत्माके ध्यानरूप निश्चय चारित्रिक नहीं बनता। जो लोग व्यवहारचारित्रिको निश्चय चारित्रिका सहायक न मानकर यों ही फालतू मदकी बात अथवा बेकार (व्यर्थ) समझते हैं उन्हें इस कथनसे अच्छी खासी शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी भूल-भ्रान्तिको मिटा देना चाहिए। यदि व्यवहार-चारित्रिक निश्चय चारित्रिके साधनमें किसी प्रकारसे भी सहायक नहीं होता तो जिनेन्द्र भगवान्को उसके कथनकी आवश्यकता ही क्या पड़ती? अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिसे ही चारित्रिकी वह भूमिका तैयार होती है जहाँ खड़े होकर शुद्धात्माका आराधन किया जा सकता है।

उक्त चारित्रिके अनुष्ठाता योगीकी स्थिति

राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभ-व्यपेतो

यश्चारित्रं पवित्रं चरति चतुरधीर्लोकयात्रानपेक्षः ।

स ध्यात्वात्म-स्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्यं

त्यक्त्वा कर्मारि-चक्रं परम-सुख-मयं सिद्धिसद्म प्रयाति ॥१००॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंग-योगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते चारित्राधिकारः ॥८॥

‘जो चतुरबुद्धि योगी राग-द्वेष-प्रपञ्च (छलादि) भ्रम, मद, मान-अहंकार, मदन (काम) क्रोध और लोभसे रहित हुआ लोकयात्राही—दुनियाके व्यवहारकी अपेक्षा न रखता हुआ (उक्त) पवित्र चारित्रिकरूप प्रवृत्त होता है वह अध्यात्मगम्य स्वभावको सदा निष्कलंक रूपमें ध्यान करके और कर्मशत्रुओंके चक्रको भेद कर परम सुखमय सिद्धि-सदन (मुक्ति महल) को प्राप्त होता है।’

व्याख्या—यह आठवें अधिकारका उपसंहार-पद्य है। इसमें अधिकार-वर्णित पवित्र चारित्रिका अनुष्ठान करनेवाले योगीके तीन खास विशेषण दिये गये हैं—एक राग-द्वेष-प्रपञ्च-भ्रम-मद-मदन-क्रोध-लोभसे रहित होना, दूसरा बुद्धिकी चतुरताका होना और तीसरा लोकयात्राकी अपेक्षा न रखना। इन गुणोंसे युक्त हुआ योगी जब आत्मस्वभावका ध्यान करता है, जो कि कर्म कलंकसे रहित, शाश्वत और आत्मगम्य है, तब उसके साथ दर्शन-ज्ञानावरणादि कर्मोंका जो समूह है वह सब विच्छिन्न तथा विभिन्न हो जाता है और इससे योगी निर्बन्ध तथा निर्लेप सिद्धिके उस चरमधामको पहुँच जाता है जो परम सुखस्वरूप है, और जिसकी स्थिति लोकके अग्रभागमें सिद्धशिलासे ऊपर है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभृतमें, चारित्राधिकार नामका आठवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥८॥

चूलिकाधिकार

मुक्तात्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभावको लिये सदा आनन्दरूप रहता है

दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु सदानन्दोऽस्ति निर्वृतः ।

न चैतन्य-स्वभावस्य नाशो नाश-प्रसङ्गतः ॥१॥

‘निर्वृतिको—मुक्ति अथवा सिद्धिको—प्राप्त हुआ आत्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभावको लिये हुए सदा आनन्दरूप रहता है। उसके (दर्शन-ज्ञानरूप) चैतन्य स्वभावका कभी नाश नहीं होता क्योंकि स्वभावका नाश माननेसे आत्माके ही नाशका प्रसंग उपस्थित होता है।’

व्याख्या—पिछले अधिकारमें वर्णित सम्यक्चारित्रकी पूर्णताको प्राप्त होकर जब यह जीव निर्वृत—मुक्त होता है—इसे कुछ करना शेष नहीं रहता—तब यह अपने दर्शन-ज्ञान स्वभावको लिये हुए सदा आनन्दरूपमें तिष्ठता है। यदि कोई वैशेषिक मतकी मान्यताको लेकर यह कहे कि निर्वृत—मुक्त होनेपर बुद्धि आदि वैशेषिक-गुणोंका उच्छेद हो जानेसे चैतन्य स्वभावका नाश हो जाता है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि चैतन्यस्वभावका स्वभाव होनेसे कभी नाश नहीं होता। यदि स्वभावका भी नाश माना जायेगा तो द्रव्यके नाशका ही प्रसंग उपस्थित होगा—उसका किसी भी प्रकारसे कहीं कोई अस्तित्व नहीं बन सकेगा, यह महान् दोष आयेगा। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभावके कारण अपना-अपना अलग अस्तित्व रखती है। दर्शनज्ञानरूप चैतन्य स्वभावके कारण आत्मा भी अपना अलग अस्तित्व रखता है—उसका कभी नाश नहीं होता।

मुक्तात्माका चैतन्य निरर्थक नहीं

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकम् ।

स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचारानुपपत्तितः ॥२॥

‘मुक्तात्माका चैतन्य सर्वथा निरर्थक भी ज्ञात नहीं होता; क्योंकि निरर्थकको स्वभाव या अस्वभाव माननेपर चैतन्यकी निरर्थकताका विचार नहीं बनता।’

व्याख्या—मुक्तात्माके चैतन्यको जो सांख्यमतानुयायी सर्वथा निरर्थक बतलाते हैं—यह कहते हैं कि वह चैतन्य ज्ञेयके ज्ञानसे रहित होता है—उसका निषेध करते हुए यहाँ दो विकल्प उपस्थित किये गये हैं—आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप है या निरर्थक स्वभावरूप नहीं है? इन दोनोंमें-से किसीकी भी मान्यतापर निरर्थकताका विचार नहीं बनता, ऐसा सूचित किया गया है। आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप नहीं है, इस द्वितीय विकल्पकी मान्यतासे तो चैतन्यकी स्वभावसे सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है और इसलिए आपत्तिके लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। शेष आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप है ऐसा प्रथम विकल्प माननेपर आत्माके चैतन्यको निरर्थक बतलानेरूप विचार कैसे संगत नहीं बैठता इसको अगले दो पद्योंमें स्पष्ट किया गया है।

चैतन्यको आत्माका निरर्थक स्वभाव माननेपर दोषापत्ति

निरर्थक-स्वभावत्वे ज्ञानभावानुपपन्नतः ।

न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्चेतनत्वानुपपन्नतः ॥३॥

प्रकृतेश्चेतनत्वे स्यादात्मत्वं दुर्निवारणम् ।

ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये नैरर्थक्यं न युज्यते ॥४॥

‘यदि चैतन्यको आत्माका निरर्थक स्वभाव माना जाय—सार्थक स्वभाव न मानकर प्रकृतिजनित विभाव स्वीकार किया जाय—तो प्रकृतिके ज्ञानत्वका प्रसंग उपस्थित होता है और ज्ञान प्रकृतिका धर्म है नहीं; क्योंकि ज्ञानको प्रकृतिका धर्म माननेपर प्रकृतिके चेतनत्वका प्रसंग उपस्थित होता है । और प्रकृतिके यदि चेतनत्व माना जाये तो आत्मत्व मानना भी अवश्य-भावी होगा । अतः चैतन्यके ज्ञानात्मक होनेपर उसके निरर्थकपना नहीं बनता ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें चैतन्यके निरर्थक न होनेकी जो बात कही गयी है उसीका इन दोनों पद्योंमें निरर्थक स्वभाव नामके विकल्पको लेकर स्पष्टीकरण किया गया है । चैतन्यको आत्माका निरर्थक स्वभाव माननेका अर्थ यह होता है कि चैतन्य आत्माका सार्थक (स्वकीय) स्वभाव न होकर उसका विभाव परिणाम है । कोई भी विभाव परिणाम परके निमित्त बिना नहीं होता । आत्माके विभाव परिणामका कारण पौद्गलिक कर्म होता है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं । विभाव परिणाम जब चैतन्यरूप है तब उसकी जननी प्रकृति भी ज्ञानरूप ठहरती है । परन्तु ज्ञान प्रकृतिका धर्म नहीं है । उसे प्रकृतिका धर्म माननेपर प्रकृतिके चेतनपनेका प्रसंग उपस्थित होता है, जिसे सांख्यमतावलम्बियोंने भी माना नहीं । यदि प्रकृतिके चेतनधर्मका सद्भाव माना जायेगा तो उसको आत्मा (पुरुष) मानना अनिवार्य हो जायेगा; क्योंकि सांख्योंने पुरुष आत्माको चेतन रूपमें स्वीकार किया है और प्रकृतिको जडरूपमें । इस मान्यतासे उनके मतमें विरोध उपस्थित होगा । अतः चैतन्यके स्वभावसे ज्ञानरूप होनेपर निरर्थकपना कुछ नहीं बनता । ज्ञान आत्माका स्वभाव होनेसे उसमें निरर्थकपनेकी संगति नहीं बैठती । ऐसी स्थितिमें सांख्योंकी उक्त मान्यता सदोष ठहरती है ।

सत्का अभाव न होनेसे मुक्तिमें आत्माका अभाव नहीं बनता

नाभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः^१ ।

विद्यमानस्य भावस्य नाभावो युज्यते यतः^४ ॥५॥

‘चूँकि विद्यमान भावका—सत्का—(कभी) अभाव नहीं होता इसलिए मुक्ति-अवस्थामें आत्माका अभाव (भी) घटित नहीं होता ।’

व्याख्या—जो लोग बौद्धमान्यताके अनुसार मुक्ति अवस्थामें आत्माका प्रदीप निर्माणके समान अभाव मानते हैं उन्हें लक्ष्य करके यहाँ कहा गया है कि मुक्ति अवस्थामें आत्माका अभाव नहीं होता; क्योंकि आत्मा सत्स्वरूप है, जो वस्तु सत्स्वरूप होती है उसका कभी नाश नहीं होता^५—भले ही उसकी पर्यायोंमें परिवर्तन होता रहे ।

१. मु प्रकृतेश्चेतनत्वं । २. मु ज्ञानात्मकेन । ३. आ, न्या घटते यतः । ४. आ, न्या युज्यते ततः । ५. नैवासतो जन्म सतो न नाशः ।—समन्तभद्र ।

चन्द्रकान्ति और मेघके उदाहरण-द्वारा विषयका स्पष्टीकरण

यथा चन्द्रे स्थिता कान्तिनिर्मले निर्मला सदा ।
 प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनितावृतिः ॥६॥
 तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा ।
 प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृतावृतिः ॥७॥
 जीमूतापगमे चन्द्रे यथा स्फुटति चन्द्रिका ।
 दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि ॥८॥

‘जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमामें निर्मल कान्ति सदा स्थित रहती है, उसकी प्रकृति जो विकृति रूप होती है अथवा उसके निर्मल स्वभावमें जो विकार उत्पन्न होता है उसका कारण मेघादिजनित आवृति—आवरण है, उसी प्रकार निर्मल आत्मामें निर्मल ज्ञप्ति—ज्ञान ज्योति—सदा स्थित रहती है, उसकी प्रकृति जो विकृतिरूप होती है अथवा उसके निर्मल स्वभावमें विभाव परिणमनरूप जो विकार उत्पन्न होता है उसका कारण आठ कर्मोंकी की हुई आवृति है। मेघोंके विघटित हो जानेपर जिस प्रकार चन्द्रमामें चाँदनी स्फुटित होती है उसी प्रकार कर्मोंके दूर हो जानेपर आत्मामें शुद्ध ज्ञप्ति—ज्ञान ज्योति—स्फुटित होती है।’

व्याख्या—इन तीनों पद्योंमें चन्द्रमा और मेघके उदाहरण-द्वारा यह स्पष्ट करके बतलाया है कि वस्तुका जो स्वभाव है उसका कभी अभाव नहीं होता—परके निमित्तसे न्यूनाधिकरूपमें तिरोभाव अथवा विभाव परिणमन जरूर हो जाता है, परका सम्बन्ध मिटनेपर वस्तु अपने असली स्वभावमें प्रकट हो जाती है। यह विभाव-परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही होता है, जिनमें वैभाविकी शक्ति पायी जाती है—अन्य द्रव्योंमें नहीं। मेघरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणु जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमाकी चाँदनीमें विकार उत्पन्न करते हैं—उसे अपने असलीरूपमें प्रस्फुटित होने नहीं देते उसी प्रकार अष्टकमरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणु आत्माकी शुद्ध चेतनामें विकार उत्पन्न करते हैं—उसे अपने असलीरूपमें प्रकट होने नहीं देते। मेघोंके पूर्णतः विघटित होनेपर निर्मल चन्द्रिका (चाँदनी) की जैसी स्थिति होती है वैसी ही स्थिति शुद्धात्मज्योतिकी कर्मोंका पूर्णतः विलय होनेपर होती है—अर्थात् वह अपने शुद्ध स्वरूपमें पूर्णतः विकसित हो जाती है।

आत्मापर छाये कर्मोंको योगी कैसे क्षण-भरमें धुन डालता है

धुनाति क्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि ।

मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महाबलः ॥६॥

‘आत्माके ऊपर आये हुए कर्मोंके आवरणको योगी उसी प्रकार क्षण-भरमें धुन डालता है जिस प्रकार कि तीव्र गतिसे चलनेवाला महाबलवान् पवन सूर्यपर आये हुए मेघ समूहको क्षण-भरमें भगा देता है।’

व्याख्या—यहाँ उस योगीके योग-माहात्म्यको दर्शाया गया है जो आत्माके ऊपर छाये हुए कर्म पटलोंको क्षणमात्रमें धुन डालता है। उस योगीकी शक्ति तीव्र वेगसे चलने-वाले उस प्रचण्ड पवनके समान होती है जो सूर्यके ऊपर आये हुए बादलोंको क्षणमात्रमें छिन्न-भिन्न कर डालता है।

योगीके योगका लक्षण

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।

स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत-पातकैः ॥१०॥

जिस योगसे—ध्यानसे—कर्म कलंक विमुक्त आत्माका परिज्ञान होता है वह उन योगियों-के द्वारा 'योग' कहा गया है जिन्होंने योग बलसे पातकोंका—घातिया कर्मोंका—नाश किया है ।'

व्याख्या—जिस योगके माहात्म्यका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसका लक्षण इस पद्यमें दिया गया है और वह यह है कि जिस योगसे—ध्यान बलसे—आत्माको अपने स्वभाव-स्थित असलीरूपमें जाना जा सके उसे 'योग' कहते हैं, जो कि ध्यानका पर्याय-वाचक है । योगका यह लक्षण उन योगियोंके द्वारा कहा गया है जिन्होंने योग-बलसे ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका, जो कि सब पापरूप हैं, पूर्णतः विनाश किया है । इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि योग शुद्धात्माका परिज्ञायक ही नहीं किन्तु आत्माके ऊपर व्याप्त और उसके स्वरूपको आच्छादन करनेवाले कर्मपटलोंका उच्छेदक भी है ।

योगसे उत्पन्न सुखकी विशिष्टता

निरस्त-मन्मथातङ्कं योगजं सुखमुत्तमम् ।

शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहम् ॥११॥

'जो योगसे—ध्यानजन्य-विविक्तात्म परिज्ञानसे—उत्पन्न हुआ सुख है वह उत्तम सुख है; (क्योंकि) वह कामदेवके आतंकसे—विषय वासनाकी पीड़ासे—रहित है, शान्तिस्वरूप है, निराकुलतामय है, स्थिर है—अविनाशी है—स्वात्मामें स्थित है—कहीं बाहरसे नहीं आता, न पराश्रित है—और जन्म जरा तथा मृत्युका विनाशक है अथवा तज्जन्य दुःखसे रहित है ।'

व्याख्या—जिस योगका पिछले पद्यमें उल्लेख है वह स्वात्माका परिज्ञायक और पातकों-का उच्छेदक होनेके कारण जिस सुखका जनक है उसके यहाँ उत्तमादि छह विशेषण दिये गये हैं, जो सब उसकी निराकुलता, स्वाधीनता और उत्कृष्टताके द्योतक हैं ।

सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण

सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

वदन्तीति समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥१२॥

'जो पराधीन है वह सब दुःख है और जो स्वाधीन है वह सब सुख है' इस प्रकार (विज्ञ-पुरुष) संक्षेपसे सुख-दुःखका लक्षण कहते हैं ।'

व्याख्या—यहाँ संक्षेपसे सुख और दुःख दोनोंके व्यापक लक्षणोंका उल्लेख किया गया है, जिनसे वास्तविक सुख-दुःखको सहज ही परखा-पहचाना जा सकता है । जिस सुखकी प्राप्तिमें थोड़ी-सी भी पराधीनता—परकी अपेक्षा—है वह वास्तवमें सुख न होकर दुःख ही है और जिसकी प्राप्तिमें कोई पराधीनता—परकी अपेक्षा नहीं, सब कुछ स्वाधीन है, वही सच्चा सुख है । अतः जो इन्द्रियाश्रित भोगोंको सुखदायी समझते हैं वे अन्तमें सन्तापको ही प्राप्त होते हैं—सच्चा तथा वास्तविक सुख उन्हें नहीं मिल पाता ।

उक्त लक्षणकी दृष्टिसे पुण्यजन्य भोगों और योगजन्य ज्ञानकी स्थिति

ततः पुण्यभवा भोगा दुःखं परवशत्वतः ।

सुखं योगभवं ज्ञानं स्वरूपं स्ववशत्वतः ॥१३॥

‘चूँकि जो पराधीन है वह सब दुःख है । अतः जो पुण्यसे उत्पन्न हुए भोग हैं वे परवश (पराश्रित) होनेके कारण दुःखरूप हैं । और योगसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान—विविक्तात्म परि-ज्ञान—है वह स्वाधीन होनेके कारण सुखरूप अपना स्वरूप है ।’

व्याख्या—सुख-दुःखके उक्त लक्षणोंकी दृष्टिसे यहाँ पुण्यसे उत्पन्न होनेवाले भोगोंको भी दुःखरूप बतलाया है; क्योंकि वे पुण्योदयके आश्रित हैं—पराधीन हैं—और स्वकीय ध्यान-बलसे उत्पन्न होनेवाले शुद्धात्मज्ञानको सुखरूप बतलाया है; क्योंकि वह स्वाधीन है और अपना स्वभाव है ।

निर्मल ज्ञान स्थिर होनेपर ध्यान हो जाता है

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम् ।

हेमच्चीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते ॥१४॥

पुरुषोंका—मानवोंका—निर्मल ज्ञान जब स्थिर होता है तो वह ‘ध्यान’ हो जाता है । (ठीक है) किट्ट-कालिमादिरूप मलसे रहित हुआ सुवर्ण क्या कल्याणपनेको प्राप्त नहीं होता ?—होता ही है, उस शुद्ध सुवर्णको ‘कल्याण’ नामसे पुकारा जाता है ।’

व्याख्या—यहाँ योगका ध्यान शब्दसे उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब निर्मलज्ञान स्थिर होता है तब वह ‘ध्यान’ कहलाता है; उसी प्रकार जिस प्रकार कि सुवर्ण जब मलरहित होता है तो ‘कल्याण’ नामको प्राप्त होता है । निर्मल ज्ञान भी ध्यानरूपमें स्थिर होकर कल्याणकारी होता है ।

भोगका रूप और उसे स्थिर-वास्तविक समझनेवाले

गन्धर्वनगराकारं विनश्वरमवास्तवम् ।

स्थावरं वास्तवं भोगं बुध्यन्ते^१ मुग्धबुद्धयः ॥१५॥

‘जो मूढ़बुद्धि हैं—जिन्हें वस्तुस्वरूपका ठीक परिज्ञान नहीं—वे गन्धर्वनगरके आकार समान विनाशीक और अवास्तविक भोगसमूहको स्थिर और वास्तविक समझते हैं ।’

व्याख्या—जिन पुण्योत्पन्न भोगोंका १३वें पद्यमें उल्लेख है वे आकाशमें रंग-विरंगे बादलोंसे स्वतः बने गन्धर्वनगरके समान विनश्वर और अवास्तविक हैं उन्हें मूढ़ बुद्धि स्थिर और वास्तविक समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है । यहाँ प्रत्यक्षमें नित्य दिखाई देनेवाले बादलोंके आकारकी क्षणभंगुरताकी ओर संकेत करके भोगोंकी अस्थिरता और निःसारताको उसके समकक्ष दर्शाया गया है और जो लोग भ्रमवश विषयभोगोंको ऐसा नहीं समझते उन्हें मोहसे दूषितमति सूचित किया है ।

१. सु हेमं । २. मु बुध्यते ।

यह संसार, आत्माका महान् रोग
चित्तभ्रमकरस्तीव्ररागद्वेषादिवेदनः ।
संसारोऽयं महाव्याधिर्नानाजन्मादिविक्रियः ॥१६॥
'अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः ।
यथानुभवसिद्धात्मा सर्वप्राणभृतामयम् ॥१७॥

‘यह संसार जो चित्तको भ्रम उत्पन्न करनेवाला, राग-द्वेषादिकी वेदनाको लिये हुए तथा जन्म-मरणादिकी विक्रियासे युक्त है वह आत्माका महान् रोग है, आत्माके साथ अनादि-सम्बन्धको प्राप्त है, अप्रधान है, बहुत कर्मोंसे बन्धका कर्ता है और सर्व प्राणियोंका यथा अनुभव सिद्ध (पर्यायरूप) आत्मा बना है ।’

व्याख्या—यहाँ संसारको, जो मुख्यतः भवभ्रमणके रूपमें है, आत्माका एक बहुत बड़ा रोग बतलाया है, जो अनादिकालसे उसके साथ लगा हुआ है, राग-द्वेष-काम-क्रोधादि रूप तीव्र वेदनाओंको लिये हुए है, चित्तको भ्रमरूप करनेवाला है, नानाप्रकार जन्म-मरणादि विक्रियाओंके रूपको लिये हुए है और सर्व प्राणियोंके लिए अतिशय बन्धका कारण है । ऐसा संसारका रूप दिखलाकर यहाँ फलतः उससे विरक्ति अथवा उसमें आसक्त न होनेकी प्रेरणा की गयी है ।

सर्व संसार-विकारोंका अभाव होनेपर मुक्त जीवकी स्थिति

सर्वजन्मविकाराणामभावे तस्य तत्त्वतः ।

न मुक्तो जायतेऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा ॥१८॥

‘आत्माके वस्तुतः सर्व संसार विकारोंका अभाव हो जानेपर जो मुक्त होता है वह फिर कभी अमुक्त—संसार पर्यायका धारक संसारी—नहीं होता, न साधारण प्राणी बनता है और न अज्ञानरूप परिणत ही होता है ।’

व्याख्या—जिस संसारी आत्माका पिछले दो पद्योंमें उल्लेख है उसके सम्पूर्ण भव-विकारोंका जब अभाव हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है, जो मुक्त हो जाता है वह फिर कभी संसारी साधारण प्राणी तथा अज्ञानी नहीं होता । दूसरे शब्दोंमें यों कहिए कि वह पुनः शरीर धारण कर संसारमें नहीं आता । इससे मुक्तात्माके अवतारवादका निषेध होता है, इसलिए जिनके विषयमें यह कहा जाता है कि उन्होंने अमुक कार्य-सिद्धिके लिए अथवा अपने भक्तका कष्टमोचन करनेके लिए पृथ्वीपर अवतार धारण किया है उनके विषयमें यह समझ लेना चाहिए कि उन्होंने अभी तक मुक्तिको प्राप्त नहीं किया—मुक्तिको प्राप्त हो जाने पर कारण भावसे पुनः संसारमें अवतार नहीं बनता ।

उदाहरण-द्वारा पूर्व कथनका समर्थन

यथेहामयमुक्तस्य नामयः स्वस्थता परम् ।

तथा पातकमुक्तस्य न भवः स्वस्थता परम् ॥१९॥

‘जिस प्रकार इस लोकमें जो रोगसे मुक्त हो गया उसके रोग नहीं रहता, परम स्वस्थता हो जाती है उसी प्रकार जो कर्मोंसे मुक्त हो गया उसके भद—संसार नहीं रहता, परम स्वस्थता हो जाती है ।’

१. आ आनादि; आद्वि अनादि ।

व्याख्या—यहाँ पिछली बातको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार रोगसे सर्वथा मुक्त रोगीके रोग नहीं रहता, परम नीरोगताकी प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार जो पापादि कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है उसके फिर पर-पर्याय-ग्रहणरूप संसार नहीं रहता अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही सदा स्थिरता बनी रहती है ।

किसके भोग संसारका कारण नहीं होते

शुद्धज्ञाने मनो नित्यं कार्येऽन्यत्र विचेष्टिते ।

यस्य तस्याग्रहाभावान् न भोगा भवहेतवः ॥२०॥

‘जिसका मन सदा शुद्धज्ञानमें रमा रहता है, अन्य किसी कार्यमें जिसकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती उसके भोग आसक्तिके अभावमें संसारका कारण नहीं होते ।’

व्याख्या—किसके भोग क्यों बन्धका कारण नहीं होते, इस बातको यहाँ दर्शाते हुए बतलाया गया है कि जिस योगीका मन सदा शुद्धज्ञानके आत्माके आराधनमें लीन रहता है अन्य किसी कार्यके करनेमें जिसकी कोई विशेष रुचि नहीं होती, उसके सामान्यतः आहार-ग्रहणादि रूप भोग अनासक्तिके कारण संसारके हेतुभूत बन्धके कारण नहीं होते—प्रत्युत इसके निर्जराके कारण बनते हैं ।

भोगोंको भोगता हुआ भी कौन परमपदको प्राप्त होता है

मायाम्भो मन्यतेऽसत्यं तत्त्वतो यो महामनाः ।

अनुद्विग्नो निराशङ्कस्तन्मध्ये स न गच्छति ॥२१॥

मायातोयोपमा भोगा दृश्यन्ते येन वस्तुतः ।

स भुञ्जानोऽपि निःसङ्गः प्रयाति परमं पदम् ॥२२॥

जो महात्मा मायाजलको—मृगमरीचिकाको—वस्तुतः असत्य समझता है वह उसके प्रति उद्विग्न आकुलित तथा शंकित नहीं होता और इसीलिए उसमें नहीं फँसता । जिसे भोग वास्तवमें मायाजलके समान दिखाई देते हैं वह महात्मा उन्हें भोगता हुआ भी (आसक्तिके अभावसे) निःसंग है और परमपदको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—शुद्ध ज्ञान-चर्यारत ज्ञानीके भोगबन्धके कारण नहीं, इस पिछली बातको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए यहाँ बतलाया गया है कि जिस प्रकार कोई महात्मा पुरुष जो मृगमरीचिकाको वास्तवमें मिथ्या समझता है वह कभी उसके विषयमें शंकित तथा उसकी प्राप्तिके लिए आकुलित नहीं होता और इसलिए उसमें प्रवेश नहीं करता । उसी प्रकार जो महात्मा योगी भोगोंको वस्तुतः मायाजलके रूपमें देखता है वह उनको भोगता हुआ भी निःसंग होता है—जलमें कमलकी तरह अलिप्त रहता है—और इसलिए बन्धको प्राप्त न होनेसे परमपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ।

भोगोंको तत्त्वदृष्टिसे देखनेवालेकी स्थिति

भोगांस्तत्त्वधिया पश्यन् नाभ्येति भवसागरम् ।

मायाम्भो जानतासत्यं गम्यते तेन नाध्वना ॥२३॥

‘भोगोंको तत्त्वदृष्टिसे देखता हुआ भवसागरको प्राप्त नहीं होता । (ठीक है) माया-जलको असत्य जलके रूपमें जानता हुआ उस मार्गसे नहीं जाता ।’

व्याख्या—जिस प्रकार मायाजल (मृगमरीचिका) को उसके असली रूपको जानने वाला और उसे सत्य जल न समझनेवाला उसकी प्राप्तिके लिए उधर दौड़-धूप नहीं करता, उसी प्रकार भोगोंको तात्त्विकदृष्टिसे देखने वाला उनमें आसक्त नहीं होता और इसलिए संसारसागरमें पड़कर गोते नहीं खाता—दुःख नहीं उठाता । विषय-भोगोंको तात्त्विकदृष्टिसे न देखना ही उनमें आसक्तिका कारण बनता है और वह आसक्ति आसक्तको भव-भवमें रूलाती तथा कष्ट पहुँचाती है ।

भोग-मायासे विमोहित जीवकी स्थिति

स तिष्ठति भयोद्विग्नो यथा तत्रैव शङ्कितः ।

तथा निर्वृतिमार्गोऽपि भोगमायाविमोहितः ॥२४॥

‘जिस प्रकार मायाजलमें शंकित प्राणी भयसे उद्विग्न हुआ तिष्ठता है उसी प्रकार भोग-मायासे विमोहित हुआ—भोगोंके ठीक स्वरूपको न समझ कर—जीव मुक्तिमार्गमें शंकित हुआ प्रवर्तता है ।

व्याख्या—जिस प्रकार मायाजलके सत्य स्वरूपको न समझनेवाला प्राणी शंकितचित्त हुआ उस ओर जलके फैलावकी आशंकासे जानेमें भयाकुल होता है उसी प्रकार जो जीव भोगोंकी मायासे विमोहित हुआ उनके सत्य स्वरूपको नहीं समझता वह निर्वृतिके मार्गमें—भोगोंसे विरक्तिके पन्थमें—निःशंक प्रवृत्ति नहीं करता । उसे उस मार्गपर चलनेमें भय बना रहता है ।

धर्मसे उत्पन्न भोग भी दुःख-परम्पराका दाता

धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःख-परंपराम् ।

चन्दनादपि संपन्नः पावकः प्लोषते न किम् ॥२५॥

‘धर्मसे भी उत्पन्न हुआ भोग दुःख-परम्पराको देता है । (ठीक है) चन्दनसे भी उत्पन्न हुई अग्नि क्या जलाती नहीं है ? जलाती ही है ।’

व्याख्या—धर्मकी साधना करते हुए शुभ परिणामोंके वश जो पुण्योपार्जन होता है उस पुण्यकर्मके उदयसे मिला हुआ भोग भी दुःख-परम्पराका कारण है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि अत्यन्त शीतल स्वभाव चन्दनसे उत्पन्न हुई अग्नि भी जलानेके कार्यसे नहीं चूकती । अतः पुण्यसे उत्पन्न हुए भोगोंको भी दाहक-स्वभाव अग्निके समान दुःखकर समझना चाहिए । एक कविने रागको आगकी उपमा देते हुए बड़े ही सुन्दर रूपमें लिखा है :—

यह राग आग बहे निरन्तर, यातें समामृत पीजिए ।

चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग इनको दीजिए ॥

विवेकी विद्वानोंकी दृष्टिमें लक्ष्मी और भोग

विपत्सखी यथा लक्ष्मीर्नानन्दाय विपश्चिताम् ।

न कल्मषसखो भोगस्तथा भवति शर्मणे ॥२६॥

‘जिस प्रकार विपदा जिसकी सखी-सहेली है वह लक्ष्मी विद्वानोंके लिए आनन्दप्रदायक नहीं होती उसी प्रकार कल्मष—कर्ममल—जिसका साथी है वह भोग विद्वानोंके लिए सुखकारी नहीं होता ।’

व्याख्या—जिस लक्ष्मी (धन-दौलत) के रागमें लोग दिन-रात फँसे रहते हैं उसे यहाँ विपदाकी सहेली बतलाया है। अनेक प्रकारकी आपदाएँ-मुसीबतें उसके साथ लगी रहती हैं— और इसलिए जो तत्त्वके जानकार वास्तविक विद्वान् हैं उनके लिए वह लक्ष्मी आनन्दकी कोई वस्तु नहीं होती—मजबूरीकी अपनी अशक्ति तथा कमजोरीके कारण अथवा दूसरे कुछ बड़े कष्टोंसे बचनेके लिए उसका सेवन किया जाता है। उसी प्रकार (आसक्तिपूर्वक) भोग भी जिसका साथी कल्मष है—कषायादिके बन्धरूप कर्ममल है—वह उक्त विद्वानोंके लिए सुखका कारण नहीं होता—आसक्तिके कारण मजबूरीसे तत्कालीन वेदनाकी शान्तिके लिए होता है—वे अपनी तात्त्विक एवं अमोह दृष्टिसे उसे हितकारी नहीं समझते।

भोग-संसारसे सच्चा वैराग्य कब उत्पन्न होता है

भोग-संसार-निर्वेदो जायते पारमार्थिकः ।

सम्यग्ज्ञान-प्रदीपेन तन्नैर्गुण्यावलोकने ॥२७॥

‘भोग और संसारसे वैराग्यका होना तभी पारमार्थिक बनता है जब सम्यग्ज्ञानरूप प्रदीपक-से उनमें निर्गुणताका अवलोकन किया जाता है।’

व्याख्या—भोगोंसे और संसारसे सच्चा वैराग्य कब होता है, इस बातको बतलाते हुए यहाँ यह स्पष्ट घोषणा की गयी है कि ‘जब सम्यग्ज्ञानरूप दीपकसे भोगों तथा संसारकी निर्गुणता—निःसारता स्पष्ट दिखलाई देती है तब उनसे पारमार्थिक वैराग्य उत्पन्न होता है— उक्त निर्गुणताके दर्शन बिना सच्चा वैराग्य नहीं बनता, बनावटी तथा नुमायशी बना रहता है। इसीसे कितने ही भावुकतादिमें आकर ब्रह्मचारी तो बनते हैं परन्तु उनसे ब्रह्मचर्यका पूरी तौरसे पालन नहीं हो पाता। जो नारीके कामाङ्गको स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें मलबीज, मलयोनि, गलन्मल, पूतिगन्धि और बीभत्स इन पाँच विशेषणोंसे युक्त देखता, अनुभव करता और रमणके योग्य नहीं समझता वह वस्तुतः कामसे—अब्रह्मरूप मैथुनसे—घृणाकर—विरक्त होकर सच्चा ब्रह्मचारी बनता है^१।

निर्वाणमें परमा भक्ति और उसके लिए कर्तव्य

निर्वाणे परमा भक्तिः पश्यतस्तद्गुणं परम् ।

चित्र-दुःखमहाबीजे नष्टे सति विपर्यये ॥२८॥

ज्ञानवन्तः सदा बाह्यप्रत्याख्यान-विशारदाः ।

ततस्तस्य परित्यागं कुर्वते^३ परमार्थतः ॥२९॥

‘सम्यग्ज्ञानके विपक्षी तथा नाना दुःखोंके बीजभूत मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेपर निर्वाणमें, उसके उत्कृष्ट गुण समूहको देखते हुए, परमा भक्ति होती है। अतः जो (आत्मासे भिन्न) बाह्य पदार्थोंके त्यागमें प्रवीण ज्ञानीजन हैं वे उस मिथ्याज्ञानका पारमार्थिक दृष्टिसे त्याग करते हैं— क्योंकि वह भी वस्तुतः आत्मासे भिन्न पदार्थ है।

व्याख्या—संसारके विपक्षीभूत निर्वाणमें उत्कृष्ट भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब अनेकानेक दुःखोंके बीजभूत मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेपर निर्वाणके गुणोंका सम्यक् अवलोकन

१. अर्थस्योपार्जने दुःखमजितस्य च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥ —इष्टोपदेश टीकामें उद्धृत । २. मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धिं बीभत्सतां पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः, —समीचीन धर्मशास्त्र १४३ । ३. व्या कुर्वन्ते ।

होता है। अतः निर्वाणके अभिलाषी ज्ञानीजनोंको जो बाह्य पदार्थोंके परित्यागमें निपुण हैं निश्चयपूर्वक मिथ्याज्ञानका त्याग करना चाहिए, जो कि वस्तुतः आत्मासे बाह्य पदार्थ है—मिथ्यात्वके सम्बन्धसे विभावरूपमें उत्पन्न होता है।

ज्ञानी पापोंसे कैसे लिप्त नहीं होता

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्भानुमानिव तामसैः ।

विषयैर्विध्यते ज्ञानी न संनद्धः शरैरिव ॥३०॥

‘ज्ञानी पापोंसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार सूर्य अन्धकारोंसे व्याप्त नहीं होता। ज्ञानी विषयोंसे उसी प्रकार नहीं बँधता है जिस प्रकार कवच (बख्तर) पहने हुए योद्धा बाणोंसे नहीं बिंधता है।’

व्याख्या—यहाँ उस ज्ञानीकी, जिसने भोग, संसार तथा निर्वाणका यथार्थ स्वरूप भले प्रकार समझ लिया है, स्थितिका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह पापोंसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि सूर्य अन्धकारसे, और विषयोंसे उसी प्रकार बीधा नहीं जाता जिस प्रकार कि कवचधारी योद्धा तीरोंसे बीधा नहीं जाता।

ज्ञानकी महिमाका कीर्तन

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम् ।

पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृति-साधनम् ॥३१॥

‘सम्यग्ज्ञान क्रिया कर्मके अनुष्ठानका आधार है, मोहान्धकारको नाश करनेवाला है, पुरुषके प्रयोजनको पूरा करनेवाला है और मोक्षका साधन है।’

व्याख्या—जिस ज्ञानीका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसके ज्ञानकी महिमाका इस पद्यमें कुछ कीर्तन करते हुए उसे चार विशेषणोंसे युक्त बतलाया है, जिनमें एक है अनुष्ठानोंका आश्रय, आधार, दूसरा मोहान्धकारका नाश, तीसरा पुरुषके प्रयोजनका पूरक और चौथा है मुक्तिका साधन। ये सब विशेषण अपने अर्थकी स्पष्टताको लिये हुए हैं।

कौन तत्त्व किसके द्वारा वस्तुतः चिन्तनके योग्य है

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते ।

तत् तत्त्वं तत्त्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर-निराशिभिः ॥३२॥

‘जिसके चिन्तन करनेपर विकार निर्विकारताको प्राप्त हो जाते हैं वह तत्त्व वस्तुतः उनके द्वारा चिन्तनके योग्य है जो अन्य चिन्ताओंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—स्थिर चित्त हैं।’

व्याख्या—यहाँ वास्तवमें उस तत्त्वको चिन्तन एवं ध्यानके योग्य बतलाया है जिसके चिन्तनसे विकार नहीं रहते—निर्विकारतामें परिणत हो जाते हैं अर्थात् राग-द्वेष-मोहादि दोष मिटकर वीतरागताकी प्रादुर्भूति होती है। इस तत्त्वचिन्तनके अधिकारी वे योगी हैं जो चिन्तान्तरका निराकरण करनेमें समर्थ होते हैं—जिस तत्त्वका चिन्तन करते हैं उसमें अपने मनको इतना एकाग्र कर लेते हैं कि दूसरी कोई भी चिन्ता पास फटकने नहीं पाती।

परम तत्त्व कौन और उससे भिन्न क्या

विविक्तमान्तरं ज्योतिर्निराबाधमनामयम् ।

यदेतत् तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः ॥३३॥

‘यह जो विविक्त—कर्म कलंकसे रहित—निर्भय और निरामय (निर्विकार) अन्तरंग (अध्यात्म) ज्योति है वह परम तत्त्व है, उससे भिन्न दूसरा और सब उपद्रव है ।’

व्याख्या—यहाँ जिस शुद्ध आत्मज्योतिका उल्लेख है उसीको चिन्तन एवं ध्यानके योग्य परंतत्त्व बतलाया है । शेष सबको उपद्रव घोषित किया है; क्योंकि अन्तिम लक्ष्य और ध्येय इसी परंतत्त्वको प्राप्त करना है, इसकी प्राप्तिके लिए और सबको छोड़ना पड़ेगा । इसीसे अन्य सबको पारमार्थिक दृष्टिसे ‘उपद्रव’ संज्ञा दी गयी जान पड़ती है ।

मुमुक्षुओंको किसी भी तत्त्वमें आग्रह नहीं करना

न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः ।

निर्वाणं साध्यते यस्मात् समस्ताग्रहवर्जितैः ॥३४॥

‘जो मोक्षके अभिलाषी हैं उन्हें (अन्य) किसी भी तत्त्वमें आग्रह नहीं करना चाहिए; क्योंकि जो समस्त आग्रहोंसे—एकान्त अभिनिवेशोंसे—वर्जित हैं उन्हींके द्वारा निर्वाण सिद्ध किया जाता है ।’

व्याख्या—यहाँ मुमुक्षुओंको तत्त्वविषयमें कहीं भी आग्रह करनेका निषेध किया है; क्योंकि आग्रह एकान्तका द्योतक है और वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है । निर्वाणकी प्राप्ति उन्हींको होती है जो सम्पूर्ण आग्रहोंसे रहित हो जाते हैं—लिंग जाति आदिका भी कोई आग्रह नहीं रहता । लिंग और जाति ये दोनों देहाश्रित हैं और देह ही आत्माका संसार है । अतः जो मुक्तिकी प्राप्तिके लिए अमुक लिंग (वेष) तथा अमुक ब्राह्मणादि जातिका आग्रह रखते हैं अथवा अमुक जातिवाला अमुक वेष धारण करके मुक्तिको प्राप्त होता है, ऐसा जिनके आगमानुबन्धी आग्रह है वे संसारसे नहीं छूट पाते और न आत्माके परमपदको ही प्राप्त होते हैं; जैसा कि श्री पूज्यपाद आचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।

न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।

न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।

तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

—समाधितन्त्र

आग्रहवर्जित तत्त्वमें कर्ता-कर्मादिका विकल्प नहीं

कर्ताहं निर्वृतिः कृत्यं ज्ञानं हेतुः सुखं फलम् ।

नैकोऽपि विद्यते तत्र विकल्पः कल्पनातिगे ॥३५॥

‘मैं कर्ता हूँ, निर्वाण कृत्य—कार्य है, ज्ञान हेतु है और सुख उसका फल है, इनमेंसे एक भी विकल्प उस कल्पनारहित एवं आग्रहवर्जित साधकमें नहीं होता है ।’

व्याख्या—यहाँ समस्त आग्रह-वर्जनकी बातको स्पष्ट करते हुए यहाँतक लिखा है कि मुक्तिके उस निर्विकल्प साधकमें कर्ता, कार्य, कारण और फलका भी कोई विकल्प नहीं रहता। इनमें-से एक भी विकल्पके रहनेपर मुक्तिकी साधना नहीं बनती। मुक्तिकी चरम साधनामें अपने अस्तित्वको भी भुलाकर उस परंतत्त्वरूप अध्यात्म-ज्योतिमें लीन हो जाना होता है जिससे बाह्य एवं भिन्न अन्य सबको पिछले एक पद्य (३३) में 'उपद्रव' बतलाया गया है।

आत्मस्थित कर्मवर्गणाएँ कभी आत्मत्वको प्राप्त नहीं होतीं।

आत्म-व्यवस्थिता यान्ति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः।

व्योमरूपत्वमायान्ति व्योमस्थाः किमु पुद्गलाः ॥३६॥

'आत्मामें व्यवस्थित कर्मवर्गणाएँ (कभी) आत्मत्वको प्राप्त नहीं होतीं—आत्मा नहीं बन जाती। (ठीक है) आकाशमें स्थित पुद्गल क्या कभी आकाशरूप हो जाते हैं—नहीं हो जाते।'

व्याख्या—जिन कर्मोंका आत्मासे पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है वे कर्म अनेक प्रकारकी वर्गणाओंके रूपमें आत्म-व्यवस्थित होते हुए भी कभी आत्मत्वको प्राप्त नहीं होते, इसकी सूचना करते हुए आकाशस्थित पुद्गलोंके उदाहरण-द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। आकाशमें स्थित पुद्गल जिस प्रकार कभी आकाश रूप नहीं परिणमते उसी प्रकार आत्माके साथ व्यवस्थित हुई कर्मवर्गणाएँ भी कभी आत्मरूप परिणत नहीं होतीं।

कर्मजन्य स्थावर विकार आत्माके नहीं बनते

स्थावराः कार्मणाः सन्ति विकारास्तेऽपि नात्मनः।

शश्वच्छुद्धस्वभावस्य सूर्यस्यैव घनादिजाः ॥३७॥

'कर्मजन्य जो स्थावर विकार हैं वे भी आत्माके उसी प्रकार नहीं हैं जिस प्रकार मेघादि-जन्य विकार सदा शुद्ध स्वभावरूप सूर्यके नहीं हैं।'

व्याख्या—यदि कोई कहे कि आत्मामें जो स्थावर विकार हैं—पृथ्वी-पर्वत-वृक्षादिके समान स्थिर रहनेवाले विकार हैं—उन्हें तो आत्माके स्वतः विकार समझना चाहिए। तो उसके समाधानार्थ यहाँ यह बतलाया गया है कि स्थावर विकार भी आत्माके नहीं हैं किन्तु कर्मजनित हैं और उन्हें शुद्ध स्वभावके धारक सूर्यके मेघादिजन्य विकारके समान समझना चाहिए।

जीवके रागादिक परिणामोंकी स्थिति

रागादयः परीणामाः कल्मषोपाधिसंभवाः।

जीवस्य स्फटिकस्यैव पुष्पोपाधिभवा मताः ॥३८॥

'जीवके जो रागादिक परिणाम होते हैं वे कषायरूप कर्ममलकी उपाधिसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि स्फटिकके पुष्पोंकी उपाधिसे उत्पन्न नाना रंगादिरूप परिणाम होते हैं—इसीसे स्फटिकको 'विश्वरूप माणिक' कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ रागादि रूप दूसरे विकारोंको लिया गया है और उनके विषयमें बतलाया गया है कि वे भी जीवके वास्तविक परिणाम नहीं हैं। किन्तु कषायरूप कल्मषकी उपाधिसे उत्पन्न स्फटिकके परिणामोंके समान समझना चाहिए, जो स्फटिकके वास्तविक परिणाम नहीं होते।

जीवके कषायादिक परिणामोंकी स्थिति

परिणामाः कषायाद्या निमित्तीकृत्य चेतनाम् ।

मृत्पिण्डेनेव कुम्भाद्यो जन्यन्ते कर्मणाखिलाः ॥३६॥

‘जीवके कषायादिक जितने परिणाम हैं वे सब चेतनाको निमित्तभूत करके कर्मके द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुम्भकारका निमित्त पाकर मिट्टीके पिण्डद्वारा घटादिक उत्पन्न किये जाते हैं।’

व्याख्या—यहाँ कषायादि परिणामोंकी उत्पत्तिमें मूल कारण कर्मको और निमित्त कारण जीवकी चेतनाको बतलाया है, उसी प्रकार जिस प्रकार घटादिकी उत्पत्तिमें मूल (उपादान) कारण मिट्टीका पिण्ड और निमित्त कारण कुम्भकार (कुम्हार) होता है।

कषाय परिणामोंका स्वरूप

आत्मनो ये परीणामाः मलतः सन्ति कश्मलाः ।

सलिलस्येव कल्लोलास्ते कषाया निवेदिताः ॥४०॥

‘आत्माके जो परिणाम मलके निमित्तसे मलिन होते हैं वे जलकी कल्लोलोंकी तरह ‘कषाय’ कहे गये हैं।’

व्याख्या—जिन कषायोंका पिछले पद्यमें उल्लेख है उनका इस पद्यमें स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया गया है कि आत्माके जो परिणाम (रागादि) मलके निमित्तसे मलिन—कसैले होते हैं उन्हें ‘कषाय’ कहते हैं। उनकी स्थिति जलमें कल्लोलोंके समान होती है।

कालुष्य और कर्ममें-से एकके नाश होनेपर दोनोंका नाश

कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः ।

एकनाशे द्वयोर्नाशः स्याद् बीजाङ्कुरयोरिव ॥४१॥

‘कर्मसे (आत्मामें) कलुषताकी उत्पत्ति और कलुषताके अभावसे कर्मका अभाव होता है। बीज और अंकुरकी तरह एकका नाश होनेपर दोनोंका नाश बनता है।’

व्याख्या—जिस मलका पिछले पद्यमें उल्लेख है उसे यहाँ ‘कर्म’ बतलाया है, उसीसे कलुषताकी उत्पत्ति होती है और कलुषताका अभाव होनेपर कर्म नहीं रहता, इससे यह नतीजा निकला कि कर्म और कलुषता इन दोनोंमें-से किसीका भी नाश होनेपर दोनोंका नाश हो जाता है; जैसे बीजका नाश होनेपर अंकुरोत्पत्ति नहीं बनती और अंकुरका नाश हो जानेपर उससे बीजोत्पत्ति घटित नहीं होती।

कलुषताका अभाव होनेपर परिणामी स्थिति

यदास्ति कलुषा(लमषा)भावो जीवस्य परिणामिनः ।

परिणामास्तदा शुद्धाः स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः ॥४२॥

‘जिस समय परिणामी जीवके कलुषताका अभाव होता है उस समय उसके परिणाम स्वर्णकी तरह उत्तरोत्तर शुद्ध होते चले जाते हैं ।’

व्याख्या—यहाँ संसारी जीवको परिणामी—एक परिणामसे दूसरे परिणामरूप परिणामन करनेवाला—लिखा है । उस जीवके जब कलुषताका अभाव हो जाता है तो उसके परिणाम मल रहित सुवर्णके समान उत्तरोत्तर शुद्धतामें परिणत होते जाते हैं ।

कलुषताका अभाव हो जानेपर जीवकी स्थिति

कल्मषाभावतो जीवो निर्विकारो विनिश्चलः ।

निर्वात-निस्तरङ्गाब्धि-समानत्वं प्रपद्यते ॥४३॥

‘कल्मषके अभावसे यह जीव वायु तथा तरंगसे रहित समुद्रके समान निर्विकार और निश्चल हो जाता है ।’

व्याख्या—कपायादिरूप कल्मष (कालुष्य) का अभाव हो जानेपर इस जीवकी स्थिति उस समुद्रके समान निर्विकार और निश्चल हो जाती है जिसमें वायुका संचार नहीं और न कोई कल्लोल-तरंग या लहर ही उठती है । आत्माकी ऐसी अवस्थाको ही ‘निर्विकल्पदशा’ कहते हैं, जिसमें ध्यान, ध्याता, ध्येय आदि तकका कोई विकल्प नहीं रहता ।

आत्माके शुद्ध स्वरूपकी कुछ सूचना

अक्ष-ज्ञानार्थतो भिन्नं यदन्तरवभासते ।

तद्रूपमात्मनो ज्ञातृज्ञातव्यमविपर्ययम् ॥४४॥

‘इन्द्रियज्ञानके विषयसे भिन्न जो अन्तरंगमें अवभासित होता है वह ज्ञाताके गम्य आत्माका अभ्रान्त रूप है ।’

व्याख्या—यहाँ आत्माके उस शुद्धरूपकी जो कभी विपरीतताको प्राप्त नहीं होता कुछ सूचना करते हुए लिखा है वह इन्द्रियज्ञानके विषयसे भिन्न है—किसी भी इन्द्रियके द्वारा जाना नहीं जाता—आत्माके अन्तरंगमें अवभासमान है और ज्ञाता आत्माके द्वारा ही जाना जाता है । इसीसे स्वसंवेद्य कहा जाता है ।

आत्माकी परंज्योतिका स्वरूप

यत्रासत्यखिलं ध्वान्तमुद्द्योतः सति चाखिलः ।

अस्त्यपि ध्वान्तमुद्द्योतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः ॥४५॥

‘जिसके विद्यमान न होनेपर सब अन्धकार है, और विद्यमान होनेपर सब उद्योतरूप है अन्धकार भी उद्योतरूप परिणत होता है वह आत्माकी परम ज्योति है ।’

व्याख्या—जिस आन्तर्ज्योति तत्त्वका पिछले एक पद्य (३३) में उल्लेख है उसके विषयमें यहाँ लिखा है कि यह आत्माकी वह परंज्योति है जिसके अभावमें सब कुछ अन्धकारमय

१. जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वचभेद न जहाँ, चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तर्हा । तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोगकी निश्चल दशा, प्रकटी जहाँ दृग्-ज्ञान-व्रत ये तीनधा एकै लसा ॥—छहडाला, दौलतराम । २. ष्मा तद् द्योतिः ।

है और जिसके सद्भावमें सब कुछ उद्योतरूप हैं तथा अन्धकार भी उद्योतके रूपमें परिणत हो जाता है। इसी परं ज्योतिका जयघोष करते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्यने लिखा है कि इस परं ज्योतिमें सारी पदार्थमालिका—जीवादि पदार्थोंकी पूर्ण सृष्टि—अपनी समस्त त्रिकालवर्ती—अनन्त पर्यायोंके साथ युगपत् (एक साथ) दर्पण तलके समान प्रतिबिम्बित होती है—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र ॥१॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

स्वस्वभावमें स्थित पदार्थोंको कोई अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिताः ।

न शक्यन्तेऽन्यथाकर्तुं ते परेण कदाचन ॥४६॥

‘सब द्रव्य स्वभावसे अपने-अपने स्वरूपमें स्थित हैं वे परके द्वारा कभी अन्यथारूप नहीं किये जा सकते ।’

व्याख्या—यहाँ एक बहुत बड़े अटल सिद्धान्तकी घोषणा की गयी है और वह यह कि ‘सब द्रव्य सदा स्वभावसे—द्रव्यदृष्टिसे—अपने-अपने स्वरूपमें व्यवस्थित रहते हैं, उन्हें कभी कोई दूसरा द्रव्य अन्यथा करनेमें—स्वभावसे च्युत अथवा पररूप परिणत करनेमें—समर्थ नहीं होता ।’

मिलनेवाले परद्रव्योंसे आत्माको अन्यथा नहीं किया जा सकता

नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्भिरिव निर्मलः ।

आत्माकाशमिवामूर्तः परद्रव्यैरनश्वरः ॥४७॥

जिस प्रकार आकाश, जो कि स्वभावसे निर्मल, अमूर्त तथा अनश्वर है, मिलनेवाले पर-द्रव्योंके द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार निर्मल आत्मा, जो कि आकाशके समान अमूर्तिक और अविनश्वर है परद्रव्योंके मिलापसे अन्यथा—स्वभावच्युत रूप—नहीं किया जा सकता—जड़ (अचेतन) आदि पदार्थोंके सम्बन्धसे जड़ आदि रूप परिणत नहीं होता ।’

व्याख्या—यहाँ पिछली बातको एक उदाहरणके द्वारा स्पष्ट किया गया है और वह उदाहरण है निर्मल एवं अमूर्तिक आकाशका । आकाशमें सर्वत्र परद्रव्य भरे हुए हैं; सबका आकाशके साथ सम्बन्ध है; परन्तु वे सब मिलकर भी आकाशको उसके स्वभावसे च्युत करने, उसकी निर्मलता तथा अमूर्तिकताको नष्ट करने, उसे अनश्वरसे नश्वर बनाने अथवा अपने रूप परिणत करनेमें कभी समर्थ नहीं होते । उसी प्रकार निर्मल अमूर्तिक आत्मा भी परद्रव्योंसे घिरा हुआ है, जड़ कर्मोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त है, परन्तु कोई भी परद्रव्य अथवा सारे परद्रव्य मिलकर भी उसको वस्तुतः अपने स्वभावसे च्युत करने—चेतनसे अचेतन—जड़, अमूर्तिकसे मूर्तिक, निर्मलसे समल, अनश्वरसे नश्वर बनाने-में कभी समर्थ नहीं होते ।

भिन्न ज्ञानोपलब्धिसे देह और आत्माका भेद

देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलम्भतः ।

इन्द्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा ॥४८॥

‘भिन्न-भिन्न ज्ञानोंसे उपलब्ध (ज्ञात) होनेके कारण शरीर और आत्माका सदा परस्पर भेद है । शरीर इन्द्रियोंसे—इन्द्रिय ज्ञानसे—जाना जाता है और आत्मा निश्चय ही स्वसंवेदन ज्ञानसे जाननेमें आता है ।’

व्याख्या—संसारी जीवका देहके साथ अनादि-सम्बन्ध है—स्थूल देहका सम्बन्ध कभी छूटता भी है तो भी सूक्ष्म देह जो तेजस और कार्माण नामके शरीर हैं उनका सम्बन्ध कभी नहीं छूटता, इसीसे उन्हें ‘अनादिसम्बन्धे च’ इस सूत्रके द्वारा अनादिसे सम्बन्धको प्राप्त कहा है । इस अनादि-सम्बन्धके कारण बहुधा देह और आत्माको एक समझा जाता है । परन्तु देह और आत्मा कभी एक नहीं होते, सदा भिन्नरूप बने रहते हैं और इसका कारण यह है कि वे भिन्न ज्ञानोंके द्वारा उपलब्ध होते—जाने जाते हैं । इन्द्रिय ज्ञानसे देह जाना जाता है और आत्मा वस्तुतः स्वसंवेदन-ज्ञानके द्वारा ही साक्षात् जाननेमें आता है—इन्द्रियाँ उसे जाननेमें असमर्थ हैं ।

कर्म जीवके और जीव कर्मके गुणोंको नहीं घातता

न कर्म हन्ति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान् ।

वध्य-घातकभावोऽस्ति नान्योऽन्यं जीवकर्मणोः ॥४९॥

‘कर्म जीवके गुणोंको और जीव कर्मके गुणोंको घात नहीं करता । जीव और कर्म दोनोंका परस्पर एक-दूसरेके साथ वध्य-घातक भाव नहीं है ।’

व्याख्या—जीव और कर्मका जो परस्पर सम्बन्ध है वह अन्धकार और प्रकाशकी तरह वध्य-घातकके रूपमें नहीं है, इसीसे कर्म जीवके और जीव कर्मके गुणोंको नहीं घातता—एक-दूसरेके स्वभावको नष्ट करनेमें कभी समर्थ नहीं होता । हाँ, एक-दूसरेके विभाव-परिणमनमें निमित्त कारण जरूर हो सकता है । क्योंकि जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभावि-की—विभावरूप परिणमनकी—शक्ति पायी जाती है ।

जीव और कर्ममें पारस्परिक परिणामकी निमित्तता न रहनेपर मोक्ष

यदा प्रति परीणामं विद्यते न निमित्तता ।

परस्परस्य विश्लेषस्तयोर्मोक्षस्तदा मतः ॥५०॥

‘जब जीव और कर्मके परस्परमें एक-दूसरेके परिणामके प्रति निमित्तताका अस्तित्व नहीं रहता, तब दोनोंका जो विश्लेष—सर्वथा पृथक्पना—होता है वह ‘मोक्ष’ माना गया है ।’

व्याख्या—जीव और पुद्गल कर्मका विभाव-परिणमन एक-दूसरेके निमित्तसे होता है, जिस समय यह निमित्तता नहीं रहती—मिथ्यादर्शनादि बन्ध-हेतुओंका अभाव होनेसे सदाके लिए समाप्त हो जाती है—उसी समय जीव और कर्मोंका विश्लेष—सर्वथा पृथक्त्व—हो जाता है, जिसे ‘मोक्ष’ (निर्वाण) कहा गया है और जो बन्धका विपरीत रूप है ।

युक्त भावके साथ आत्माकी स्फटिक सम तन्मयता

येन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।

तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥५१॥

‘यह यन्त्रवाहक जीवात्मा जिस-जिस भावके साथ युक्त होता है उस-उस भावके साथ वहाँ तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि विश्वरूपधारी स्फटिक मणि ।’

व्याख्या—‘यन्त्रवाहक’ शब्द देहधारी जीवात्माके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है जो कि देहका संचालन करता है और जिसके चले जानेपर देह अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता । चूँकि देह एक यन्त्रके—कल अथवा मशीनके—समान है । यह जीवकी एक खास संज्ञा है जिसकी कोशोंमें आमतौरपर उपलब्धि नहीं होती । और ‘विश्वरूप’ संज्ञा यहाँ स्फटिकमणि को दी गयी है, क्योंकि वह विश्वके सभी पदार्थोंके रंगरूपमें परिणत होनेकी योग्यता रखता है । इस स्फटिकके उदाहरण-द्वारा जीवात्माकी पर पदार्थके साथ तन्मयताकी—तद्रूप परिणमनकी—बातको स्पष्ट किया गया है । जिस प्रकार स्फटिकमणि जिस-जिस रंग रूपकी उपाधिके साथ सम्बन्ध करता है उस-उस रंग रूपकी उपाधिके साथ तन्मयता (तद्रूपता) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी आत्माको जिस भावके साथ जिस रूपमें ध्याता है उसके साथ वह उसी रूप तन्मयताको प्राप्त होता है । इससे विवक्षित तन्मयता स्पष्ट होती है, जो कि तादात्म्य-सम्बन्धके रूपमें नहीं है ।

आत्माको आत्मभावके अभ्यासमें लगाना आवश्यक

तेनात्मभावनाभ्यासे स नियोज्यो विपश्चिता ।

येनात्ममयतां^३ याति निर्वृत्यापरभावतः ॥५२॥

‘चूँकि आत्मा परभावसे निर्वृत होकर ही आत्मरूपताको प्राप्त होता है इसलिए विद्वान्के द्वारा आत्मा (सदा) आत्मभावनाके अभ्यासमें लगानेके योग्य है ।’

व्याख्या—आत्माके उक्त तन्मयतारूप परिणाम-स्वभावकी दृष्टिसे यहाँ विद्वान्का कर्तव्य परभावकी भावनाको छोड़कर अपनेको आत्मभावनाके अभ्यासमें लगानेका बतलाया गया है, जिससे आत्मामें तन्मयताकी उपलब्धि—वृद्धि हो सके । आत्मभावनाके अभ्यासको जितना अधिक बढ़ाया जायेगा, परभावोंसे उतना ही छुटकारा होता जायेगा । और परभावों (पदार्थों) में जितना अधिक मनको लगाया जायेगा उतना ही आत्मभावनाका अभ्यास दूर होकर आत्मामें तन्मयताको प्राप्त करना दुर्लभ हो जायेगा । अतः पर-पदार्थोंसे सम्बन्ध कम करके आत्मभावनाके अभ्यासको बढ़ाना ही श्रेयस्कर (कल्याणकारी) है ।

कर्ममलसे पूर्णतः पृथक् हुआ आत्मा फिर उस मलसे लिस नहीं होता

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः ।

पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः किङ्क्रेण^४ युज्यते ॥५३॥

१. जेण सरुविं झाइयइ अप्पा ए हु अणंतु । तेण सरुविं परिणवइ जह फलिहउ-मणिमंतु ॥—परमात्म प्रकाश २-१७३ । येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् । तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥—तत्त्वानु० १९१ । येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः । तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा । ज्ञानार्णव, योगशास्त्र । २. मु येनात्मभावनाभ्यासे । ३. मु तेनात्ममयतां । ४. मु कीट्टेन ।

‘जो आत्मा कर्ममलसे (पूर्णतः) पृथक् किया गया है वह फिर कर्ममलसे लिप्त नहीं होता । (ठीक है) किट्टसे पृथक् किया गया स्वर्ण फिर किस हेतु किट्टसे युक्त होता है ? हेत्व-भावके कारण युक्त नहीं होता ।’

व्याख्या—जो आत्मा आत्मभावनाके अभ्यास-द्वारा परभावको छोड़ता हुआ अपनेमें तन्मय (लीन) होता है और इस तरह कर्ममलसे छुटकारा पाता है वह फिर कभी उस कर्म-मलके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि किट्ट-कालिमासे पृथक् हुआ सुवर्ण फिर उस किट्ट-कालिमाके साथ युक्त नहीं होता ।

घटोपादान-मृत्तिकाके समान कर्मका उपादान कलुषता

दण्ड-चक्र-कुलालादि-सामग्री सम्भवेऽपि नो ।

संपद्यते यथा कुम्भो विनोपादानकारणम् ॥५४॥

मनो-वचो-त्रपुःकर्म-सामग्रीसंभवेऽपि नो ।

संपद्यते तथा कर्म विनोपादानकारणम् ॥५५॥

कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं सदोपादानकारणम् ।

मृद्द्रव्यमिव कुम्भस्य जायमानस्य योगिभिः ॥५६॥

‘जिस प्रकार दण्ड, चक्र और कुम्भकार आदि सामग्रीके मौजूद होते हुए भी बिना उपादान कारण (मृत्पिण्ड) के कुम्भ (घट) की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार मन-वचन-कायके क्रियारूप सामग्रीके होते हुए भी बिना उपादान कारणके कर्मकी उत्पत्ति नहीं होती । कर्मका उपादान कारण कलुषता है उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले घटका उपादान कारण मृत्तिका द्रव्य है, यह योगियोंको सदा जानना चाहिए ।’

व्याख्या—मिट्टीके घड़ेकी उत्पत्तिमें मिट्टी उपादान कारण है उसके अभावमें अन्य सब सामग्री (दण्ड-चक्र-कुलालादि) का सद्भाव होते हुए भी जिस प्रकार मिट्टीका घड़ा नहीं बनता, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मकी उत्पत्तिका उपादान कारण कालुष्य—कषायभाव है, उसके अभावमें मन-वचन-कायकी क्रियारूप अन्य सब सामग्रीका सद्भाव होते हुए भी आत्माको कर्मबन्धकी प्राप्ति नहीं होती, यह बात सदा ध्यानमें रखने योग्य है । अतः जो मुमुक्षु योगी अपनेको कर्मबन्धनसे छुड़ाकर मोक्षकी प्राप्ति कराना चाहते हैं उन्हें सदा कर्मके उपादानकारण कषाय भावको दूर रखनेका यत्न करना चाहिए, उसके दूर किये बिना अन्य सब क्रियाकाण्डसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी । अन्य सब सामग्री तभी सहायकरूपमें अपना काम कर सकेगी जब कलुषताका अभाव होगा । यदि कलुषता दूर नहीं की जाती तो समझना चाहिए कि कर्मका बन्ध बराबर हो रहा है और ऐसी स्थितिमें मुक्तिकी आशा रखना व्यर्थ है ।

कषायादि करता हुआ जीव कैसे कषायादि रूप नहीं होता

यथा कुम्भमयो जातु कुम्भकारो न जायते ।

सहकारितया कुम्भं कुर्वाणोऽपि कथंचन ॥५७॥

कषायादिमयो जीवो जायते न कदाचन ।

कुर्वाणोऽपि कषायादीन् सहकारितया तथा ॥५८॥

‘सहकारिताके साथ कुम्भको करता हुआ भी कुम्भकार जिस प्रकार कभी कुम्भरूप नहीं होता, उसी प्रकार सहकारिताके साथ कषायादिको करता हुआ भी यह जीव कभी कषायादिरूप नहीं होता ।’

व्याख्या—यहाँ यदि कोई यह आशंका करे कि कषायों आदिको करता हुआ जीव तो कषायादिमय हो जाता है—कषायादि उसका स्वभाव बन जाता है—तब कषायोंका छूटना कैसे बन सकता है ? तो उसके समाधानमें ही इन दोनों पद्योंका अवतार हुआ जान पड़ता है । इनमें स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार सहकारीरूपसे कुम्भको बनाता हुआ कुम्भकार किसी तरह कुम्भरूप नहीं हो जाता उसी प्रकार यह जीव भी सहाकारीरूपसे कषायोंको करता हुआ कभी भी कषायादिके साथ तादात्म्य-सम्बन्धको प्राप्त कषायादिरूप नहीं हो जाता । कषायादि जितने परिणाम हैं वे सब जीवकी चेतनाको निमित्तभूत करके कर्मके द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, यह बात पिछले ३९वें पद्यमें बतलायी जा चुकी है । इसलिए कषायकी उत्पत्तिमें जीव निमित्त कारण है—उपादान कारण नहीं, उपादान कारण द्रव्यकर्मरूप पुद्गल है और इसीलिए कषायोंको ‘पौद्गलिक’ कहा गया है । कुम्भकार यदि कुम्भके निर्माणमें अपना सहयोग न दे तो कुम्भका निर्माण नहीं होता, मिट्टी उसे सहयोगके लिए बाध्य नहीं करती । इस तरह कषायका उदय आनेपर यदि जीव उसके साथ सहयोग न करे—राग-द्वेषादिरूप परिणत न हो—तो नये कषाय कर्मका उत्पाद नहीं होता और कर्मका उदय जीवको कषाय-कर्म करनेके लिए बाध्य नहीं करता, वह उसको करने न करनेमें स्वतन्त्र है, तभी वह कषायोंके बन्धनोंको दूर करनेमें समर्थ हो सकता है और इसीसे उसे कषायरूप परिणत न होनेका उपदेश दिया जाता है । कषायोंका जीवके साथ तादात्म्य हो जानेपर तो फिर कभी भी उनसे छुटकारा नहीं हो सकता और न मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है । और इसलिए जीवका कषायोंकी उत्पत्तिमें कुम्भकारकी तरह सहकारी निमित्तरूप-जैसा सम्बन्ध है उपादान कारणके रूपमें नहीं, यह भले प्रकार समझ लेना चाहिए ।

सर्व कर्मोंका कर्ता होते हुए कौन निराकर्ता होता है

यः कर्म मन्यते कर्माकर्म वाकर्म सर्वथा ।

स सर्वकर्मणां कर्ता निराकर्ता च जायते ॥५६॥

‘जो कर्मको सर्वथा कर्म और अकर्मको सर्वथा अकर्मके रूपमें मानता है—कर्मको अकर्म और अकर्मको कर्म समझनेकी कभी भूल नहीं करता—वह सर्वकर्मोंका कर्ता होते हुए भी (एक दिन) उनका निराकर्ता—उन्हें त्याग करनेवाला—हो जाता है ।’

व्याख्या—जो कर्म-अकर्मका ठीक स्वरूप समझता है और उस स्वरूपके विपरीत कभी उन्हें अपनी श्रद्धाका विषय नहीं बनाता वह कर्मके करने तथा अकर्मको छोड़नेमें राग-द्वेष-रूपसे प्रवृत्त नहीं होता—सदा उनमें अनासक्त बना रहता है । और इसलिए सब कर्मोंका कर्ता होते हुए भी वह एक दिन उन्हें छोड़नेमें समर्थ होता है अथवा अनासक्तिके कारण कर्मके बन्धको प्राप्त नहीं होता ।

विषयस्थ होते हुए भी कौन लिप्त नहीं होता

विषयैर्विषयस्थोऽपि निरासङ्गो न लिप्यते ।

कर्दमस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैरिव ॥६०॥

‘जो निःसंग है—निर्ममत्व और अनासक्त है—वह विषयोंमें स्थित हुआ भी विषयोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कीचड़में पड़ा विशुद्ध स्फटिक कीचड़से लिप्त नहीं होता—कीचड़को अपना नहीं बनाता, अपने अन्तरंगमें प्रविष्ट नहीं करता ।’

व्याख्या—यहाँ कर्दमस्थ निर्मल स्फटिकके उदाहरण-द्वारा विषयोंमें स्थित अनासक्त योगीके विषयोंसे लिप्त न होनेकी बातको स्पष्ट किया गया है ।

देह-चेतनके तात्त्विक भेद-ज्ञाताकी स्थिति

देहचेतनयोर्भेदो दृश्यते येन तत्त्वतः ।

न सङ्गो जायते तस्य विषयेषु कदाचन ॥६१॥

‘जिसने वस्तुतः देह और चेतन आत्माका भेद देख लिया है उसका विषयोंमें कभी संग-सम्बन्ध अथवा अनुराग नहीं होता ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस निःसंग-योगीका उल्लेख है उसके विषयको यहाँ कुछ स्पष्ट करते हुए यह सूचित किया है कि वह योगी देह और आत्माके भेदको तात्त्विक दृष्टिसे भले प्रकार समझे हुए होता है और इसलिए उसकी विषयोंमें कभी आसक्तिरूप प्रवृत्ति नहीं होती—वह उनसे अलिप्त रहता है । जिसकी प्रवृत्ति पायी जाती है समझ लेना चाहिए उसने देह और चेतनके भेदको दृष्टिगत नहीं किया ।

जीवके त्रिविध-भावोंकी स्थिति और कर्तव्य

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्त्रेधा जीवस्य जायते ।

यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरस्ति^१ कारणम् ॥६२॥

ततः शुभाशुभौ हित्वा शुद्धं भावमधिष्ठितः ।

निर्वृतो जायते योगी कर्मागमनिवर्तकः ॥६३॥

‘जीवका भाव तीन प्रकारका होता है—शुभ, अशुभ और शुद्ध । चूँकि शुभभाव पुण्यका, अशुभभाव पापका और शुद्धभाव निवृत्ति (मुक्ति) का कारण है अतः जो योगी कर्मोंके आस्रवका निरोधक है वह शुभ अशुभ भावोंको छोड़कर शुद्धभावमें अधिष्ठित हुआ मुक्तिको प्राप्त होता है ।’

व्याख्या—यहाँ जीवके भावोंके शुभ, अशुभ और शुद्ध ऐसे तीन भेद करते हुए उन्हें क्रमशः पुण्य, पाप तथा निवृत्ति (मुक्ति) का हेतु बतलाया है और साथ ही यह सूचित किया है कि जो योगी शुभ-अशुभ भावोंको छोड़कर, जो कि कर्मास्रवके हेतु हैं, शुद्धभावमें स्थित होता है वह कर्मोंके आस्रवका निवर्तक निरोधक होता है और मुक्तिको प्राप्त करता है ।

निरस्ताखिल कल्मष योगीका कर्तव्य

विनिवृत्या(वर्त्या)र्थतश्चित्तं विधायात्मनि निश्चलम् ।

न किञ्चिच्चिन्तयेद्योगी निरस्ताखिलकल्मषः ॥६४॥

‘जिस योगीने सारे कल्मषका—कषायभावका—नाश किया है वह चित्तको सब पदार्थोंसे हटाकर और आत्मामें निश्चल करके कुछ भी चिन्तन न करे—आत्माका शुद्ध स्वरूप ही उसके ध्यानमें स्थिर रहे ।’

१. व्या कदाचनः । २. मु निर्वरेव ।

व्याख्या—यहाँ उस योगीके कर्तव्यका निर्देश है जिसने क्रोधादि सारे कषाय-भावको नष्ट किया है, उसे तब अपने चित्तको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर तथा आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थिर करके चिन्तनका कुछ भी कार्य न करना चाहिए—आत्मामें केवल लीनता ही बनी रहे।

इन्द्रिय-विषयोंके स्मरणकर्ताकी स्थिति

स्वार्थ-व्यावर्तितोऽपि विषयेषु दृढ-स्मृतिः ।

सदास्ति दुःस्थितो दीनो लोक-द्वय-विलोपकः ॥६५॥

‘जो इन्द्रिय-विषयोंमें दृढस्मृति है—विषयोंको बराबर स्मरण करता रहता है—वह इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखता हुआ भी सदा दुःखित दीन और दोनों लोकोंका बिगाड़ने-वाला होता है।’

व्याख्या—यहाँ इन्द्रिय-विषयोंके स्मरण-दोषको बहुत ही हानिकारक बतलाया है और उसकी मौजूदगीमें इन्द्रियोंको उनके विषयसे अलग रखनेका कुछ मूल्य नहीं रहता, ऐसा सूचित किया है। उक्त स्मरण दोषके कारण इन्द्रियोंकी विजय ठीक नहीं बनती, उसमें अतिचारादि दोष लगता रहता है और संक्लेश परिणामोंकी सृष्टि होनेसे योगी सदा दुःखित रहता, दीनतापर उतरता और इस तरह अपने दोनों लोक बिगाड़ता है। अतः योगीको अपने पूर्व भोगोंका स्मरण तथा आगामी भोगोंका निदानादिके रूपमें अनुचिन्तन नहीं करना चाहिए।

भोगको न भोगने-भोगनेवाले किन्हीं दो की स्थिति

भोगं कश्चिद्भुञ्जानो भोगार्थं कुरुते क्रियाम् ।

भोगमन्यस्तु भुञ्जानो भोगच्छेदाय शुद्धधीः ॥६६॥

‘कोई भोगको न भोगता हुआ भी भोगके लिए क्रिया करता है, दूसरा शुद्ध बुद्धि भोगको भोगता हुआ भी भोगके छेदका प्रयत्न करता है।’

व्याख्या—यहाँ भोगको भोगनेवाले और न भोगनेवाले किन्हीं दो व्यक्तियोंके विपरीत-विचार-भेदको दर्शाया गया है—एक किसी बन्धन अथवा मजबूरीके कारण भोगको न भोगता हुआ भी उसके लिए रागादिरूप मन-वचन-कायकी क्रिया करता है और दूसरा भोगको भोगता हुआ भी उसमें आसक्ति नहीं रखता और इसलिए उसके मन-वचन-कायका व्यापार एक दिन उसे छोड़ देनेकी ही ओर होता है। अपने इस विचार व्यापारके कारण दूसरेको ‘शुद्ध-बुद्धि’ कहा गया है और इसलिए पहलेको, जो बाह्यमें भोगका त्याग करता है तथा अन्तरंगमें उसकी लालसा रखता है, शुद्ध बुद्धि नहीं कहा जा सकता, उसे दुर्बुद्धि तथा विवेकहीन समझना चाहिए। अपनी इस दुर्बुद्धिके कारण वह भोगका त्यागी होने-पर भी पापका बन्ध करता है, जबकि दूसरा अपनी शुद्ध बुद्धिके कारण भोगको भोगता हुआ भी पापफलका भागी नहीं होता। दोनोंकी प्रवृत्तिमें तद्विपरीत विचारके कारण कितना अन्तर है उसे यहाँ स्पष्ट जाना जाता है।

इन्द्रिय-विषयोंके स्मरण-निरोधककी स्थिति

स्वार्थ-व्यावर्तितोऽपि निरुद्धविषय-स्मृतिः ।

सर्वदा सुस्थितो जीवः परत्रेह च जायते ॥६७॥

‘जिसने इन्द्रियोंको अपने विषयसे अलग किया है और जो विषयोंकी स्मृतिको भी रोके रखता है—पूर्व भोगे गये भोगोंका कभी स्मरण नहीं करता और न उन्हें फिरसे भोगनेकी इच्छा ही करता है—वह जीव इस लोक तथा परलोकमें सदा सुखी होता है ।’

व्याख्या—यहाँ उस जीवको इस लोक तथा परलोकमें सदा सुस्थित एवं सुखी बतलाया है जो अपनी इन्द्रियोंको उनके विषयसे अलग ही नहीं रखता किन्तु पूर्वमें भोगे तथा आगे को भोगे जानेवाले विषयोंका स्मरण भी नहीं करता ।

भोगको भोगता हुआ कौन बन्धको प्राप्त होता है कौन नहीं ?

रागी भोगमभुञ्जानो बध्यते कर्मभिः स्फुटम् ।

विरागः कर्मभिर्भोगं भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥६८॥

‘जो रागी है वह भोगको न भोगता हुआ भी सदा कर्मोंसे बँधता है और जो वीतरागी है वह भोगको भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता, यह सुनिश्चित है ।’

व्याख्या—यहाँ पिछले ६६वें पद्यके विषयको कुछ स्पष्ट किया गया है और यह बतलाया गया है कि भोगका न भोगनेवाला यदि भोगोंमें राग रखता है तो वह अवश्य कर्म से बन्धको प्राप्त होता है और जो भोगको भोगता हुआ भी उसमें राग नहीं रखता—किसी मजबूरी, अशक्ति अथवा परवशताके कारण उसे भोगता है—वह कर्म बन्धसे अलिप्त रहता है ।

विषयोंको जानता हुआ ज्ञानी बन्धको प्राप्त नहीं होता

विषयं पञ्चधा ज्ञानी बुध्यमानो न बध्यते ।

त्रिलोकं केवली किं न जानानो बध्यतेऽन्यथा ॥६९॥

‘जो ज्ञानी है वह पाँच प्रकारके इन्द्रिय-विषयको जानता हुआ भी बन्धको प्राप्त नहीं होता । अन्यथा त्रिलोकको जाननेवाला केवलज्ञानी बन्धको क्यों नहीं प्राप्त होता ?—यदि विषयोंको जाननेसे बन्ध हुआ करता तो केवली भगवान् भी बन्धको प्राप्त होता ।’

व्याख्या—यहाँ इस बातको एक सुन्दर उदाहरण-द्वारा स्पष्ट किया गया है कि ‘पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंको जानने मात्रसे कोई ज्ञानी बन्धको प्राप्त नहीं होता ।’ यदि विषयोंको जानने मात्रसे भी बन्धकी प्राप्ति हुआ करती तो तीन लोकके ज्ञाता केवली भगवान् भी बन्धको प्राप्त हुआ करते । परन्तु ऐसा नहीं है अतः विषयोंको जानने मात्रसे बन्धकी प्राप्ति नहीं होती, बन्धकी प्राप्तिमें कारण तद्विषयक राग-द्वेषादि भाव है । वह यदि नहीं तो बन्ध भी नहीं । और इसलिए पिछले जिन पद्यों (६५ आदि) में भोगोंकी स्मृतिका उल्लेख है वह मात्र ज्ञानात्मक स्मृति न होकर रागात्मक स्मृति है, इसीसे उसे दूषित ठहराया है ।

महामूढ़ इन्द्रिय-विषयोंको न ग्रहण करता हुआ भी बन्धकर्ता

विमूढो नूनमक्षार्थमगृह्णानोऽपि बध्यते ।

एकाक्षाद्या निबध्यन्ते विषयाग्रहिणो न किम् ॥७०॥

‘जो विमूढ़ है—विवेकहीन महा अज्ञानी है—वह निश्चयसे इन्द्रिय-विषयको ग्रहण न करता हुआ भी बन्धको प्राप्त होता है । (ठीक है) एकेन्द्रियादिक जीव जो (स्वभिन्न) विषयोंको ग्रहण करनेवाले नहीं वे क्या बन्धको प्राप्त नहीं होते ?—होते ही हैं ।’

व्याख्या—पिछले पद्यमें विषयोंको जाननेवाले ज्ञानीकी बात कही गयी है, यहाँ उस महा अज्ञानीकी बातको लिया गया है जो विषयोंको कुछ जानता तथा समझता ही नहीं, तब

क्या वह इन्द्रिय-विषयोंको न ग्रहण करता हुआ बन्धको प्राप्त नहीं होता ? उत्तरमें कहा गया है कि वह विमूढ विषयोंको न ग्रहण करता हुआ भी बन्धको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि एकेन्द्रियादि जीव अपने विषयसे भिन्न विषयको ग्रहण न करते हुए भी निश्चित रूपसे बन्धको प्राप्त होते हैं—उनका अज्ञानादि भाव उन्हें बन्धका पात्र बनाता है। अतः जो लोग अज्ञानके कारण दोष करके अपनेको दोषमुक्त समझते हों वे भूलते हैं, अज्ञान किसीको दोषमुक्त नहीं करता—यह दूसरी बात है कि ज्ञातभावसे किये हुए कर्मकी अपेक्षा अज्ञात भावसे किये हुए कर्मके फलमें कुछ अन्तर जरूर होता है।

किसका प्रत्याख्यानानादि कर्म व्यर्थ है

राग-द्वेष-निवृत्तस्य प्रत्याख्यानानादिकं वृथा ।

राग-द्वेष-प्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानानादिकं वृथा ॥७१॥

‘जो राग-द्वेषसे राहत योगी है उसके प्रत्याख्यानानादिक कर्म व्यर्थ हैं और जो राग-द्वेषमें प्रवृत्त है उसके प्रत्याख्यानानादि कर्मका कोई अर्थ नहीं—वह सब निरर्थक है।’

व्याख्या—जो राग-द्वेषसे निवृत्त हो गया है और जो राग-द्वेषमें प्रवृत्त है दोनोंके प्रत्याख्यानानादि कर्म-क्रियाओंको यहाँ व्यर्थ अकार्यकारी एवं निरर्थक बतलाया है। प्रत्याख्यानानादि कर्म षडावश्यक कर्मोंके अन्तर्गत हैं, जिनका वर्णन संवराधिकारमें पद्य नं० ४७ से ५३ तक दिया है, उनमें-से आदि शब्दके द्वारा यहाँ शेष सभीका अथवा मुख्यतः सामायिक, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्गका ग्रहण है। ये सब कर्म राग-द्वेषकी निवृत्ति एवं संवरके लिए किये जाते हैं अतः जो राग-द्वेषसे निवृत्त हो चुका उसके लिए इन कर्मोंके करनेकी जरूरत नहीं रहती और इसलिए इनका करना उसके लिए व्यर्थ है। और जो राग-द्वेषादिमें प्रवृत्त है—खूब रचा-पचा है—राग-द्वेष जिससे छूटते नहीं उसके लिए भी इन कर्मोंका करना व्यर्थ है; क्योंकि जब इन कर्मोंका लक्ष्य ही उसके ध्यानमें नहीं और प्रवृत्ति उलटी चल रही है तब इन कर्मोंको जान्तापूरी अथवा यान्त्रिकचारित्र (जड मशीनों जैसे आचरण) के रूपमें करनेसे क्या लाभ ? कुछ भी लाभ न होनेसे वे व्यर्थ ठहरते हैं।

दोषोंके प्रत्याख्यानसे कौन मुक्त है

सर्वत्र यः सदोदास्ते न च द्वेषि न रज्यते ।

प्रत्याख्यानानादतिक्रान्तः स दोषाणामशेषतः ॥७२॥

‘जो किसी वस्तुमें राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता और सर्वत्र उदासीन भावसे रहता है वह दोषोंके प्रत्याख्यानकर्मसे पूर्णतः विमुक्त है—उसे नियमतः उस कर्मके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।’

व्याख्या—जो योगी किसीसे राग नहीं करता, द्वेष भी नहीं करता, सदा सर्वत्र उदासीन भावसे रहता है वह दोषोंके प्रत्याख्यानानादिकी सीमासे पूर्णतः बाह्य होता है—उसके लिए प्रत्याख्यानका करना कोई आवश्यक नहीं। ऐसा योगी क्षीणमोहको प्राप्त प्रायः १२वें, १३वें, १४वें गुणस्थानवर्ती होता है। पिछले पद्यमें जिस राग-द्वेष-निवृत्त योगीका उल्लेख है वह भी प्रायः क्षीणमोही योगीसे ही सम्बन्ध रखता है।

दोषोंके विषयमें रागी-वीतरागीकी स्थिति

रागिणः सर्वदा दोषाः सन्ति संसारहेतवः ।

ज्ञानिनो वीतरागस्य न कदाचन ते पुनः ॥७३॥

‘रागी (अज्ञानी) के संसारके कारणीभूत सदा सर्वदोष होते हैं; किन्तु ज्ञानी वीतरागीके वे दोष कदाचित् भी नहीं होते ।’

व्याख्या—यहाँ साररूपमें यह बतलाया गया है कि जो रागी—अज्ञानी है उसके संसारके हेतुभूत सभी दोषोंका सम्भव है और जो ज्ञानी—वीतरागी है उसके संसारके हेतुभूत वे दोष कभी नहीं बनते ।

औदयिक और पारिणामिक भावोंका फल

जीवस्यौदयिको भावः समस्तो बन्धकारणम् ।

विमुक्तिकारणं भावो जायते पारिणामिकः ॥७४॥

‘जीवका जो औदयिक भाव—कर्मोंके उदय निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला परिणाम—है वह सब बन्धका कारण है, मुक्तिका कारण, पारिणामिक भाव होता है ।’

व्याख्या—यहाँ पूर्वबन्ध-कथनके सिलसिलेमें जीवके सारे औदयिकभावको—औदयिकभावोंके समूहको—बन्धका हेतु बतलाया है । यह कथन रागी जीवसे सम्बन्ध रखता है; क्योंकि ज्ञानी वीतरागीका कोई कर्म पिछले पद्यानुसार बन्धका कारण नहीं होता । अर्हन्तोंके कुछ कर्मोंका उदय बना रहनेसे जो औदयिक भाव होता है वह पूर्णतः वीतरागी हो जानेसे बन्धका कारण नहीं रहता । पारिणामिक भावोंको यहाँ मुक्तिका हेतु बतलाया है, जिसमें जीवत्व और भव्यत्व ये दो भाव आते हैं । अभव्यत्व तो भव्यत्वका प्रतिपक्षी है इसलिए उसको यहाँ ग्रहण नहीं किया जाता ।

विषयानुभव और स्वात्मानुभवमें उपादेय कौन

विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवमान्तरम् ।

विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यत्र सर्वतः ॥७५॥

‘इन्द्रिय विषयोंका जो अनुभव है वह बाह्य (सुख) है और स्वात्माका जो अनुभव है वह अन्तरंग (सुख) है, इस बातको जानकर बाह्य-विषयानुभवको छोड़कर स्वात्मानुभवरूप अन्तरंगमें पूर्णतः स्थित होना चाहिए ।’

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि इन्द्रिय विषयोंका जो अनुभव न हो वह तो बाह्यकी वस्तु है—बाह्य सुख है जो स्थिर रहनेवाला नहीं—और अपनी आत्माका जो अनुभव है वह अन्तरंगकी वस्तु है—सदा स्थिर रहनेवाला आध्यात्मिक सुख है—अतः इस तत्त्वको जानकर विषयानुभवनके त्यागपूर्वक स्वात्मानुभवमें पूर्णतः स्थिर होना चाहिए । यही परमहित रूप है ।

वैषयिक ज्ञान सब पौद्गलिक

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः सर्वं पौद्गलिकं मतम् ।

विषयेभ्यः परावृत्तमात्मीयमपरं पुनः ॥७६॥

‘जीवका जितना वैषयिक (इन्द्रियजन्य) ज्ञान है वह सब पौद्गलिक माना गया है और दूसरा जो ज्ञान विषयोंसे परावृत्त है—इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है—वह सब आत्मीय है ।’

व्याख्या—यहाँ इस जीवके इन्द्रिय-विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे ज्ञानको ‘पौद्गलिक’ बतलाया है और जो ज्ञान इन्द्रियविषयोंकी सहायतासे रहित अतीन्द्रिय है वह आत्मीय है—आत्माका निजरूप है । अतः इन्द्रियजन्य पराधीन ज्ञान वास्तवमें अपना नहीं और इसलिए वह त्याज्य है ।

मानवोंमें बाह्यभेदके कारण ज्ञानमें भेद नहीं होता

गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते ।

पुंसां तथा विभेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते ॥७७॥

‘जिस प्रकार गौओंमें (काली पीली धौली आदिका) भेद होनेपर भी दूधमें—दूधके रंगमें—कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार पुरुषोंके—मानवोंके—(रंगरूपादि-सम्बन्धी) भेदके होनेपर भी ज्ञानका भेद नहीं होता ।’

व्याख्या—गौएँ धौली, पीली, नीली, काली, गोरी, चितकबरी आदि अनेक रंगभेदको लिये हुए होती हैं । सींगके भेदोंसे भी उनमें भेद होता है—किसीके सींग छोटे, किसीके बड़े, किसीके सीधे, किसीके मुड़े और किसीके गोलगेंडली मारे हुए होते हैं । और भी शरीर भेद होते हैं, इस विभेदके कारण उनके दूधमें जैसे भेद नहीं होता—अर्थात् धौलीका धौला, पीलीका पीला, नीलीका नीला और कालीका काला दूध नहीं होता—सबका दूध प्रायः एक ही सफेद रंगका होता है; वैसे ही मनुष्योंमें भी परस्पर अनेक भेद पाये जाते हैं—कोई गोरा है कोई साँवला, कोई काला है कोई गन्दुमी रंगका, किसीका चेहरा गोल है किसीका लम्बोतरा, किसीकी गरदन छोटी है किसीकी लम्बी, किसीकी सीधी है और किसीकी टेढ़ी है, कोई बुड्ढा कोई लँगड़ा है, कोई काना है कोई अन्धा है, कोई गूंगा है कोई बहरा है, किसीके बाल काले हैं तो किसीके सफेद या भूरे इत्यादि शरीरभेद स्पष्ट देखनेमें आता है, इसी प्रकार कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्रादि जाति-भेदको लिये हुए हैं । इस सारे बाह्यभेदके कारण मनुष्योंके ज्ञानमें कोई भेद नहीं होता—जो ज्ञान एक अच्छे गोरे रंग सुन्दर आकारके मनुष्यको प्राप्त होता है वह काले कुरूप तथा विकलांगीको भी प्राप्त होता है तथा हो सकता है । श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी गरदन टेढ़ी थी; इसीसे वे ‘वक्रग्रीव’ कहलाते थे परन्तु कितने महामति थे यह उनके ग्रन्थोंसे जाना जाता है । अष्टावक्र ऋषिके शरीरमें आठ वक्रताएँ थीं वे भी बहुत बड़े ज्ञानी सुने जाते हैं । भगवत् जिनसेनाचार्यने अपने विषयमें स्वयं लिखा है कि वे यद्यपि अतिसुन्दराकार और अतिचतुर नहीं थे, फिर भी सरस्वती उनपर मुग्ध थी और उसने अनन्य शरण होकर उनका आश्रय लिया था ।

इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि शरीरादिका कोई बाह्यभेद ज्ञानमें भेद उत्पन्न नहीं करता । ज्ञान आत्माका निजगुण है और इसलिए वह सभी समानरूपसे विकसित आत्माओंमें समान रहता है । उसके विकार तथा न्यूनाधिकताका कारण संसारी जीवोंके साथ लगा कर्ममल है ।

किस ज्ञानसे ज्ञेयको जानकर उसे त्यागा जाता है

विज्ञाय दीपतो द्योत्यं यथा दीपो व्यपोह्यते ।

विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं तथा ज्ञानं व्यपोह्यते ॥७८॥

स्वरूपमात्मनः सूक्ष्ममव्यपदेश(श्य)मव्ययम् ।

तत्र ज्ञानं परं सर्वं वैकारिकमपोह्यते ॥७९॥

जिस प्रकार दीपकसे द्योत्य (प्रकाशनीय वस्तु) को जानकर दीपकको द्योत्यसे अलग किया जाता है उसी प्रकार ज्ञानसे ज्ञेयको जानकर ज्ञानको ज्ञेयसे अलग किया जाता है । जो ज्ञान आत्माका स्वरूप है, सूक्ष्म है, व्यपदेशरहित अथवा वचनके अगोचर है उसका व्यपोहन—त्याग अथवा पृथक्करण—नहीं होता, उससे भिन्न जो वैकारिक—इन्द्रियों आदि द्वारा विभाव परिणत—ज्ञान है उसको दूर किया जाता है ।

व्याख्या—दीपक जिस वस्तुका द्योतन—प्रकाशन करता है उसे 'द्योत्य' कहते हैं । दीपकके प्रकाशकी सहायतासे जब किसी अन्धेरेमें स्थित वस्तुको देखकर जान लिया तथा प्राप्त कर लिया जाता है तब फिर दीपककी जिस प्रकार जरूरत नहीं रहती—उसे बुझा दिया अथवा अलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान जिस वस्तुका ज्ञापन—द्योतन करता है उसे 'ज्ञेय' कहते हैं । ज्ञानसे जब ज्ञेयको जान लिया जाता है तब उस ज्ञानके व्यापारकी जरूरत नहीं रहती और इसलिए उसे ज्ञेयसे अलग अथवा निर्व्यापारीकृत रूपमें स्थित कर दिया जाता है । जिस ज्ञानको ज्ञेयसे अलग अथवा निर्व्यापारीकृत किया जाता है वह वह ज्ञान नहीं जो आत्माका स्वभाव है, सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियोंके अगोचर है, अव्यपदेश्य (अवाच्य) होनेसे वचनके अगोचर है और जिसका कभी नाश नहीं होता किन्तु वह ज्ञान है जिसे 'वैकारिक' कहते हैं और जो इन्द्रियादि-परपदार्थजन्य विकार अथवा विभावको लिये हुए होता है । ऐसे ज्ञानको पिछले पद्य ७६ में 'गौद्गलिक' बतलाया है, वही अपोहन—पृथक्करणके योग्य होता है । जो ज्ञान स्वाभाविक है (वैभाविक नहीं) उसका आत्मासे कभी त्याग या पृथक्करण नहीं होता और न हो सकता है ।

विकार हेतुके देशच्छेद तथा मूलच्छेदका परिणाम

स्कन्धच्छेदे पल्लवाः सन्ति भूयो

मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो ।

देशच्छेदे सन्ति भूयो विकारा

मूलच्छेदे जन्मनस्ते तथा नो ॥८०॥

'जिस प्रकार वृक्षके स्कन्ध (काण्ड) का छेद होनेपर पत्ते फिर निकल आते हैं किन्तु मूलका छेद होनेपर—जड़से वृक्षको काट डालनेपर—पत्ते फिर नहीं उगते, उसी प्रकार संसारका एक देश नाश करनेपर विकार फिर उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु मूलतः विनाश करनेपर विकार फिर उत्पन्न नहीं होते ।'

१. दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सृजेत् ॥
—यशस्तिलक । २. सूक्ष्ममव्यपदेशमव्ययं ।

व्याख्या—वृक्षके एकदेश-शाखादिका छेद होनेपर जिस प्रकार उसमें नये पत्ते फिरसे निकल आते हैं उस प्रकार नये पत्तोंका फिरसे निकलना मूलच्छेद होनेपर—वृक्षके जड़से कट जानेपर अथवा उखड़ जानेपर—नहीं बनता, यह सभीको प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इस उदाहरणको लेकर यहाँ संसारके एकदेशच्छेद और मूलच्छेद (सर्वदेशच्छेद) के कारण होनेवाले विकारोंकी स्थितिको कुछ स्पष्ट किया गया है—संक्षेपमें इतना ही कहा गया है कि एकदेशच्छेद होनेपर विकार उत्पन्न होते हैं और मूलच्छेदपर उत्पन्न नहीं होते। यहाँ संसारका अर्थ भवभ्रमणका है जिसे 'जन्मनः' पदके द्वारा उल्लेखित किया है और उसमें संसारके हेतु भी शामिल हैं। विकारोंका अभिप्राय राग-द्वेषादिक, जन्म-मरणादिक अथवा नये-नये शरीर धारण का है।

देशच्छेद और मूलच्छेदके विषयका स्पष्टीकरण

देशच्छेदे चरित्रं भवति भवततेः कुर्वतश्चित्ररूपं
मूलच्छेदे विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपम् ।
विज्ञायेत्थं विचिन्त्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमन्तःस्थमग्र्यं
संप्राप्तासन्नमार्गा न परमिह पदप्राप्तये यान्ति मार्गम् ॥८१॥

'संसारके एकदेशका—पापरूपका—नाश होनेपर संसारकी परम्पराका विचित्ररूप करता हुआ चरित्र होता है और संसारके मूलका—पाप-पुण्य दोनों कारणोंका—नाश होनेपर आत्मा अपने आकाशके समान निर्मल विविक्त (कर्मकलंक विमुक्त) स्वस्वरूपको ध्याता है। इस प्रकार जानकर जो उत्तम ज्ञानके धारक महात्मा हैं उनके द्वारा अन्तरंगमें स्थित प्रधान तत्त्व जो शुद्ध आत्मा है वह विशेष रूपसे चिन्तनीय है (ठोक है) जिन्हें अभीष्ट स्थानकी प्राप्ति का संनिकट मार्ग प्राप्त हो जाता है वे फिर दूसरे मार्गसे गमन नहीं करते।'

व्याख्या—यहाँ संसारके देशच्छेद और मूलच्छेदके अभिप्रेत विषयको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि संसारका देशच्छेद होनेपर—संसारके हेतुभूत मिथ्यादर्शनादिक, राग-द्वेषादिक अथवा पुण्य-पापादिका एकदेश नाश होनेपर—जो चरित्र होता है वह संसार-सन्ततिको चित्र-विचित्र रूप देनेवाला अथवा उसे नानाप्रकारसे बढ़ानेवाला होता है। प्रत्युत इसके संसारके उक्त हेतुओंका मूलच्छेद होनेपर यह आत्मा अपने उस विविक्त शुद्ध-स्वरूपके ध्यानमें मग्न होता है जो आकाशके समान निर्मल एवं निर्लेप है। इस प्रकार देशच्छेद और मूलच्छेदके स्वरूपको भले प्रकार समझकर जो उत्तम अमितज्ञानके धारक महात्मा हैं उन्हें अपने अन्तरंगमें स्थित प्रधान तत्त्व जो अपना शुद्धात्मा है उसका सविशेषरूपसे चिन्तन-ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान अभीष्ट स्थान (मुक्तिसदन) की प्राप्तिके लिए आसन्न मार्ग है—सबसे निकटका रास्ता है। और इसलिए जिन्हें संनिकट मार्ग प्राप्त होता है वे फिर दूसरे दूरके अथवा चक्करके मार्गसे नहीं जाते हैं। पद्यके अन्तिम चरणमें कही गयी यह बात बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है, और इस बातको सूचित करती है कि अपनी शुद्धात्माके ध्यानसे भिन्न और जितने भी ध्यानके मार्ग हैं वे सब दूरीके साथ परावलम्बनको भी लिये हुए हैं।

इस पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'सदमितगतिभिः' पद भी अपना खास महत्त्व रखता है—उसमें 'गति' शब्द ज्ञानका वाचक होनेसे वह जहाँ अपरिमितज्ञानके धारक महात्माओंके उल्लेखको लिये हुए है वहाँ प्रकारान्तरसे (श्लेषरूपमें) ग्रन्थकार महोदयके नामका भी सूचक है और साथ ही इस सूचनाको भी लिये हुए जान पड़ता है कि आचार्य अमितगतिको शुद्ध

स्वात्मध्यानका यह स्वाधीन मार्ग ही विशेषतः रुचिकर था और वे प्रायः इसीके अनुसरण एवं दृढीकरणमें प्रवृत्त रहते थे। शायद इसीसे उन्होंने अगले एक पद्य (८३) में अपनेको 'निःसंगात्मा' लिखा है जो कि उनकी परके संगसे रहितता एवं स्वावलम्बी होनेका द्योतक है। इस शुद्धस्वात्माके ध्यानमें पापोंको प्रयत्नपूर्वक त्यागनेकी भी जरूरत नहीं रहती, वे तो सबके सब ज्ञानके स्वात्मलीन होनेपर स्वयं भाग जाते हैं, जैसा कि ग्रन्थकार महोदयने अन्यत्र प्रकट किया है; परका सम्बन्ध न होनेसे शुभ राग भी नहीं रहता, जो कि पुण्य-बन्धका कारण है और आत्माको संसारमें फँसाये रखता है। इसीसे जहाँ अर्हद्भक्ति आदि रूपमें राग रहता है वहाँ वह महान् पुण्यबन्धका कारण होता है, जो कि संसारके सुखोंका प्रदाता है, परन्तु उससे कर्मोंका क्षय नहीं होता।

संसारके हेतुओंका देशच्छेद होनेपर जिस चारित्रिके उद्भवकी यहाँ बात कही गयी है वह व्यवहारचारित्र है, जो कि अशुभसे निवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्तिरूप होता है और जिसे व्रत, समिति तथा गुप्तिके रूपमें तीन प्रकारका तथा इनके उत्तरभेदों (५ + ५ + ३) की दृष्टिसे तेरह प्रकारका बतलाया है।^१ निश्चयनयकी दृष्टिसे जो चारित्र बनता है वह स्वरूपाचरणके रूपमें होता है, उसे ही यहाँ संसार हेतुओंके मूलच्छेदका परिणाम बतलाया है।

किनका जन्म और जीवन सफल है

दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं
ये संसार-महोदधिं बहुविधक्रोधादिनक्राकुलम् ।
तीर्त्वा यान्ति शिवास्पदं शममयं ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं स्वार्थैकनिष्ठात्मनाम् ॥८२॥

'जो सारे बाह्य जगत्को अनात्मीय, मायारूप तथा नश्वर देखकर, स्थिर आत्मतत्त्वका ध्यान कर नाना प्रकारके क्रोधादि नाकुओंसे भरे संसार-समुद्रको तिरकर सुखमय शिवस्थानको प्राप्त होते हैं उन आत्मीय स्वार्थकी साधनामें एकनिष्ठा (अद्वितीय श्रद्धा) रखनेवालों (महात्माओं) का जन्म और जीवन सफल है।'

व्याख्या—यहाँ जिनके जन्म और जीवनको सफल बतलाया है वे वे महात्मा होते हैं जो सारे बाह्य जगत्को अनात्मीय (अपना कोई नहीं) मायाजल तथा इन्द्रजालके समान भ्रामक और क्षणभंगुर देखकर—साक्षात् अनुभव कर—अपने शाश्वत आत्माके स्वार्थ-साधन-में—विभाव-परिणमनको हटाकर उसे स्वात्मस्थित करनेमें—एक निष्ठासे तत्पर हुए, शुद्ध आत्मतत्त्वके ध्यान-द्वारा क्रोधादि कषायरूप नाकुओं (मगरो) से भरे हुए संसार महा-समुद्रको तिरकर शान्तिमय शिवस्थान अथवा ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं।

ग्रन्थ और ग्रन्थकारके अभिप्रेतरूप प्रशस्ति

दृष्ट्वा सर्वं गगननगर-स्वप्न-मायोपमानं
निःसङ्गात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम् ।

१. हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं संगसंग्रहः । आत्मरूपगते ज्ञाने निःशेषं प्रपलायते ॥ यो० प्रा० ३७ ॥
२. यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः । स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते ॥ यो० प्रा० ४८ ॥
३. असुहादो विणिविती सुहे पविती य जाण चारित्तं । वद-समिदि-गुत्तिरूवं व्यवहारणया दु जिण-भणियं ॥—बृहद्द्रव्यसंग्रह, ४५ । ४. मु शिवमयं ।

ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृतं स्वेषु चात्म-प्रतिष्ठं

नित्यानन्दं गलित-कलिलं सूक्ष्ममत्यक्ष-लक्ष्यम् ॥८३॥

‘सारे दृश्य जगत्को आकाशमें बादलोंसे बने हुए नगरके समान, स्वप्नमें देखे हुए दृश्योंके सदृश तथा इन्द्रजालमें प्रदर्शित मायामय चित्रोंके तुल्य देखकर निःसंगात्मा अमितगतिये उस परम ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए जो कि आत्माओंमें आत्म-प्रतिष्ठाको लिये हुए है, कर्म-मलसे रहित है, सूक्ष्म है, अमूर्तिक है, अतीन्द्रिय है और सदा आनन्दरूप है, यह योगसार प्राभूत रचा है, जो कि योग-विषयक ग्रन्थोंमें अपनेको प्रतिष्ठित करनेवाला योगका प्रमुख ग्रन्थ है, निर्दोष है, अर्थकी दृष्टिसे सूक्ष्म है—गम्भीर है—अनुभवका विषय है और नित्यानन्दरूप है—इसको पढ़ने-सुननेसे सदा आनन्द मिलता है।’

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकार महोदयने ग्रन्थके कर्तृत्वादिकी सूचना करते हुए ग्रन्थका नाम ‘योगसारप्राभूत’, अपना नाम ‘अमितगति’ और ग्रन्थके रचनेका उद्देश्य ‘ब्रह्मप्राप्ति’ बतलाया है। ब्रह्मप्राप्तिका आशय स्वात्मोपलब्धिका है, जिसे ‘सिद्धि’ तथा ‘मुक्ति’ भी कहते हैं। और जो वस्तुतः सारे विभाव-परिणमनको हटाकर स्वात्माको अपने स्वभावमें स्थित करनेके रूपमें है—किसी परपदार्थ या व्यक्ति-विशेषकी प्राप्ति या उसमें लीनताके रूपमें नहीं। इसी उद्देश्यको ग्रन्थके प्रारम्भिक मंगल-पद्यमें ‘स्वस्वभावोपलब्धये’ पद्यके द्वारा व्यक्त किया गया है, उसका मुख्य विशेषण भी ‘स्वस्वभावमय’ दिया है। इससे स्वभावकी उपलब्धि रूप सिद्धि ही, जिसे प्राप्त करनेवाले ही ‘सिद्ध’ कहे जाते हैं, यहाँ ब्रह्मप्राप्तिका एक मात्र लक्ष्य है, यह असन्दिग्धरूपसे समझ लेना चाहिए।

ग्रन्थकारने अपना विशेषण ‘निःसंगात्मा’ दिया है जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस बातको सूचित करता है कि ग्रन्थकार महोदय केवल कथन करनेवाले नहीं थे किन्तु ग्रन्थके कथन एवं लक्ष्यके साथ उन्होंने अपनेको रँग लिया था, परपदार्थोंसे अपना ममत्व हटा लिया था। उन्हें अपने संघका, गुरु-परम्पराका तथा शिष्य-समुदायका भी कोई मोह नहीं रहा था, इसीसे शायद उन्होंने इस अवसरपर उनका कोई उल्लेख नहीं किया। उनका आत्मा निःसंग था, परके सम्पर्कसे अपनेको अलग रखनेवाला था और इसलिए उन्हें सच्चे अर्थमें ‘योगिराज’ समझना चाहिए। जो सत्कार्योंका दूसरोंको जो उपदेश देते हैं उनपर स्वयं भी चलते-अमल करते हैं वे ही ‘सत्पुरुष’ होते हैं। उन्हींके कथनका असर भी पड़ता है।

इस पद्यमें ‘परमब्रह्म’के जो विशेषण दिये गये हैं वे ही प्रकारान्तरसे ग्रन्थपर भी लागू होते हैं और इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ अपने लक्ष्यके बिलकुल अनुरूप बना है। उदाहरणके लिए ‘नित्यानन्द’ विशेषणको लीजिए, इस ग्रन्थको जब भी जिधरसे भी पढ़ते-अनुभव करते हैं उसी समय उधरसे नया रस तथा आनन्द आने लगता है। और इसीलिए इस ग्रन्थको ‘रमणीय’ कहना बहुत ही युक्ति-युक्त है। रमणीयका स्वरूप भी यही है—“पदे-पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः”—पद-पदपर जो नवीन जान पड़े वही रमणीयताका स्वरूप है। जबसे यह ग्रन्थ मेरे विशेष परिचयमें आया है तबसे—तत्त्वानु-शासन (ध्यानशास्त्र) का भाष्य लिखनेके समयसे—मैंने इसे शायद सौ बारसे भी अधिक पढ़ा है और इसकी सुन्दरता, सरलता-गम्भीरता तथा उपयोगिताने ही मुझे इसका भाष्य लिखनेकी ओर प्रेरित किया है।

१. मु परमकृत । २. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः (पूज्यपादाचार्य) ।

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः ।

स्व-स्वरूपमुपलभ्य सोऽश्रितं सन्न याति भव-दोष-वश्रितम् ॥८४॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंग योगिराज-विरचिते योगसार-
प्राभृते चूलिकाधिकारः ॥ ९ ॥

‘इस योगसार प्राभृतको जो एक चित्त हुआ एकाग्रतासे पढ़ता है वह अपने स्वरूपको जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस पूजित सदनको—लोकाग्रके निवासरूप पूज्य मुक्ति हलको—प्राप्त होता है जो संसारके दोषोंसे रहित है—संसारका कोई भी विकार जिसके पास नहीं फटकता ।’

व्याख्या—यह ग्रन्थका अन्तिम उपसंहार-पद्य है, जिसमें ग्रन्थके नामका उल्लेख करते हुए उसके एकाग्रचित्तसे पठनके—अध्ययनके—फलको दर्शाया है और वह फल है अपने आत्म-स्वभावकी उपलब्धि—ज्ञप्ति (जानकारी) और सम्प्राप्ति—जो कि सारे संसारके दोषोंसे—विकारोंसे—रहित है और जिसे प्राप्त करके यह जीव इतना ऊँचा उठ जाता है कि लोकके अग्रभागमें जाकर विराजमान हो जाता है, जो कि संसारके सारे विकारोंसे रहित—सारी झंझटों तथा आकुलताओंसे मुक्त—एक पूजनीय स्थान है ।

आत्माके इस पूर्ण-विकास एवं जीवनके चरम लक्ष्यको लेकर ही यह ग्रन्थ रचा गया है, जिसका ग्रन्थके प्रथम मंगल पद्यमें ‘स्वस्वभावोपलब्धये’ पदके द्वारा और पिछले ८३वें पद्यमें ‘ब्रह्मप्राप्त्यै’ पदोंके द्वारा उल्लेख किया गया है और इसलिए वही उद्दिष्ट एवं लक्ष्यभूत फल इस ग्रन्थके पूर्णतः एकाग्रताके साथ अध्ययनका होना स्वाभाविक है । अतः अपना हित चाहनेवाले पाठकोंको इस मंगलमय प्राभृतका एकाग्रचित्तसे अध्ययन कर उस फलको प्राप्त करनेके लिए अग्रसर होना चाहिए जिसका इस पद्यमें उल्लेख है ।

इस प्रकार श्री अमितगति निःसंग योगिराज-विरचित योगसार प्राभृतमें,
चूलिकाधिकार नामका नौवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥ ९ ॥



भाष्यका अन्त्यमंगल और प्रशस्ति

राग-द्वेष-कामादि जीत जिन, स्वस्वभावको अपनाया;
निरवधि-सुख-दृग ज्ञानवीर्य-मय, परम निरंजन-पद पाया ।
दिव्यध्वनि से तीर्थ प्रवर्तित किया मोक्ष-पथ दर्शाया;
उन योगीश्वर महावीर का सुर-नर मिलकर यश गाया ॥ १ ॥
महावीर के तीर्थ-प्रणेता स्याद्ब्रह्मि-विद्याधिप सार;
कविवर गमक-वाग्मि-वादीश्वर भावि तीर्थकर गुण-आधार ।
जिनकी भक्ति-प्रसाद बना यह रुचिर-भाष्य जग का हितकार;
उन गुरु स्वामि-समन्तभद्र को नमन करूँ मैं बारंबार ॥ २ ॥
अल्प बुद्धि 'युगवीर' न रखता योग-विषय पर कुछ अधिकार;
आत्म-विकास-साधना का लख, योग-सिद्धि को मूलाधार ।
निःसंगात्म-अमितगति-निर्मित, योगसार प्राभृत सुख-द्वार;
उससे प्रभवित-प्रेरित हो यह, रचा भाष्य आगम-अनुसार ॥ ३ ॥
पढ़ें-पढ़ावें सुनें-सुनावें जो इसको आदर के साथ;
प्रमुदित होकर चलें इसी पर, गावें सदा आत्म-गुण-गाथ ।
आत्म-रमण कर स्वात्म-गुणों को, औ' ध्यावें सम्यक् सविचार;
वे निज आत्म-विकास सिद्ध कर, पावें सुख अविचल-अविकार ॥ ४ ॥

इति योगसार प्राभृतं समाप्तम् ।

परिशिष्ट

१. योगसार-प्राभृतकी पद्यानुक्रमणिका

अ	आ	उत्साहो निश्चयो धैर्यं	१४९
अकृत्यं दुधियः कृत्यं	आगमेनानुमानेन	उदये दृष्टिमोहस्य	१०
अक्षज्ञानार्थतो भिन्नं	आगमे शाश्वती बुद्धि-	उदेति केवलज्ञानं	८
अचेतनं ततः सर्वं	आगम्यागोनिमित्तानां	उदेति केवलं जीवे	१३५
अचेतनत्वमज्ञात्वा	आचारवेदनं ज्ञानं	उपदेशं विनाप्यङ्गी	१८५
अजीवतत्त्वं न विदन्ति	आत्मतत्त्वमजानाना	उपधौ वसतौ संघे	१६०
अज्ञानी बध्यते यत्र	आत्मतत्त्वमपहस्तितराणं	उपयोगो विनिर्दिष्टस्	६
अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं	आत्मतत्त्वरतो योगी	उपलब्धे यथाहारे	१३१
अतीता भाविनश्चार्थाः	आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं	उपेयस्य यतः प्राप्तिः	१४८
अतोऽत्रैव महान् यत्नः	आत्मना कुरुते कर्म	ऊचिरे ध्यानमार्गज्ञा	१४६
अदन्तधावनं भूमि	आत्मनोऽन्वेषणा येषां	ए	
अध्येतव्यं स्तिमितमनसा	आत्मनो ये परीणामाः	एक एव सदा तेषां	१९१
अनादावपि सम्बन्धे	आत्मानं कुरुते कर्म	एकत्रापि यतोऽनन्ताः	२०
अनादिरात्मनोऽमुख्यो	आत्मनः सकलं बाह्यं	एकत्राप्यपरित्यक्ते	१७१
अनित्यं पीडकं तृष्णा-	आत्मावबोधतो नून-	एकाग्रमनसः साधोः	१८५
अनुबन्धः सुखे दुःखे	आत्मव्यवस्थिताः यान्ति	एकान्तक्षीणसंक्षलेशो	१४५
अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं	आत्मा स्वात्मविचारज्ञै-	एकासनोदरा भुक्ति-	१८०
अन्तःशुद्धिं विना बाह्या	आधिव्याधिजराजाति-	एको जीवो द्विधा प्रोक्तः	१४४
अन्याचारपरिवृत्तः	आनन्दो जायतेऽत्यन्तं	एतेऽहमहमेतेषा-	७५
अन्योऽन्यस्य विकल्पेन	आराधनाय लोकानां	एवं संपद्यते दोषः	५४
अब्रह्मदेशनः श्रीमान्	आरम्भोऽसंयमो मूर्च्छा	क	
अभावे बन्धहेतूनां	आराधने यथा तस्य	कक्षाश्रोणिस्तनाद्येषु	१७६
अभिन्नमात्मनः शुद्धं	आश्रित्य व्यवहारज्ञं	कन्दो मूलं फलं पत्रं	१८१
अमूर्ता निष्क्रियाः सर्वे	आसमस्मि भविष्यामि	कर्ताहं निर्वृतिः कृत्य	२०७
अयत्नचारिणो हिंसा	आहारमुपार्धि शय्यां	कर्म गृह्णाति संसारी	९०
अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा	आहारादिभिरन्येन	कर्म चेतुकुरुते भावो	५५
अर्थकामाविधानेन	इ	कर्मणा निर्मितं सर्वं	८३
अर्हदादौ परा भक्तिः	इत्थं योगी व्यपगत-	कर्मणामुदयसंभवा	६३
अलाबुभाजनं वस्त्रं	इत्थं विज्ञाय यो मोहं	कर्मतो जायते भावो	५६
अवकाशं प्रयच्छन्तः	इदं चरित्रं विधिना	कर्म निर्जीर्यते पूतं	११९
अशने शयने स्थाने	इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो	कर्मनोकर्मनिर्मुक्त-	३२
असंख्या भुवनाकाशे	उ ऊ	कर्मभावं प्रपद्यन्ते	५३
असन्तस्ते मता दक्षै-	उत्पद्यन्ते यथा भावाः	कर्म वेदयमानस्य	५०
अहमस्मि न कस्यापि	उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति	कर्मव्यपगमे (मो) राग-	१४१
अहिंसा सत्यमस्तेयं			

२३०

योगसार-प्राभृत

कर्मैव भिद्यते नास्य	१४१	गुणायेदं सयत्नस्य	१६१	ज्ञानवाञ्छेत्तनः शुद्धो-	१०९
कल्मषक्षयतो मुक्ति-	१६४	धातिकर्म क्षयोत्पन्नं	२१	ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञान-	१२८
कल्मषागमनद्वार	९६	च		ज्ञानिना सकलं द्रव्यं	२८
कल्मषाभावतो जीवो	२१०	चक्षुर्गृह्यथारूपं	१७	ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो	१३८
कल्मषोदयतो भावो	५१	चट्टुकेन यथा भोज्यं	१३०	ज्ञानीति ज्ञानपर्यायी	८९
कषायपरिणामोऽस्ति	७३	चतुर्धा दर्शनं तत्र	७	ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो	१३२
कषायविकथानिद्रा	१७९	चारित्र्य-दर्शन-ज्ञान-	१८९	ज्ञानी विषयभेदेऽपि	८६
कषायस्रोतसागत्य	७०	चारित्र्यादित्रयं दोषं	८५	ज्ञानी विषयसंगेऽपि	८६
कषायाकुलितो जीवः	९७	चारित्र्यं चरतः साधोः	१९५	ज्ञानेन वासितो ज्ञाने	१३२
कषायादिमयो जीवो	२१४	चारित्र्यं दर्शनं ज्ञान-	२६	ज्ञाने विशोधिते ज्ञान-	१३१
कषाया नोपयोगेभ्यः	७२	चारित्र्यं दर्शनं ज्ञानं	८५	ज्ञानं वैषयिकं पुंसः	२२१
कषायेभ्यो यतः कर्म	९६	चारित्र्यं विदधानोऽपि	१२०	ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण	१२९
कषायोदयतो जीवो	१२४	चित्तभ्रमकरस्तीव्र-	२०२	ज्ञेयलक्ष्येण विज्ञाय	१३०
कान्तारं पतितो दुर्गे	१८८	चिन्त्यं चिन्तामणिर्दत्ते	१४७	त	
काये प्रतीयमानेऽपि	६०	चेतनेऽचेतने द्रव्ये	६८	ततः पुण्यभवा भोगाः	२०१
कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्र्यं	१९४	चेतनः कुरुते भुङ्क्ते	१०३	ततः शुभाशुभो हित्वा	२१६
कार्य-कारण-भावोऽयं	६९	चेतन्यमात्मनो रूपं	१३८	ततो भवन्ति रागाद्याः	९०
कालुष्याभावतोऽकर्म	२०९	ज		तत्त्वतो यदि जायन्ते	१०१
कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं	२१४	जन्ममृत्युजरारोगा	१४८	तथात्मनि स्थिता-ज्ञप्ति-	१९९
किञ्चित्संभवति द्रव्यं	४१	जायन्ते मोहलोभाद्या	७८	तथापि तस्य तत्रोक्तो	१६९
कुतर्केऽभिनवेशोऽतो	१५४	जीमूतापगमे चन्द्रे	१९९	तल्लक्षणाविसंवादा	१९३
कुर्वाणः कर्म चात्मायं	१०८	जीवः करोति कर्माणि	५३	तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय	२९
कुर्वाणः परमात्मानं	७४	जीवतत्त्वनिलीनस्य	५	तस्माद्धर्माधिभिः शश्वच्	१८६
कुलजातिवयोदेह	१७८	जीवस्य निष्कषायस्य	७०	तान्येव ज्ञानपूर्वाणि	१९०
कृतानां कर्मणां पूर्वं	१११	जीवस्याच्छादकं कर्म	७०	तुङ्गारोहणतः पातो	१६७
कोपादिभिः कृतं कर्म	५६	जीवस्यौदयिको भावो	२२०	तेनात्मभावनाभ्यासे	२१३
कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति	८४	जीवा जीवद्वयं त्यक्त्वा	४	तेषु प्रवर्तमानस्य	६७
क्षायिकं शामिकं ज्ञेयं	११	जीवानां पुद्गलानां च	४६	त्यक्तान्तरेतर-ग्रन्थो	११८
क्षायोपशमिकाः सन्ति	३५	जीवितं मरणं सौख्यं	४७	द	
क्षायोपशमिकं ज्ञानं	१९	जीवेन सह पञ्चापि	३९	दण्डचक्र-कुलालादि-	२१४
क्षाराम्भःसदृशी त्याज्या	१५३	ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्	१९३	दवीयांसमपि ज्ञान-	१८
क्षाराम्भस्त्यागतः क्षेत्रे	१५३	ज्ञात्वा योऽचेतनं कार्यं	१११	दीयमानं सुखं दुःखं	८९
क्षीरक्षिसं यथा क्षीर	१६	ज्ञानदृष्टिचरित्राणि	१००	दुःखःतो बिभ्यन्ता त्याज्याः	९०
ग-घ		ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं	५१	दुरितानीव न ज्ञानं	१४३
गन्धर्वनगराकारं	२०१	ज्ञान-प्रमाणमात्मानं	१२	दूरीकृतकषायस्य	११७
गलितनिखिलरागद्वेष-	३६	ज्ञानबीजं परं प्राप्य	१५१	दृश्यते ज्ञायते किञ्चिद्	६१
गवां यथा विभेदेऽपि	२२१	ज्ञानवत्यपि चारित्र्यं	१६१	दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु	१९७
गुणजीवादयः सन्ति	३४	ज्ञानवन्तः सदा बाह्य-	२०५	दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनो- न-	२२४

पद्यानुक्रमणिका

२३१

दृष्ट्वा सर्वं गगननगर-	२२४	न यत्र विद्यतेच्छेदः	१७३	परद्रव्यबहिर्भूतं	६
देशच्छेदे चरित्रं	२२३	नश्यत्युत्पद्यते भावः	४१	परद्रव्यैर्गतैर्दोषै-	८७
देहचेतनयोर्भेदो	२१६	न संसारो न मोक्षोऽस्ति	७३	परद्रव्यो भवत्यात्मा	३२
देहचेतनयोरैक्यं	५८	नागच्छच्छक्यते कर्म	३१	परद्रव्यं यथा सद्भिः	१३१
देहसंहतिसंस्थान-	५७	नाचेतने स्तुते देहे	६०	परलोकविधौ शास्त्रं	१५५
देहात्मनोः सदा भेदो	२१२	नाज्ञानं ज्ञानपर्यायाः	८८	परस्पाचेतनं गात्रं	९९
द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्-	११२	नाञ्जसा वचसा कोऽपि	१०४	परिणामाः कषायाद्याः	२०९
द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति	११३	नाऽघ्रात्मचिन्तनादन्यः	१४९	परेण विहितं कर्म	६९
द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य	११३	नानन्दो वा त्रिषादो वा	१०५	परेभ्यः सुखदुःखानि	७१
द्रव्यमात्मादिमध्यान्त-	४२	नान्यथा शक्यते कर्तुं	२११	परं शुभोपयोगाय	५९
द्रूयते गुणपर्यायै-	४०	नान्यद्रव्यपरीणाम-	७१	पवित्र-दर्शनं ज्ञान-	११०
ध		नान्योन्यगुणकर्तृत्वं	७३	पश्याम्यचेतनं गात्रं	९९
धर्मतोऽपि भवो भोगो	२०४	नाभावो मुक्त्यवस्थायां	११८	पश्यन्तो जन्मकान्तारे	९४
धर्माधर्म नभः-काल-	३७	नामुना जन्मना स्त्रोणां	१७५	पादमुत्क्षिपतः साधो-	१६९
धर्माधर्मैकजीवानां	४२	नास्ति येषामयं तत्र	१६४	पापारम्भं परित्यज्य	७८
धर्माधर्मौ स्थितौ ध्याप्य	४४	नाहं भवामि कस्य पि	१५७	पिण्डः पाणिगतोऽन्यस्मै	१८३
धर्माय क्रियमाणा सा	१६३	निग्रहानुग्रहौ कर्तुं	९८	पुत्रदारादिके द्रव्ये	७२
धर्मेण वासितो जीवो	१३२	निजरूपं पुनर्याति	१०७	पुद्गलानां यदादानं	८०
धुनाति क्षणतो योगी	१९९	नित्यानित्यात्मके जीवे	१०२	पूर्वोर्वाजितकर्मैक-	११६
ध्यानस्पेदं फलं मुख्य-	१४६	निन्दकत्वं प्रतीक्ष्ये (इये) वु	९४	प्रकृतिश्च स्थितिर्जैयः	८०
ध्यानं विनिर्मलज्ञानं	२००	निरर्थकस्त्रभावत्वे	१९८	प्रकृतेश्चेतनत्वे स्याद्	१९८
धौध्योत्सादलयालोढा	४०	निरस्तमन्मथातङ्कं	२००	प्रकृष्टं कुर्वतः साधो-	१५९
न		निरस्तापरसंयोगः	१४५	प्रक्षयः पाकजातायां	११६
न कर्म हन्ति जीवस्य	२१२	निराकृतपरापेक्षं	१५६	प्रतिबन्धो न देशादि-	१३९
न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे	२०७	निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं	१९१	प्रतिबिम्बं यथादर्शो	१३२
न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदो	१२८	निर्वाणे परमा भक्तिः	२०५	प्रतीयते परोक्षेण	१२९
न ज्ञानादिगुणाभावे	१४३	निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा	१९५	प्रदर्शितमनुष्ठान-	१२२
न ज्ञानी लिप्यते पापै-	२०६	निर्ध्यापारीकृताक्षस्य	२२	प्रदेशा नभसोऽनन्ताः	४४
न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो	१४२	निधिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि	९९	प्रमत्तादिगुणस्थान-	५८
न दोषमलिने तत्र	१३६	निष्कषायो निरारम्भः	९७	प्रमादमयमूर्तीनां	१७१
न दोषेण विना नार्यो	१७६	निष्प्रमादतया पाल्या	१५८	प्रमादो त्यजति ग्रन्थं	१६९
न द्रव्य-गुण-पर्यायाः	१०४	निसर्गः प्रकृतिस्तत्र	८०	प्रव्रज्यादायकः सूरिः	१५९
न निन्दास्तुतिवचनानि	१०४	नीरागोऽप्राप्तुकं द्रव्यं	८६	प्रशस्तो भण्यते तत्र	९१
न निर्वृतः सुखीभूतः	१४१	नीरागो विषयं योगी	८७	प्रहीणस्वात्मबोधस्य	९७
न निर्वृतिं गतस्यास्ति	६१	प		व	
न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति	१८७	पक्वेऽपक्वे सदा मांसे	१८१	बडिशामिपवच्छेदो	१५२
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या	१५७	पञ्चाक्षविषयाः किंचित्	१०३	बहुजीवप्रघातोत्थ	१८१
न मोहप्रभृतिच्छेदः	१३६	पतितो भवक्रान्तारे	१८८	बहुधा भिद्यते सोऽपि	१८८
		पदार्यानां निमग्नानां	४७	बालो वृद्धस्तपोऽज्ञानस्	१८४

२३२

योगसार-प्राभृत

बाह्यमाभ्यन्तरं द्वेषा	११९
बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि	१९०
बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र	१८९
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्	१८९
बोधरोधः शमापायः	१५४

भ

भवाभिनन्दनः केचित्	१६२
भवं वदन्ति संयोगं	१४५
भावेषु कर्मजातेषु	१९१
भावः शुभोऽशुभः शुद्धः	२१६
भूत्वा निराकृतच्छेद-	१५९
भोगसंसारनिर्वेदो	२०५
भोगांस्तत्त्वधिया पश्यन्	२०३
भोगं कश्चिदभुञ्जानो	२१७

म

मतिः श्रुतावधो ज्ञाने	७
मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं	९९
मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-	७
मनुष्यः कुरुते पुण्यं	१०२
मनो-वचो-वपुःकर्म	२१४
मया न्यस्य ममान्येन	१००
मयीदं कार्मणं द्रव्यं	६७
मरणं जीवनं दुःखं	८२
महाव्रत-समित्यक्ष-	१५७
मांसं पक्वमपक्वं वा	१८१
मायाभ्यो मन्यतेऽसत्यं	२०३
मायातोयोपमा भोगा	२०३
मायामयोषधं शास्त्रं	१८७
मायाभ्यो मन्यतेऽसत्यं	२०३
मिथ्याज्ञाननिविष्टयोग-	
जनिताः	७९
मिथ्याज्ञानपरित्यज्य	११२
मिथ्याज्ञानं मतं तत्र	९
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्व-	११
मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं	६६
मिथ्यादृक् सासनो मिथ्रो	५७
मुक्तिमार्गपरं चेतः	१६४
मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्य-	१४८

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं	१२३
मूढा लोभपराः क्रूराः	१६३
मूर्तामूर्तं द्विधा द्रव्यं	४९
मूर्तो भवति भुञ्जानः	९२
मूर्तो भवत्यमूर्तोऽपि	९२
मोक्षाभिलाषिणां येषा-	१७४
मोहेन मलिनो जीवः	१०७

य

य एव कुरुते कर्म	१०२
यः करोति परद्रव्ये	२६
यः कर्म मन्यतेऽकर्मा	२१५
यः पुण्यपापयोर्मूढो	७७
यः षडावश्यकं योगी	११२
यः स्वशक्तिमनाच्छाद्य	१८०
यतः समेऽप्यनुष्ठाने	१८८
यतः संपद्यते पुण्यं	७६
यत्पञ्चाभ्यन्तरैः पापैः	१२७
यत्र प्रतीयमानेऽपि	६०
यत्र लोकद्वयापेक्षा	१७४
यत्रासत्यखिलं ध्वान्त-	२१०
यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे	१०९
यत्सर्वाथर्वरिष्टं यत्	२२
यत्सुखं सुरराजानं	७६
यथा कुम्भमयो जातु	२१४
यथा चन्द्रे स्थिता कान्ति-	१९९
यथा वस्तु तथा ज्ञानं	११
यथावस्तु परिज्ञानं	८८
यथेहामयमुक्तस्य	२०२
यथोदकेन वस्त्रस्य	१८७
यदात्मीयमनात्मीयं	७२
यदाप्रतिपरीणामं	२१२
यदास्ति कलुषाभावो	२०९
यदि चेतयितुः सन्ति	३३
यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं	१६
यद्युपादानभावेन	५४
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं	११४
यश्चरत्यात्मनात्मान-	२८
यस्य रागोऽणुमात्रेण	३०
यस्यैहलौकिकी नास्ति	१७९

या 'जीवयामि जीव्येहं'	८३
युज्यते रजसा नात्मा	२१३
येन येनैव भावेन	२१३
येन रत्नत्रयं साधो-	१७८
येनार्थो ज्ञायते तेन	१२९
ये मूढा लिप्सवो मोक्षं	३१
योगसारमिदमेकमानसः	२२६
योगी षट्स्वपि कायेषु	१७०
योगेन ये समायान्ति	५१
यो जीवाजीवयोर्वेत्ति	५
योज्यमानो यथा मन्त्रो	१४७
योऽन्यत्र वीक्षते देवं	१२३
यो विहायात्मनो रूपं	३०
यो व्यावहारिको व्यंगो	१७९
यो व्यावहारिकः पन्थाः	१९४
योगपद्येन जायेते	९

र-ल

रत्नत्रयमयं ध्यानं	११८
रत्नत्रयमयं शुद्धं	११०
रत्नत्रये स्वयं जीवः	१०६
रागतो द्वेषतो भावं	७५
रागद्वेषद्वयालीढः	८१
रागद्वेषनिवृत्तस्य	२१९
रागद्वेषप्रपञ्चभ्रममदमदन	१९६
राग-द्वेष-मद-क्रोध-	३३
रागद्वेषापराधीनं	२४
रागमत्सरविद्वेष-	७४
रागादयः परीणामाः	२०८
रागिणः सर्वदा दोषाः	२२०
रागीभोगमभुञ्जानो	२१८
रोधस्तत्र कषायाणां	९६
लोका संख्येयभागादा-	४५

व

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-	३२
वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-	९८
वस्त्वन्वया परिच्छेदो	१०
वादानां प्रतिवादानां	१४६
विकारानिविकारत्वं-	२०६

पद्यानुक्रमणिका

२३३

विकाराः सन्ति ये केचिद्	६२	शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं	१०१	सांसारिकं सुखं सर्वं	७७
विकारं नीयमानोऽपि	९२	शरीर-योगतः सन्ति	३३	सुखासुख-विधानेन	९४
त्रिचित्रा देशना तत्र	१९३	शशांकामलसम्यक्त्वाः	१७७	सुगतिं दुर्गतिं प्राप्तः	९०
त्रिचित्रे चरणाचारे	१२१	शान्तस्तपःक्षमोऽकृतसो	१७७	सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैर्लोकः	४९
विज्ञातव्यं परद्रव्य-	१२७	शुद्धज्ञाने मनो नित्यं	२०३	सूक्ष्मः शान्तः परः क्षीणो	५७
विज्ञाय दीपतो द्योत्यं	२२२	शुद्धरत्नत्रयो योगी	१६०	सूत्रोक्तमिति गृह्णानश्	१७२
विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं	१०१	शुभाशुभ-परद्रव्य-	१०८	सोपयोगमनारम्भं	१५६
विज्ञायेति निराकृत्य	११३	शुभाशुभविकल्पेन	१२२	संज्ञानादिरुपायो यो	१६७
विदधाति परो जीवः	१०२	शुभाशुभविशुद्धेषु	११९	सन्तमर्थमसन्तं च	१९
विदधानः परीणामं	८२	शुभाशुभस्य भावस्य	६८	सन्ति रागादयो यस्य	९१
विदन्ति दुषियो वेद्यं	१३०	शुभाशुभोपयोगेन	६५	सन्त्यसंमोहहेतूनि	९०
विनिवृत्त्यर्थतश्चित्तं	२१६	शुष्काशुष्का यथा वृक्षा	११६	संयमो हन्यते येन	१७४
विपत्सखी यथा लक्ष्मी-	२०४	शैथिल्यमार्तवं चेत-	१७६	संयमो हीयते येन	१८४
विभक्तचेतनध्यान-	१४७	श्रित्वा जीवपरीणामं	६९	संवरेण विना साधो-	११७
विभावसोरिवोष्णत्वं	१३८	श्वभ्रतिर्यङ्गनरस्वर्गि-	७६	संसारः पुत्रदारादिः	१५१
विभिन्ने सति दुर्भेद	१३६	स		संसारवर्तिनोऽभ्योन्य-	४६
विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा	१४३	स चित्ताचित्तमिश्राणां	८१	संसारी कर्मणा युक्तो	१४४
विमुक्तो निर्वृतः सिद्धाः	१९२	स चित्ताचित्तयोर्यावद्	६६	स्कन्धच्छेदे पल्लवाः सन्ति-	
विमुच्य विविधारम्भं	१५६	स तिष्ठति भयोद्विग्नो	२०४	भूयो	२२२
विमूढो नूनमक्षार्थ-	२१८	समस्तारम्भहीनोऽपि	८२	स्कन्धो देशः प्रदेशोऽणु	४८
विविक्तमव्ययं सिद्धं	३	सम्यक्त्वज्ञानचारित्र-	२७	स्थापनं चालनं रक्षां	१७२
विविक्तमान्तरज्योति-	२०७	सरागो बध्यते पापैः	८६	स्थावराः कामणाः सन्ति	२०८
विविक्तमिति चेतनं	१५४	सरागं जीवमाश्रित्य	५५	स्पृश्यते शोध्यते नात्मा	१२६
विविक्तात्मपरिज्ञानं	२००	सर्वजन्मविकाराणां	२०२	स्वकीयगुणकर्तृत्वं	७३
त्रिविधाः पुद्गलाः स्कन्धाः	५२	सर्वज्ञेन यतो दृष्टो	१९३	स्वतत्त्वरक्तये नित्यं	१२७
विविधं बहुधा बन्धं	१४३	सर्वज्ञः सर्वदर्शी च	१४०	स्वतीर्थममलं हित्वा	१२४
विशुद्धदर्शनज्ञान-	९७	सर्वत्र प्राप्यते पापैः	१२४	स्वदेहोऽपि न मे यस्य	१००
विषयसुखतो व्यावृत्त्य	९५	सर्वत्र यः सदोदास्ते	२१९	स्वयमात्मा परं द्रव्यं	१०६
विषयानुभवं बाह्यं	२२०	सर्वथा ज्ञायते तस्य	१९७	स्वरूपमात्मनो भाव्यं	१२६
विषयैर्विषयस्थोऽपि	२१५	सर्वव्यापारहीनोऽपि	८२	स्वरूपमात्मनः सूक्ष्मं	२२२
विषयं पञ्चधा ज्ञानी	२१८	सर्वे भावाः स्वभावेन	२११	स्वसंविदितमत्यक्ष-	२९
विषादः प्रमदो मूर्च्छा	१७५	सर्वेषु यदि न ज्ञानं	२०	स्वात्मानमिच्छुभिर्ज्ञातुं	१२५
वेद्यायुर्नामगोत्राणि	१४०	सर्वं परवशं दुःखं	२००	स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि	
		सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति	१०८	विषयेषु	२१७
श		सहकारितया द्रव्य-	८४	स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि	
शक्यो नेतुं सुखं दुःखं	९८	साक्षादतीन्द्रियानर्थान्	१३७	निरुद्ध-	२१७
शक्यन्ते न गुणाः कर्तुं	१००	साधुर्यतोऽङ्गिघातेऽपि	१७१	ह	
शत्रवः पितरौ दाराः	९९	साधूनामागमश्चक्षु-	१२१	हित्वा लोकोत्तराचारं	१२०
शरीरमात्मनो भिन्नं	११४	सामान्यवद्विशेषाणां	१४०	हिसत्त्वं वितथं स्तेयं	२५
शरीरं न स गृह्णाति	१४२	सामायिके स्तवे भक्त्या	१०९	हिसने वितथे स्तेये	७५

२. भाष्यमें उपयुक्त सहायक-ग्रन्थ-सूची

अध्यात्म-रहस्य	(पं० आशाशर)	बृहद् द्रव्यसंग्रह	(नेमिचन्द्र मुनि)
अष्टशती	(अकलंकदेव)	भगवती आराधना	(शिवार्य)
अष्टसहस्री	(त्रिद्यानन्द स्वामी)	मूलाचार	(वट्टकेराचार्य)
आराधनासार	(देवसेनाचार्य)	मूलाचार-टीका	(बसुनन्दाचार्य)
इष्टोपदेश	(पूज्यपादस्वामी)	यशस्ति लक	(सोमदेव सूरि)
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	(स्वामी कार्तिकेय)	योगशास्त्र	(हेमचन्द्राचार्य)
गोम्मतसार-कर्मकाण्ड	(नेमिचन्द्र सि० च०)	योगसारप्राभृत	(अमितगति योगिराज)
गोम्मतसार-जीवकाण्ड	(नेमिचन्द्र सि० च०)	रणसार	(कुन्दकुन्दाचार्य)
छहठाला	(पं० दौलतराम)	राजवार्तिक	(अकलंकदेव)
ज्ञानार्णव	(शुभचन्द्राचार्य)	लघुद्रव्यसंग्रह	(नेमिचन्द्र मुनि)
तत्त्वानुशासन	(रामसेनाचार्य)	लब्धिसार-टीका	(नेमिचन्द्र द्वितीय)
तत्त्वार्थसार	(अमृतचन्द्राचार्य)	विषापहार स्तोत्र	(कवि धनंजय)
तत्त्वार्थसूत्र, मोक्षशास्त्र	(उमास्वाति-मी)	श्लोकवार्तिक	(त्रिद्यानन्द स्वामी)
दंसणपाहुड	(कुन्दकुन्दाचार्य)	सज्जन चित्तवल्लभ	(मल्लिषेगाचार्य)
देवागम, आप्तमीमांसा	(स्वामी समन्तभद्र)	समयसार	(कुन्दकुन्दाचार्य)
नियमसार	(कुन्दकुन्दाचार्य)	समयसार कलश	(अमृतचन्द्राचार्य)
पञ्चाध्यायी	(कवि राजमल्ल)	समाधितंत्र	(पूज्यपादाचार्य)
पञ्चास्तिकाय	(कुन्दकुन्दाचार्य)	समीचीन-धर्मशास्त्र	(समन्तभद्राचार्य)
पञ्चास्तिकाय-टीका	(अमृतचन्द्राचार्य)	सर्वार्थसिद्धि	(पूज्यपादाचार्य)
परमात्मप्रकाश	(योगीन्दुदेव)	सामायिक पाठ	
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	(अमृतचन्द्राचार्य)	सिद्धभक्ति	(पूज्यपादाचार्य)
प्रवचनसार	(कुन्दकुन्दाचार्य)	सुत्तपाहुड	(कुन्दकुन्दाचार्य)
प्रवचनसार-टीका	(अमृतचन्द्राचार्य)	स्वयम्भूस्तोत्र	(स्वामी समन्तभद्र)
प्रवचनसार-टीका	(जयसेनाचार्य)		